राजनय के सिद्धान्त

(Theory & Practice of Diplomacy)



डॉ हरिश्चन्द्र शर्मा

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त भारत में लोक प्रशासन प्राचीन भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक विचार एव सस्थाए अन्तर्राष्ट्रीय कानून भारत मे स्थानीय प्रशासन आदि पुस्तकों के रचयिता

एव

शशी के जैन



कालेज बुक डिपो, जयपुर

Published by College Book Depot B3 Tripolia Jaipur 2

Type-Setting at Printograph Jaipur

नये संस्करण की भूमिका

साधारण बोलचाल की भाषा में 'राजनय' (Diplomacy) शब्द का प्रयोग छल कपट चातुर्य एवं असत्य व्यवहार के लिए किया जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी राजनय को प्रारम्भ में इसी अर्थ में समझा जाता था । कुछ विचारकों की मान्यतानुसार राजनयज्ञ एक राज्य का ऐसा प्रतिनिधि होता है जो विदेशों में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है । भारतीय राजनीतिज्ञ कौटिल्य के मतानुसार राजनयज्ञ को षट्मुखी नीति द्वारा राज्य के लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए इस नीति के अंग हैं—शान्ति युद्ध तटस्थता युद्ध तत्परता सन्धि और शत्रुओं में फूट डालना । इस दृष्टि से राजनय किसी आदर्श को लक्ष्य मानकर नहीं चलता वरन् राज्य के लिए वास्तविक सफलता प्राप्त करना ही उसका मुख्य लक्ष्य है । आज भी राजनय का लक्ष्य राज्य के राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि है यद्यपि आज राजनय के तरीके प्रक्रिया एवं भाषा में परिवर्तन आ गया है । राज्यों में ज्यों ज्यों पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जा रही है त्यों त्यों राजनयिक आचरण भी विशेष आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है ।

राजनय के सिद्धान्त का यह नवीन संशोधित परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष हर्ष है । इसमें राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों को पूर्वापेक्षा अधिक समृद्ध बनाया गया है । लगभग प्रत्येक अध्याय को संशोधित परिवर्द्धित करते हुए राजनय की नवीन प्रवृत्तियों के प्रकाश में अद्यतन बनाने की चेष्टा की गई है । राजनय और महाशक्तियाँ, राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्ध और शान्ति के दौरान राजनय, कुछ महान् राजनयज्ञ आदि पर नए अध्याय जोड़े गए हैं । इसमें नरसिंहराव सरकार के राजनय तक को भी जोड़ा गया है । सोवियत संघ के पतन पश्चिमी एशिया के समाधान के लिए आयोजित मैड्रिड और वाशिंगटन सम्मेलन भी इसमें शामिल किये गये हैं । आशा है अपने नए स्वरूप में यह संस्करण विषय मे रुचिशील पाठकों के लिए पहले की तुलना में अधिक उपादेय सिद्ध होगा ।

सुधार हेतु सुझाव सहर्ष आमन्त्रित है । जिन कृतियों और स्रोतों से पुस्तक के प्रणयन में सहायता ली गई है उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं ।

लेखकद्वय

अनुक्रमणिका

Suggested Readings

1	Adair, E R	The Extra-territoriality of Ambassadors in the 16th and 17th centuries
2	Beaulac, Willard L	Career Ambassador
3	Bemis, Samuel Flagg, ed	The American Secretaries of State and their Diplomacy
4	Fraser, Mrs Hugh	A Diplomat's Wife
5	Dodd Mortha	Through Ambassy Eyes
6	Heatly, D P	Diplomacy and the Study of International Relations
7	David Jayne Hill	History of Diplomacy in the Development of Europe, 3 Vols
8	Hudson and Feller	Diplomatic Laws and Regulations
9	Kelly and Dot	Dancing Diplomats
10	Knatchbull Hugessen, Sir Hughe	Diplomat in Peace and War
11	Stewort, Irwin	Consular Privileges and Immunities
12	Vare Daniele	The Laughing Diplomat
13	Waddington, Marry King	Letters of a Diplomat's Wife
14	Young, George	Diplomacy Old and New
15	Akzin, Benjamin	Propaganda by Diplomats
16	Aldrige, James	The Diplomat
17	American Assembly	The Representation of the United States Abroad
18	Barchard, Edwin M	The Diplomatic Protection of Citizens Abroad
19	Childs James Reuben	American Foreign Service
20	Crosswell Carol M	Protection of International Personnel Abroad
21	Hankey, Lord Maurice P	Diplomacy by Conference
22	Huddleston, Sisley	Popular Diplomacy and War
23	Mayor, Arno J	Political Origins of the New Diplomacy
24	Numelin, Ragnar, J	The Beginnings of Diplomacy
25	Ronsonby, Arthur	Democracy and Diplomacy A Plea for Popular Control of Foreign Policy

26	Satow Sir Ernest	A Guide to Diplomatic Practices
27	Stuart, Graham, H	American Diplomatic and Consular Practice
28	Wriston, Henry M	Diplomacy in Democracy
29	Harold Nicolson	Diplomacy
30	Harold Nicolson	Evolution of Diplomatic Methods
31	*Krishna Murty*	*Dynamics of Diplomacy*
32	Hayter	Diplomacy of the Great Powers
33	K. M Pannikar	Principles and Practice of Diplomacy
34	*Thayer*	*Diplomat*
35	Regalla	Trends in Diplomatic Practice
36	Kennedy, A.L	Diplomacy—Old and New
37	I P Singh	Diplommetry

1

राजनय का जन्म, स्वरूप, विकास, लक्ष्य एवं कार्य

(Origin, Nature, Development, Objectives and Functions of Diplomacy)

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। प्रत्येक राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे कार्य न करे जिनसे विश्व शान्ति भंग होने की आशंका हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि विश्व के देश परस्पर सहयोग और सद्भाव के साथ अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्वाह इस ढंग से करें कि संघर्ष और युद्ध के अवसर उपस्थित न हों। उनके आपसी विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से हो। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए जिस पद्धति का आश्रय लिया जाता है उसे ही हम राजनय अथवा 'कूटनीति' (Diplomacy) की संज्ञा देते हैं।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण ताना बाना 'राजनयिक व्यवहार और सम्बन्धों पर आश्रित है। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार राजनयिक व्यवहार का प्रमुख उद्देश्य अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके एक राज्य के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि करना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य अपने राजनयज्ञ (Diplomat) अन्य राज्यों को भेजता है। ये राजनयज्ञ अपने कुशल, बुद्धिपूर्ण एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार द्वारा स्वागतकर्ता राज्य की जनता और सरकार का दिल जीतने का प्रयास करते हैं। राजनय अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विभिन्न सदस्य राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध जोड़ने का एक सूत्र है। इसके द्वारा अनेक सम्भावित अवसरों पर युद्ध रोका जाता है तथा राज्यों के आपसी विवादों को शक्ति प्रयोग के स्थान पर समझौते एवं बातचीत द्वारा हल किया जाता है।

मार्गेन्थो ने राजनयज्ञ को 'राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क' (Brain of National Power) माना है और 'राष्ट्रीय मनोबल या हौसले को उसकी आत्मा' (National morale is its soul) की संज्ञा दी है। उन्हीं के शब्दों में "इतिहास में प्रायः बुद्धि तथा आत्मा से रहित 'गोलियाथ' 'डेविड' द्वारा मारा गया है जिसके पास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी का राजनयज्ञ विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधनों का राष्ट्रीय शक्ति के प्राप्य साधनों से सामंजस्य स्थापित कर देगा। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगा और उन्हें स्थायी रूप से राजनीतिक सत्यताओं में परिणत कर देगा। राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान कर यह अन्य तत्वों जैसे औद्योगिक सम्भावनाओं, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय हौसले का प्रभाव बढ़ा देगा। यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप

से विदित हों तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सदुपयोग कर सामान्यतया किन्तु युद्ध के समय विशेष रूप से उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।" इस तरह से राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि में राजनयज्ञ की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है।

राजनय का अर्थ एवं स्वरूप
(The Meaning and Nature of Diplomacy)

लेखकों एवं राजनयज्ञों ने राजनय सम्बन्धी विषय पर प्रचुर साहित्य की रचना की है। प्रारम्भ में इसे एक गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण व्यवसाय माना जाता था तथा राजनयज्ञ ऐसे लोग समझे जाते थे जो ऊपरी चमक-दमक के पीछे खतरनाक षड्यन्त्रों का आयोजन किया करते थे। आज वे केवल नागरिक सेवा की विशेष शाखा के सदस्य मात्र हैं। यद्यपि राजदूतों एवं मन्त्रियों को दूसरे राज्य में अपने पूर्ववर्तियों की भाँति सम्मान विशेषाधिकार, उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं किन्तु उनका अतीतकालीन राजसी ठाट-बाट और विलासितापूर्ण जीवन अब केवल इतिहास के पृष्ठों तक ही सीमित रह गया है। राजनयज्ञों के व्यवहार के विभिन्न पहलुओं ने राजनय के अर्थ में भी अनेकरूपता ला दी है। एक सक्रिय व्यवसाय होने के नाते 'राजनय' शब्द का अनेक बार गलत प्रयोग भी किया जाता है। कभी इसे एक नीति के रूप मे लिया जाता है और कभी इसे सन्धि वार्ता के सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

रा_।य का शाब्दिक अर्थ (Meaning of the word 'Diplomacy')

हिन्दी का 'राजनय' शब्द अंग्रेजी के 'डिप्लोमेसी' (Diplomacy) का समानार्थी है। 'डिप्लोमेसी' शब्द का प्रयोग आज से लगभग 196 वर्ष पूर्व होने लगा था। सर्वप्रथम 1796 ई. में एडमण्ड बर्क ने इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त किया। 'डिप्लोमेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'डिप्लाउन' (Diploun) शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोड़ना अथवा दोहरा करना (To Fold) होता है। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति-पत्र आदि दोहरे करके सी दिए जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति-पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे इनको 'डिप्लोमा' (Diploma) कहा जाता था। धीरे-धीरे 'डिप्लोमा' शब्द का प्रयोग सभी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। विदेशियों के विशेषाधिकार अथवा उन्मुक्ति एवं विदेशी सन्धियों सम्बन्धी कागजात को भी 'डिप्लोमा' की संज्ञा दी जाने लगी। जब इन सन्धियों एवं समझौतों की संख्या अधिक हो गई तो इनको सुरक्षित स्थानों पर रखा जाने लगा। ये स्थान बाद में राजकीय अभिलेखागारों के नाम से जाने गए। राज्याभिलेखागारों के डिप्लोमाज की संख्या बढ़ने पर उनको छाँटकर अलग करके और उनकी देखभाल रखने के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त किए जाने लगे। इन कर्मचारियों का कार्य राजनयिक कृत्य (Diplomatic Business) कहलाया। धीरे-धीरे इस कार्य-व्यापार के लिए 'डिप्लोमेसी' शब्द प्रयुक्त होने लगे। राज्याभिलेखागारों का कार्य अलग हो गया। आज भी इस कार्य के लिए अंग्रेजी भाषा में 'डिप्लोमेटिक' शब्द ही प्रचलित है।

परिभाषाएँ एवं स्वरूप (Definitions and Nature)

'राजनय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान हैरल्ड निकोल्सन (Harold Nicolson) के अनुसार ये अर्थ एक-दूसरे से पर्याप्त मिलते

हैं। कभी इसका प्रयोग विदेश नीति के समानार्थक के रूप में किया जाता है। कभी इस शब्द द्वारा सन्धि वार्ता को इंगित किया जाता है। राजनय सन्धि वार्ता की प्रक्रिया एवं यन्त्र को भी इंगित करता है। कभी कभी विदेशी सेवा की एक शाखा को 'राजनय' कह दिया जाता है।[1] एक अन्य अर्थ में 'राजनय' को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता करने का अमूर्त गुण या कुशलता माना जाता है। राजनय का सबसे अच्छा रूप वार्ता का और सबसे बुरा रूप छल छद्म का है।

इस प्रकार 'राजनय' एक अनेकार्थक शब्द है। इसके अर्थों एवं प्रयोगों की भिन्नता एवं आपसी विरोध अनेक बार पाठक को भ्रम में डाल देता है। सम्भवतः राजनीतिशास्त्र की अन्य कोई शाखा इतना भ्रम उत्पन्न नहीं करती है। हेरल्ड निकल्सन द्वारा वर्णित राजनय के उक्त अर्थों के सम्बन्ध में आर्गेन्स्की (Organski) ने लिखा है कि कुशलता, चतुराई एवं कपट एक अच्छे राजनय के लक्षण हो सकते हैं किन्तु इन्हें राजनय को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं माना जा सकता। राजनय विदेशी नीति के समकक्ष भी नहीं है। यह विदेशी नीति का ऐसा अंग है जो उसकी रचना और क्रियान्विति में सक्रिय योगदान करता है। आर्गेन्स्की ने राजनय की यह परिभाषा दी है—"राजनय दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करती है।"[2]

मैक्लेलन तथा अन्य के कथनानुसार "राजनय की मूलभूत परिभाषा के अनुसार यह राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है जो प्रत्येक अन्य राज्य की राजधानी में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधित्व पर आधारित है।"[3] चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया में विलियम वारटन मेडलीकाट ने राजनय विषयक लेख में बताया है कि "नित्य प्रति की भाषा में राजनय मानवीय कार्यों के चातुर्यपूर्ण संचालन को कहते हैं। अपने विशिष्टार्थ में यह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का सन्धि वार्ता द्वारा संचालन है।"[4] वेबस्टर्स न्यू इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार राजनय का अर्थ है—"राष्ट्रों के मध्य सन्धि वार्ता संचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे व्यवहार में कौशल या पटुता का प्रयोग।"[5] ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार "सन्धि वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था राजनय है। यह वह पद्धति है जिस के द्वारा राजदूत एवं दूतों द्वारा सम्बन्धों की व्यवस्था करते हैं। यह राजनयिक कार्य अथवा कौशल है।"[6] यह परिभाषा संक्षिप्त किन्तु व्यापक है। निकल्सन ने राजनय को विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पृथक रखा है।

1 *Nicolson H Diplomacy pp 13 14*
2 *"To put the definition down completely Diplomacy refers to the process of negotiation carried on between the official governmental representatives of one nation and those of other (or others)"* —*A F K Organski*
3 "The most basic definition of diplomacy is that it is a form of contact between nations based on permanent representation of each state in the capital city of each other states" —*Mclellan and Others*
4 Chamber s Encyclopaedia (New Edition) Vol IV
5 Webster s New English Dictionary (1928)
6 "Diplomacy is the management of international relations be negotiation the method by which these relations are adjusted and managed by ambassadors and envoys the business or art of the diplomatist" —*Oxford English Dictionary*

प्रो. क्विंसी राइट (Prof Quincy Wright) ने राजनय को दो रूपों में परिभाषित किया है—लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में राजनय का अर्थ है—"किसी सन्धि-वार्ता या आदान-प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धि-वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सके।"[1] इस परिभाषा की उल्लेखनीय बात यह है कि लोकप्रिय अर्थ में राजनय को ऐसी सन्धि-वार्ता माना गया है जो दबाव पर नहीं वरन् समझाने-बुझाने पर आधारित रहती है। इसके विशेष अर्थ में राजनयज्ञों को राष्ट्रीय हित के प्रति निष्ठावान माना गया है। राजनीतिशास्त्र में राजनय का लोकप्रिय अर्थ लागू नहीं होता।

राबर्टो रेगेला (Roberto Regala) के मतानुसार 'राजनय' शब्द का पर्याप्त दुरुपयोग हुआ है। असल में राजनय एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अनेक क्रियाएँ शामिल हो जाती हैं। यह दुनिया के ऐसे कुछ व्यवसायों में से एक है जिसकी परिधि में मानवीय क्रिया की प्रत्येक शाखा शामिल हो जाती है। इसका सम्बन्ध शक्ति राजनीति (Power Politics), आर्थिक शक्ति एवं विचारधाराओं के संघर्ष से है।[2] राजनय की मानक परिभाषा सर अर्नेस्ट सैटो द्वारा दी गई है। उनके मतानुसार "राजनय स्वतन्त्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।"[3]

इस सम्बन्ध में पामर तथा परकिंस ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि यदि राज्यों के आपसी सम्बन्धों में बुद्धि और चातुर्य का अभाव है तो क्या राजनय असम्भव होगा।[4]

स्पष्ट है कि राजनय दो अथवा दो से अधिक स्वतन्त्र राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्ध है, तदनुसार प्रत्येक राज्य बुद्धि, कौशल एवं चातुर्य का प्रयोग करता है। इसके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अधिकतम अभिवृद्धि करने का प्रयास करता है। के.एम. पणिक्कर के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।"[5] पेडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, "राजनय को प्रतिनिधित्व एवं सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क रखते हैं।"[6] जॉर्ज एफ. केनन का कहना है कि तकनीकी अर्थ में राजनय की व्यवस्था सरकारों के बीच सम्पर्क के रूप में की जा सकती [illegible]।

राजनय की उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ राजनय का अर्थ भी बदलता रहता है। अनेक

1 "Diplomacy in the popular sense means the employment of tact, shrewdness and skill in any negotiation or transaction. In the more special sense used in international relations it is the art of negotiation in order to achieve the maximum of group objectives with a minimum of costs." —*Quincy Wright*

2 *Roberto Regala* The Trend in Modern Diplomatic Practice, 1959, p. 24

3 "Diplomacy is the application of intelligence and tact to the conduct of official relations between the Government of independent States..." —*Sir Ernest Satow* Guide to Diplomatic Practice, [illegible] 1

4 *Palmer and Perkins* International Relations p 97

5 "Diplomacy, used in relation to international politics, is the art of forwarding one's interests in relation to other countries." —*K M Panikkar*

6. "Diplomacy can be defined as the process of representation and negotiation by which states customarily deal with one another in time of peace." —*Padelford and Lincoln*

लेखकों ने राजनय को केवल एक व्यवसाय (Profession) ही नहीं वरन् एक कला (Art) भी माना है। अधिकाँश सरकारें अपने हितों की प्राप्ति एव अभिवृद्धि के लिए इसे अपनाने लगी है। यह धीरे धीरे शान्ति का एक प्रभावशाली साधन बनता जा रहा है।

राजनय को कुछ लोग एक रहस्यपूर्ण व्यवसाय मानते हैं यह सही नहीं है। एक राजनयज्ञ के ही शब्दों में—"असल में राजनय एक श्रमसाध्य व्यवसाय है। यह जादू अथवा रहस्य से परे है। इसे किसी भी अन्य सरकारी कार्य की भाँति एक गम्भीर व्यवसाय के रूप में देखा जा सकता है।"[1] प्रो पामर तथा परकिंस ने राजनय की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है।

(क) राजनय एक मशीन की भाँति अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है। इसका मूल्य इसे प्रयोग करने वाले अभिप्रायों व योग्यताओं पर निर्भर करता है।

(ख) राजनय का सचालन विदेशी कार्यालयों दूतावासों दूतकर्मों वाणिज्य दूतों एव विश्वव्यापी विशेष मिशनों के माध्यम से किया जाता है।

(ग) राजनय मूल रूप से द्विपक्षीय होता है। यह राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है।

(घ) आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों क्षेत्रीय प्रबन्धों एव सामूहिक सुरक्षा प्रयासों के बढ जाने के कारण राजनय के बहुपक्षीय रूप का महत्व बढ गया है।

(ङ) राजनय राष्ट्रों के बीच साधारण मामलों से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े बड़े सभी मामलों पर विचार करता है। जब यह सम्बन्ध टूट जाता है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े सकट का खतरा पैदा हो जाता है।

क्या राजनय का अर्थ धोखा है ?

राजनय में गोपनीयता निहित तथापि यह धारणा भ्रामक है कि राजनय का अर्थ धोखा है। इस सम्बन्ध में रोचक उदाहरणों के साथ डॉ एम पी राय ने स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है[2]—

सत्रहवीं शताब्दी के ब्रिटिश राजदूत ड्यूक ऑफ बकिंघम सर हेनरी वाटन ने आग्सबर्ग (जर्मनी) में क्रिस्टोफर फ्लेकमोर द्वारा प्रार्थना करने पर मजाक में लिखे गए इन शब्दों में राजदूत का अर्थ बताया था कि "राजदूत एक सत्यवादी मनुष्य है जिसे देश के हित के लिए विदेश में असत्य बोलने को भेजा जाता है।"[3] हालाँकि इसी व्यक्ति (सर हेनरी वाटन) ने बाद में इटन के अध्यक्ष के रूप में अपने एक मित्र राजदूत को वार्ता की सफलता के लिए परामर्श देते हुए कहा था कि अपनी सुरक्षा तथा अपने देश की सेवा के लिए "हर समय और हर परिस्थिति में सत्य बोलना चाहिए।"[4] राजदूत असत्य भाषण अपने देश के हित के लिए करता है। रिसले हड़ लेस्टन ने सर हेनरी वाटन की परिभाषा को दोहराते हुए यह कहा था कि सत्रहवीं शताब्दी में राजदूत अपने देश के हित के लिए झूठ बोलता था परन्तु आधुनिक अमेरिकी राजदूत दूसरे देशों के हित में झूठ बोलता है।[5] जेम्स प्रथम ने

1 *Hugh Gibson* The Road to Foreign Policy 1944 31
2 डॉ एम पी राय राजनय के सिद्धान्त एव व्यवहार पृष्ठ 6
3-4 *D P Heathy* Diplomacy and the Study of International Relations 8
5 *Sisley Huddleston* Popular Diplomacy and War p 29

जिसमें हास्य की भावना का अभाव था वाटन के मजाक में कहे शब्दों का बुरा माना और उसे तुरन्त ही त्यागपत्र देने को बाध्य कर दिया। इसके पश्चात् वाटन को फिर राजदूत नियुक्त नहीं किया गया। जेम्स की मान्यता थी कि किसी नाजुक स्थिति में एक झूठ बोलने वाले राजदूत का कोई सरकार कैसे विश्वास करेगी ? क्या ऐसी झूठ बोलने की स्थिति में एक राजदूत सफलतापूर्वक कार्य कर सकेगा ? मैकियावेली ने राजनय में झूठ और धोखे के प्रयोग का समर्थन किया था। उसका मत था कि "राज्य हित नैतिकता से ऊपर है।" (Raishn d'Etat is above morality)। इसने अपने दूत को निर्देश दिए थे कि "यदि वे झूठ बोलते हैं तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम उससे अधिक झूठ बोलो।"[1] स्टालिन, मैकियावेली का योग्य शिष्य था। वह भी राजदूत द्वारा झूठ और छल कपट के प्रयोग को स्वीकार करता था।[2]

कैलीयर्स का मत इसके विपरीत है। वह इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि राजनय का अर्थ धोखा है। कैलीयर्स के शब्दों में "राजनय में धोखे-धड़ी का उपयोग वास्तव में सीमित रूप से ही सम्भव है क्योंकि प्रकाश में आए झूठ के समान कोई भी अभिशाप अधिक आत्म-ग्लानिकारक नहीं है। दर्जी को इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है क्योंकि चाहे तात्कालिक रूप से इससे सफलता भले ही मिल जाए, किन्तु अन्ततोगत्वा इससे सन्देह का वातावरण बन जाता है जो भावी सफलता को असम्भव बना देता है।"[3] यह एक कटु सत्य है कि जो सम्बन्ध अविश्वास से परिपूर्ण होते हैं, वे अपना मूल्य खो देते हैं। एक योग्य, सफल एवं आदर्श राजदूत का सर्वोच्च गुण ईमानदारी और सच्चाई है। राजनय का आधार सत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रामाणिक ही होने चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजनय राज्यों के मध्य सम्बन्धों को बनाए रखने की एक कला है। इसी के माध्यम से राज्य अपने आपसी सरकारी कार्यों की पूर्ति तथा शान्तिपूर्ण साधनों का उपयोग कर अपने मतभेदों को दूर करते हैं। इन सब कार्यों के लिए राज्य वार्ता, सम्मेलन, मध्यस्थता मेल-मिलाप आदि का उपयोग करते हैं। राजनय स्वयं में एक परिपक्व तकनीक तथा एक ऐसा साधन है जिसकी सहायता से दूसरी तकनीकियों को काम में लिया जाता है। एक राज्य राजनयिक युक्तियों (Diplomatic maneuvering) के माध्यम से दूसरे राज्य की राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, यहाँ तक कि सैनिक कार्यवाहियों में सहायक अथवा विरोधी हो सकता है। इस प्रकार राजनय वह अस्त्र है जिसकी सहायता से न केवल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान निकाला जाता है वरन् राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि भी की जाती है।[4]

राजनय और विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(Diplomacy & Foreign Policy & International Law)

राजनय का स्वरूप समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विज्ञान आदि से उसके सम्बन्ध तथा अन्तर का अध्ययन करें। राजनय

1 *Harold Nicholson* The Evaluation of Diplomatic Method, p. 29
2 *Norman D. Palmer & Howard C. Perkins* International Relations The World Community in Transition, p. 8
3 *Nicholson* Op. cit., p. 62-63
4 डॉ. एन. पी. राय वही, पृ. 8.

और विदेश नीति पर अध्याय 13 और राजनय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर अध्याय 7 मे पृथक से विचार किया गया है अत यहाँ साँकेतिक विवेचना पर्याप्त होगी।

अनेक विचारक और लेखक मनमाने रूप से 'राजनय' शब्द का प्रयोग विदेश नीति बनाने और क्रियान्वित करने के लिए करते हैं जो अनुचित है। विदेश नीति और राजनय राष्ट्र की बाह्य व्यवस्थाओं से सम्बन्धित नीति के वे पहिये हैं जिनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति चलती है लेकिन दोनों एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया और विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन मात्र है। सर विक्टर वेलेजली (Sir Victor Wellesley) के कथनानुसार "राजनय नीति नहीं है वरन् इसे क्रियान्वित करने वाला अधिकरण है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के बिना दूसरा कार्य नहीं कर सकता। राजनय का विदेश नीति से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है वरन् ये दोनों मिलकर कार्यपालिका की नीति निर्धारित करते हैं। विदेश नीति द्वारा रणनीति तय की जाती है और कूटनीति द्वारा तकनीके तय की जाती है।"[1] विदेश नीति वैदेशिक सम्बन्धों की आत्मा है और राजनय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विदेश नीति को सचालित किया जाता है। राजनयज्ञों द्वारा अपनी सरकारों की विदेश नीति के सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए जाते किन्तु वे अपने प्रतिवेदनों द्वारा इस नीति की रचना में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। विदेश नीति तय करते समय राजनयज्ञों के प्रतिवेदनों को सदैव ही मूल्यवान कच्चा माल समझा जाता है।[2] पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार "राजनय वह सेवी वर्ग और यन्त्र प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा विदेश नीति को क्रियान्वित किया जाता है। इनमें एक मूल तत्व है और दूसरा प्रणाली है।"[3]

हेरल्ड निकल्सन ने वियना काँग्रेस सम्बन्धी अपनी रचना विदेश नीति एव राजनय के मध्य स्थित सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार दोनों का सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों का अन्तर्राष्ट्रीय हितों के साथ समायोजन से है। विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की एक सामान्य धारणा पर निर्भर है। दूसरी ओर राजनय एक लक्ष्य नहीं है वरन् साधन है उद्देश्य नहीं है वरन् एक तरीका है। यह बुद्धि समझौता वार्ता एव हितों के आदान प्रदान द्वारा सम्प्रभु राज्यों के बीच सघर्ष होने से रोकता है। यह एक ऐसा अधिकरण है जिसके माध्यम से विदेश नीति युद्ध के अलावा अन्य साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करती है। राजनय शान्ति का साधन है। जब समझौता करना असम्भव बन जाता है तो राजनय निष्क्रिय बन जाती है और अकेली विदेश नीति कार्यरत रहती है।[4] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति और राजनय को समानार्थी रूप मे समझना गलत है। इन दोनों में आधारभूत अन्तर है। जहाँ विदेशनीति साध्य है राजनय उसका साधन है। लेकिन दोनों में आपस में विरोध की स्थिति नहीं है अपितु एक दूसरे के पूरक हैं।

1 *Sir Victor Wellesley* Diplomacy in Fetters p 30
2 *J Rives Childs* American Foreign Service p 9
3 *Palmer and Perkins* International Relations p. 97
4 *Harold Nicolson* The Congress of Vienna A Study in Allied Unity 1812 22 p 164

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Diplomacy and International Law)

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच महत्वपूर्ण सम्बंध है। राजनय का सम्बन्ध उन तरीकों एवं कला कौशल से है जो एक राज्य द्वारा अपनी विदेश नीति को क्रियान्वित करने तथा अपने अन्य राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए अपनाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के आपसी सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है। सैद्धान्तिक रूप से ये दोनों एक दूसरे के विपरीत है। राजनय विशुद्ध रूप से एक राज्य के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय हित से परे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था को महत्व देता है। यदि सभी राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए पूर्णत: राजनय का प्रयोग करें तो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी तथा सदैव युद्ध की आशंका बनी रहेगी। युद्ध का प्रारम्भ राजनय की असफलता की घोषणा है। इस अर्थ में राजनय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कुछ सम्मान देता है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यवस्था बनी रहे और राजनय क्रियाशील रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ मौलिक नियमों का पालन करने पर ऐसी परिस्थिति बनती है जिसमें राजनय कार्य कर सके। इस प्रकार व्यवहार में राजनय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के बीच जब पारस्परिक विश्वास पैदा किया जाता है तभी राजनय का आचरण सम्भव बनता है। राष्ट्रों के बीच आपसी विशेषाधिकार विश्वास के अभाव में युद्ध, शीत युद्ध अथवा तनाव की स्थिति बनी रहती है।

राजनयिक अधिकारियों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। अग्रता को व्यवस्था (Order of Precedence) तथा राजनयिक अधिकारियों की श्रेणियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय की जाती हैं। राजनय द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने के तरीकों एवं सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि जिस तरह से आचरण करते हैं वह राजनय का विषय है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय के साधन के रूप में भी उपयोगी है। यह राजनयिक लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए साधन प्रस्तुत करता है। राजनयज्ञों (Diplomats) के लिए सामान्य भाषा प्रक्रिया सम्बन्धी सुविधा समझाने बुझाने के तरीके विवाद तय करने तथा समझौता करने के मापदण्डों आदि की आवश्यकता रहती है जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं। इनके होने से सन्धि वार्ता सुगम बन जाती है। सन्धि वार्ता की प्रक्रिया और रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किए जाते हैं। राजनय के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

जब राजनय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने का प्रयास करती है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रकार से उसका सहायक सिद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के सभी तरीकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अनुगमन किया जाता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय का एक अत्यन्त उपयोगी साधन है। यह एक दृष्टि से राजनय का परिणाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकांश भाग सन्धियों पर आधारित है। यह राजनय द्वारा की गई संधि वार्ताओं एवं समझौता वार्ताओं (Conference Diplomacy) के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्यतः स्वीकृत नियम

बन जाते है। राजनयिक पत्र व्यवहारों एव औपचारिक घोषणाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है। स्पष्ट है कि ये दोनों एक-दूसरे के सहायक है।[1]

राजनयिक रणनीति
(Diplomatic Strategy)

प्रत्येक देश का राजनीतिक नेतृत्व अपनी सरकार की विदेश-नीति की सामान्य रूपरेखा का निर्धारण करना है। इस नीति का नियोजन करते समय इसके द्वारा राजनयिक रणनीति भी तैयार की जाती है ताकि विदेश नीति को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके। इस प्रकार एक देश की विदेश-नीति एव राजनयिक रणनीति दो भिन्न तथ्य हैं। ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। दोनों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ ए कीसिंगर (Dr A Kissinger) लिखते हैं—"शान्ति को सीधे रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह कुछ परिस्थितियों एव शक्ति-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। अत राजनय को शान्ति की अपेक्षा शक्ति-सम्बन्धों की ओर ही प्रेरित होना चाहिए।"[2] राजनय के स्वरूप का सही ज्ञान करने के लिए विदेश-नीति अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राजनयिक रणनीति से उसके सम्बन्ध की उक्त जानकारी अत्यन्त उपयोगी है। राजनय एक गत्यात्मक तत्त्व है। समय की परिस्थितियों में परिवर्तन एव नवीन विकासों के साथ-साथ इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह एक विकासशील धारणा है। विदेश नीति की सफलता में राजनयिक रणनीति की अहम भूमिका होती है।

राजनय और विज्ञान
(Diplomacy and Science)

विज्ञान और तकनीकी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राज्यशिल्प को गहराई तक प्रभावित किया है और राजनय के स्वरूप पर भी इतना प्रभाव डाला है कि उसका परम्परागत स्वरूप लगभग समाप्त सा हो गया है। विज्ञान और तकनीकी के कारण समय और दूरी समाप्त हो गए है सचार व्यवस्था में उन्नति के फलस्वरूप राजनय पर प्रजातन्त्रीय प्रभाव बढ़ा है और बहुपक्षीय राजनय अधिक प्रबल रूप से मुखर हुआ है। विज्ञान और तकनीकी ने राजनय को जिस रूप मे प्रभावित किया है और बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में राजनय और विज्ञान का जो निकट सम्पर्क आवश्यक है उसे इंगित करते हुए डॉ एम पी राय ने लिखा है[3]—

"यह निर्विवाद सत्य है कि सचार के क्रान्तिकारी विकास ने राजनय की तकनीकी मे अद्भुत परिवर्तन ला दिए हैं। राजनय की ये परिष्कृत तकनीकें विज्ञान व प्राविधिकी के समानुपात में उत्तरोत्तर परिमार्जित हो रही हैं। राजदूतों के आवागमन तथा उनके पत्राचारों में पहले महीने और साल लगते थे, परन्तु आज ये क्षणिक बन गए हैं।[4] सचार व्यवस्था के क्रान्तिकारी परिवर्तन—जैट युग तथा दूर सचार व्यवस्था के कारण निर्णय प्रक्रिया भी प्रभावित होकर केन्द्रित हो गई है। अधिकांश महत्वपूर्ण निर्णय राष्ट्राध्यक्ष विदेश मन्त्री आदि

1 *For detailed study of relationship between diplomacy and international law, see Quincy Wright* 'International Law and the United Nations 1960, p 362
2 *Dr A Kissinger* Reflections on American Diplomacy, *Foreign Affairs* Oct, 1956
3 डॉ एम पी राय वही, पृ 24
4 *Merchant Johnson Dimensions* p 121

लेते हैं प्रतिवेदनों को शीघ्र प्राप्त कर सकते है और विश्वव्यापी घटनाओं की तुरन्त सूचना प्राप्त कर देश की विदेश नीति के निर्माण में सही मार्गदर्शन दे सकते हैं। विज्ञान ने आणविक हथियारों का विकास किया है जो विश्व शान्ति के लिए घातक सिद्ध हो सकते है। ऐसी स्थिति में विश्व शांति को कायम रखने में राजनयिकों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण बन गई है।

राजनय का जन्म या उदय
(Origin of Diplomacy)

दो मानव समूहों के सम्बन्धों के व्यवस्थित आदान के रूप में 'राजनय का इतिहास' इतिहास से भी पुराना है। इसकी परम्पराएँ प्रागैतिहासिक काल के उस अन्धकारपूर्ण युग से प्रारम्भ होती हैं जिसका ज्ञान केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। 16वीं शताब्दी के सिद्धान्तवादी यह मानते थे कि देवदूत (Angels) ही प्रथम राजनयज्ञ थे क्योंकि वे देवलोक और भूलोक के बीच सदेशवाहकों का कार्य करते थे। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में उल्लिखित नारद को राजनयज्ञों का पूर्वज माना जा सकता है। इन कल्पनाओं के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य न होने के कारण ये निराधार हैं और इसलिए मान्य नहीं हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान है कि राजनय का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अकेले भटकना छोड़कर समूहों अथवा गिरोहों में मिलकर रहना प्रारम्भ किया होगा।[1] इन आदि मानव समूहों के सदस्यों को एक समय यह समझ आ गई कि यदि वे अपने शिकार की सीमाओं के सम्बन्ध में पड़ोसी समूह से समझौता कर लें तो लाभप्रद रहेगा। तत्कालीन गिरोहों के बीच आपसी विवाद और शत्रुतापूर्ण भावनाएँ भी रहती होंगी। इनके निराकरण के लिए वे यदाकदा सन्धि वार्ता या दोनों पक्षों की हितवार्ता करते होंगे। इसके लिए दूसरे समूहों की सीमा में दूत भेजने का प्रचलन हुआ होगा। शीघ्र ही ये आदि मानव समझ गए होंगे कि यदि विरोधी पक्ष के दूत को अपनी सीमा में आते ही मार दिया गया तो सन्धि वार्ता सन्तोषजनक रूप से हो ही नहीं सकती अतः यह निश्चय किया होगा कि एक दूसरे के दूतों को कोई क्षति न पहुँचाई जाए और सन्धि वार्ता तक उनकी पूर्ण रक्षा की जाए। इस प्रकार राजनयिक उन्मुक्तियों के सिद्धान्त का जन्म हुआ। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के मनु के उपदेशों में तथा होमर की कविताओं में हमें इन उन्मुक्तियों का परिचय मिलता है। रामायण में रावण ने जब रामदूत हनुमान पर क्रोधित होकर अपने अनुचरों को उनके प्राण लेने का आदेश दिया तो विभीषण ने इसे नीति विरोधी बताते हुए कहा—

नाइ सीस करि विनय बहूता।
नीति विरोध न मारिय दूता॥
आन दण्ड कछु करिअ गोसाँई।
सबहीं कहा मंत्र भल भाई॥

(रामचरित मानस, सुन्दर काण्ड 23)

1 "From the earliest days of the existence of organised states there must have been diplomacy and diplomats for states can hardly exist without relations with each other."

समय के साथ-साथ दौत्य पद के विभिन्न अधिकार बढ़ते गए। दूतों एवं सन्धिकर्ताओं को अनतिक्रम्य माना जाने लगा।

आदिकालीन समाजों में सभी विदेशियों को खतरनाक तथा दूषित माना जाता था अत अन्य समाज की सीमा में प्रवेश पाने से पूर्व उसका विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शुद्धिकरण कर दिया जाता था। ये प्रक्रियाएँ अत्यन्त विचित्र और कष्टदायक हुआ करती थीं जैसे अग्नि की लपटों में होकर निकलना या नाचना जादू टोने से शुद्धि करना आदि। इस परम्परा के अवशेष कुछ समय पूर्व तक प्राप्त होते हैं। 15वीं शताब्दी में वेनिस गणराज्य ने उन स्वदेशवासियों को मृत्यु की धमकी दी जो विदेशी दूतावासों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क रखते थे। शुद्धिक्रिया की झझटों तथा कष्टों से बचाने के लिए यूनान में दूतों का देवता हरमेस (*Hermes*) के सरक्षण में माना जाने लगा और इस प्रकार दौत्यकर्म को धर्म का चोगा पहना दिया गया। धार्मिक भावना के प्रभाव से दूत का व्यक्तित्व रक्षणीय एव अनतिक्रम्य बन गया। प्रो ओपेनहीम के कथनानुसार "पुरातन काल में भी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता नहीं था राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी तथा उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये उन्हें किसी विधि के कारण नहीं वरन् धर्म के कारण प्राप्त थे और राजदूतों को अनतिक्रम्य माना जाता था।"[1] दौत्यकर्म की प्रतिष्ठा के लिए दूतों को हरमेस देवता का सरक्षण दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ।[2] दूत को छलपूर्ण समझा जाने लगा क्योंकि हरमेस अपनी चालाकी तथा छलछद्म के लिए प्रसिद्ध था। ऐतिहासिक काल में राजनय का जन्म यूरोप में आधुनिक राज्यों के जन्म से सम्बन्ध है।[3] 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के बीच आधुनिक राष्ट्रीय-राज्यों का विकास हुआ इनके साथ-साथ राजनय भी आधुनिक अर्थ में विकसित हुआ।[4] तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यवसाय के रूप में राजनय का प्रारम्भ तथा स्थायी राजदूतों एव मन्त्रियों की नियुक्ति पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में होने लगी थी। 1815 की वियना काँग्रेस में राजनय को दूसरे व्यवसायों की भाँति एक पृथक व्यवसाय की मान्यता दे दी गई। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तो राजनय से परिपूर्ण है और विश्व स्तर पर सभी छोटे-बड़े राज्यों द्वारा विभिन्न दूतावासों मिशनों कान्सुलेटों आदि की स्थापना की जाती है। ये सस्थाएँ कुछ निश्चित नियमों रूढ़ियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों द्वारा नियन्त्रित और नियमित होती हैं।

राजनय का विकास
(Development of Diplomacy)

राजनय के दो अग हैं—राजनयिक आचार (Diplomatic Practice) तथा राजनयिक सिद्धान्त (Diplomatic Theory)। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नए राजनयिक

1 *L. Oppenheim* International Law, p 687
2 "The choice of this duty had an unfortunate effect upon the subsequent repute of the diplomatic service" —*Harold Nicolson*
3 "From the earliest days of the existence of organised states there must have been diplomacy and diplomats for states can hardly exist without relation with each other" —*K M Panikkar*
4 "Diplomacy and its origin in the period in which modern states emerged in Europe that is the period from the 16th to the 18th century" —*Roberto Regala*

आधारों से राजनयिक सिद्धान्तों का कलेवर बढ़ता है और नए राजनयिक सिद्धान्त राजनयज्ञों के आचार को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देते हैं। यहाँ हम राजनयिक सिद्धान्त के क्रमिक विकास का विवेचन करेंगे। इसके आधार का अध्ययन हमारे अगले अध्याय का विषय है।

राजनयिक सिद्धान्त का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार तथा सन्धि वार्ता के सिद्धान्तों एवं तरीकों के स्वीकृत विचार से है। राजनयिक सिद्धान्त के अतीतकालीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसके विकास की गति हमेशा प्रगति की ओर नहीं रही है। अनेक बार इसका विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह अवनति की ओर भी अग्रसर होने लगती है। प्रो. मोवेट ने यूरोपीय राजनयिक सिद्धान्त के विकास को तीन कालों में वर्गीकृत किया है—

(क) 476 से 1475 ई. तक का काल : इस काल में राजनय पूर्णतया असंगठित था।

(ख) 1476 से 1914 ई. तक का काल : इस काल में राजनयिक सिद्धान्त ने यूरोपीय राज्य व्यवस्था (State System) की नीति का अनुसरण किया। इस समय का राजनय यूरोप तक ही सीमित रहा।

(ग) 1914 से वर्तमान तक का काल : राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अपनी घोषणा में कहा था कि संसार में प्रजातन्त्र का उदय हो गया है। फलतः इस युग में विकसित राजनय को प्रजातन्त्रात्मक राजनय कहा गया।

हेरल्ड निकल्सन आदि कुछ विचारक राजनयिक सिद्धान्त के विकास को इस प्रकार कालक्रमों में विभाजित करने से सहमत नहीं हैं। वे इसके विकास को निरन्तरतापूर्ण मानते हैं। राजनयिक सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीय कानून से काफी प्रभावित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता हॉलैण्ड निवासी ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) था। इसने 1625 ई. में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'The Law of War and Peace' में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा में उन सभी आदर्शों को सम्मिलित किया जिनका पालन सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में करते हैं। इस प्रकार राजनय भी इसका अंग बन जाता है।

प्रागैतिहासिक काल में राजनयिक सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में अनुमान है कि प्रारम्भ में व्यक्ति जातिगत एवं गिरोहगत भावना से प्रभावित था। वह अपनी जाति अथवा गिरोह के हितों की सिद्धि के लिए दूसरी जाति या गिरोह के हितों का किंचित मात्र भी ध्यान नहीं रखता था। क्रमशः परिस्थितियाँ बदलने पर उसके संकीर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब वह अन्तर्जातीय एवं जनव्यापी अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने लगा। जातियों एवं गिरोहों में पारस्परिक सुरक्षा की भावना बाद में विदेश-नीति को प्रभावित करने लगी। इसी के फलस्वरूप राजनय के सिद्धान्तों का भी स्फुरण हुआ। हेरल्ड निकल्सन के कथनानुसार "राजनयिक सिद्धान्तों की प्रगति अनन्य जातिगत या वर्गगत अधिकारों की संकुचित भावना से अन्तर्निष्ट सामान्य हितों की व्यापक विचारधारा की ओर

हुई है।"[1] राजनयिक सिद्धान्त के विकास का अध्ययन निम्नलिखित कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) यूनानी काल (The Greek Period) राजनयिक सिद्धान्त के विकास में यूनान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आजकल प्रचलित सम्मेलनों का श्रीगणेश यूनानियों द्वारा किया गया। यूनानी नगर राज्य अपनी पारस्परिक समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलन किया करते थे। बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रसंघ तथा संयुक्तराष्ट्र संघ की भाँति वे पारस्परिक सम्मेलन किया करते थे। इनको एम्फिकट्यानिक (Amphictyonic) अर्थात् क्षेत्रीय परिषद् या सम्मेलन कहा जाता था।

यूनान के इन क्षेत्रीय सम्मेलनों का स्वरूप उल्लेखनीय था। उनका एक स्थायी सचिवालय होता था। इसका कार्य था पवित्र स्थानों एवं कोषों की रक्षा करना, तीर्थयात्रियों के आवागमन की सुविधाजनक व्यवस्था करना तथा विभिन्न नगर राज्यों के राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श एवं आवश्यक कार्यवाही करना। निकल्सन के कथनानुसार इनसे राजनय के क्षेत्र में एक नई पद्धति का श्रीगणेश हुआ।[2] इन सम्मेलनों को कुछ विशेषाधिकार प्रदान किए जाते थे जिनको वर्तमान भाषा में राज्य क्षेत्रातीत अधिकार अथवा राजनयिक विशेषाधिकार कहा जा सकता है। सम्मेलन के सदस्य राज्य इस बात पर सहमत होते थे कि शान्ति अथवा युद्धकाल में कोई सदस्य राज्य दूसरे सदस्य राज्य को नष्ट नहीं करेगा तथा उसके जनपूरक साधनों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालेगा। इस समझौते के विरुद्ध कार्य करने वाला राज्य शेष सदस्य राज्यों का शत्रु बन जाता था और वे सभी इसे दण्डित करने के लिए युद्ध की घोषणा कर देते थे। यूनानी इतिहास में क्षेत्रीय परिषदों की दण्डात्मक कार्यवाही के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन क्षेत्रीय परिषदों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों की धारणा को विकसित किया। अब राजनयिक सिद्धान्त क्रमशः उभरने लगा था।

यूनानी क्षेत्रीय परिषदें अन्त में असफल होकर समाप्त हो गईं। इनकी असफलता के दो कारण थे (क) ये परिषदें सर्वव्यापी नहीं थीं। अनेक महत्वपूर्ण राज्य इनके सदस्य नहीं थे। (ख) उनकी संयुक्त शक्ति इतनी नहीं थी कि वे शक्तिशाली राज्यों को अपने निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य कर पातीं। इन परिषदों की असफलता से राष्ट्रसंघ (League of Nations) के कर्णधारों ने प्रेरणा नहीं ली अन्यथा इतिहास शायद स्वयं को न दोहराता।

यूनानीकाल में राजनय की दृष्टि से एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य पंचनिर्णय (Arbitration) की व्यवस्था थी। वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के लिए इस शान्तिपूर्ण साधन को अपनाते थे। राजा आर्चिडेमस ने स्पार्टा की सभा में दिए गए अपने एक लम्बे और गम्भीर भाषण में पंच निर्णय की पद्धति अपनाने पर जोर दिया था। उसके मतानुसार जो देश पंच निर्णय के लिए तैयार हो उसे दोषी कहना विधि के विरुद्ध है।

1 "The progress of diplomatic theory has been from the narrow conception of exclusive tribal rights to the wider conception of inclusive common interests —Nicolson

2 "They also dealt with the political matters of common Hellenic interest and as such had an important diplomatic function and introduced an important diplomatic innovation —Harold Nicolson

इस प्रकार सिद्धान्त और आदर्श के रूप मे यूनानियों की कल्पना ने राजनय के विकास को आगे बढाया किन्तु तदनुसार व्यवहार न करने के कारण यह विकास अवरुद्ध हो गया। शान्तिपूर्ण सहयोग की भावनाएँ समाप्त हो गईं। उसके ऊपर आक्रामक एव भावनाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया। मैसीडोनिया के महत्वाकाँक्षी सिकन्दर महान् ने नगर-राज्यों को इतिहास की गाथा बना दिया। "सहयोग का स्थान पराधीनता ने ले लिया और स्वतन्त्रता समाप्त हो गई।"

(2) रोमन काल (The Roman Period) : हेरल्ड निकल्सन के कथनानुसार राजनयिक सिद्धान्त के क्षेत्र में रोमन लोगों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने छल और चपलता का स्थान आज्ञापालन एव सगठन को दिया तथा अराजकता की जगह शान्ति का पाठ पढाया।[1] लेकिन अन्य विचारक इस मत से सहमत नहीं हैं। सैद्धान्तिक क्षेत्र में रोमवालों की देन का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि से है राजनयिक सिद्धान्त से नहीं। रोमन साम्राज्य ने सैनिक शक्ति के आधार पर व्यवस्था अनुशासन आज्ञापालन शान्ति और सगठन की भावना स्थापित की थी। इससे राजनयिक सिद्धान्त के लिए कोई स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हो सका। इसके विपरीत साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने उस समय स्वस्थ राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति पर रोक लगा दी तथा उसे आगे नहीं बढने दिया। हैरल्ड निकल्सन ने रोमन-काल को राजनयिक सिद्धान्त के विकास में सहायक इसलिए माना है क्योंकि वे पीछे हटने को भी विकास मानते हैं।[2] सच तो यह है कि रोमवालों ने स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर विकसित होने वाले राष्ट्रीय राज्यों का दमन किया तथा उन्हें अपनी विस्तारवादी नीति में आत्मसात् कर दिया। रोमन साम्राज्य पूर्ण रूप से शक्ति पर आधारित था अत पडोसी राज्य इसकी शक्ति से निरन्तर भयभीत रहते थे। इस प्रकार रोमनकाल में राजनयिक सिद्धान्त का अधिक विकास नहीं हो सका। इस काल की मुख्य देन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में है।

(3) बाइजेंटाइन साम्राज्य काल (The Byzantine Empire Period) : इस साम्राज्य के चारों ओर असभ्य तथा बर्बर जातियाँ रहती थीं अत यह केवल सैन्य शक्ति पर भरोसा करके नहीं रह सकता था। अपनी सुरक्षा के लिए उसने कई तरीके अपनाए। वह बर्बर जातियों को आपस में लड़ाता था कुछ को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेता था और ईसाई धर्म का प्रचार करके विरोध के आधार को मिटा देता था। ये सब तरीके अनैतिक थे। इस प्रकार जैसा कि हैरल्ड निकल्सन लिखते हैं कि राजनय की नैतिकता एव सहयोग की भावनाओं का अन्त हो गया तथा इसके स्थान पर अनैतिकता, छल-कपट और विध्वसात्मक भावनाओं का प्रभाव बढा। राज्यों के आपसी सम्बन्धों की ईमानदारी और पवित्रता समाप्त हो गई तथा कूटनीतिक व्यवहार का विकास हुआ। लालच फूट दुराग्रह धोखेबाजी आदि दुर्गुण' राजनयिक सम्बन्धों के आधार बन गए।[3]

1 *Harold Nicolson* Diplomacy, p 42.

2. "The word evolution is not intended to suggest a continuous progression from the rudimentary to efficient. On the contrary, I hope to show that international intercourse has always been subject to strange retrogressions" —*Harold Nicolson*

3 "Diplomacy became the stimulant rather than antidote to the greed and folly of mankind Instead of co-operation, you had disintegration, instead of unity disruption instead of reason you had astuteness in the place of moral principles you had iniquity" —*Harold Nicolson*

(4) मध्य युग (The Middle Ages) मध्यकालीन यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला था। इस सामन्तवादी व्यवस्था में निरन्तर युद्ध होते रहते थे। निरन्तर युद्ध के स्थिति मे रहने के कारण यूरोप के राज्य अब शक्ति के लिए तरसने लगे थे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों के बीच बढ़ते हुए वाणिज्य व्यापार के कारण शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का कायम रहना अनिवार्य हो गया था।

मध्ययुग में राजनय के सम्बन्ध मे पाँच सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए

(i) सभी राष्ट्र एक परिवार के सदस्य हैं। (ii) यह परिवार एक कानून या नियम द्वारा संचालित होता है जो सभी सदस्यों पर पारस्परिकता के कारण लागू होता है ऊपर से थोपा नही जाता। (iii) व्यवहार में इस विधि को वास्तव में क्रियान्वित किया जाता है। (iv) सदस्यों के आपसी मनमुटाव यथासम्भव शान्ति पूर्वक सुलझाये जाते हैं। यदि सभी शांतिपूर्ण प्रयास असफल हो जाएँ तो युद्ध की सम्भावना बढ जाती है। (v) राजनय प्रकट स्पष्ट तथा प्रजातान्त्रात्मक होना चाहिए।

मध्यकालीन राजनय अनैतिकता और छलकपट से परिपूर्ण था क्योंकि यूरोप ने इसे इटली के नगर राज्यों के माध्यम से बाइजेंटाइन साम्राज्य से प्राप्त किया था। निम्नलिखित कारणों ने इसमें योगदान दिया

(क) इस समय के राजनयज्ञ व्यापक रूप से निम्नस्तरीय एव अनैतिक कूटनीति का प्रयोग करते थे। दूसरे देशों में विद्रोह की आग भड़काना वहाँ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना विदेशी सभासदों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला देना आदि राजनयिक व्यवहार सामान्य थे। उस समय राजदूत को सम्माननीय गुप्तचर कहा जाता था। जेम्स प्रथम के शासनकाल के ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वाटन ने लिखा है कि "राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए दूसरे देश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।"[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राजनयज्ञों के कार्य तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में क्या धारणा थी। तत्कालीन राजनय दोषपूर्ण तथा अनैतिक बन गया।

(ख) इटली के कौटिल्य निकोलो मैकियावली के ग्रन्थ दी प्रिन्स (The Prince 1513) ने राजनय को दूषित करने मे योगदान किया। रोचक शैली में यह ग्रन्थ राजकुमारों को कुछ उपदेश निर्देश देता था जो शीघ्र ही यूरोप भर मे लोकप्रिय हो गए। राजनयिक आधारों एवं सिद्धान्तों का तादात्म्य धीरे धीरे मैकियावली के उपदेश के साथ बैठाया जाने लगा। इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरणों का संक्षिप्त भावार्थ निम्नलिखित प्रकार से हैं

"जब किसी राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो तो वहाँ न्याय अथवा अन्याय उदार या निष्ठुर गौरवपूर्ण या लज्जास्पद क्या है इसका विचार नहीं होना चाहिए इसके विपरीत स्वतन्त्रता कायम रखने और जीवन रक्षा के साधन के अतिरिक्त प्रत्येक चीज की अवहेलना की जानी चाहिए।"

"किसी दूरदर्शी शासक को ऐसे वचनों की पालना नहीं करना चाहिए जिन्हें निभाने से उसके हितों को हानि होती हो विशेषकर उस समय जबकि वचन बद्धता के कारण समाप्त हो चुके हों। यदि सब व्यक्ति अच्छे होते तो यह शिक्षा उपयुक्त नहीं थी किन्तु क्योंकि वे बुरे हैं और विश्वास का निर्वाह करने को तैयार नहीं हैं इसलिए तुम भी विश्वास पालन के लिये बाध्य नहीं हो।"

1 "An ambassador is an honest man who is sent to lie abroad for the good of his country.
—Sir Henry Wotton

मैकियावली के उपदेश तत्कालीन परिस्थितियों में व्यावहारिक रूप से उपयोगी थे। उस समय की विकट राजनैतिक परिस्थितियों में राज्य असुरक्षित थे। इटली की राजनीतिक अस्थिरता निरन्तर संघर्ष फूट और अराजकतापूर्ण के लिए शक्ति महत्वपूर्ण थी। मैकियावली के विचार उपयोगी थे किन्तु उनके प्रभाव से राजनय दूषित हो गया। नैतिक आचरण को अनावश्यक हानिकारक दिखावा एवं कमजोरी का प्रतीक माना जाने लगा। छल, कपट धोखेबाजी झूठ एवं विश्वासघात को व्यावहारिक आवश्यकता समझा जाने लगा।

(5) वर्तमान काल (The Modern Period) मध्यकाल के अन्तिम दिनों में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ तथा यूरोप के राज्य अपनी आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण नए प्रदेशों की खोज करके वहाँ बसने लगे। इस काल में वाणिज्य व्यापार का प्रसार हुआ और तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अनेक प्रकार से विकास हुआ। राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। यह राजनय के नए युग का सूत्रपात था। इस युग में राजनयिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो विचारधाराएँ उभर कर सामने आई

(क) नैतिक विचारधारा (Moral Theory) इस विचारधारा के समर्थकों का विचार है कि जिस प्रकार सामाजिक व्यक्ति को नैतिकता का पालन करना पड़ता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी नैतिकता का पर्याप्त महत्व है। हैरल्ड निकल्सन के मतानुसार नैतिक राजनय अन्ततः अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। अनैतिक राजनय स्वयं के ही उद्देश्यों को परास्त कर देता है।[1] के एम पनिक्कर के मतानुसार छलकपटपूर्ण राजनय एक देश को लक्ष्य प्राप्त करने में कदाचित् ही सहायता करता है।[2]

नैतिकता को राजनय में महत्व देने वाले विचारक निम्नलिखित साधनों का समर्थन करते हैं तुष्टीकरण (Appeasement), मेल मिलाप (Conciliation), समझौता (Compromise) तथा साख (Credit)। इसके समर्थकों का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण तथा व्यापार-वृद्धि होता है। इनकी मान्यता के अनुसार लड़ाई-झगड़े में दो पक्ष एक-दूसरे को नष्ट करने में लगे रहें अच्छा यह है कि वे समझौते द्वारा आपसी मनमुटावों को दूर कर लें। इस नैतिक विचारधारा को दुकानदार की विचारधारा (Shopkeeper Theory) भी कहा जाता है।

(ख) राष्ट्रवादी विचारधारा (Nationalistic Theory) : यूरोप महाद्वीप में इस विचारधारा को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। इसके समर्थकों का विचार है कि सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन में जिस नैतिकता का महत्व है वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सर्वथा अनुपयुक्त है। प्रत्येक राज्य को अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे रहना चाहिए, उसे नैतिकता का ध्यान रखे बिना प्रत्येक साधन अपनाना चाहिए। इस विचारधारा को सैद्धिक विचारधारा (Warrior Theory) का नाम भी दिया जाता है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे जनता में उत्कृष्ट देश-प्रेम की भावना विकसित होती है। इस विचारधारा के समर्थक शक्ति-राजनीति (Power Politics) को महत्व देते हैं। वे राष्ट्रीय-गौरव प्रतिष्ठा अपराद,

1 "Moral diplomacy is ultimately the most effective and the immoral diplomacy defeats its own purpose" —Harold Nicolson

2. K M Panikkar Op cit., p 35

परिस्थिति एवं स्वाभिमान से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं। उनके मतानुसार सन्धि वार्ता सैनिक अभियान का ही एक अंग मात्र है। इसी कारण इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए वे युद्ध जैसी व्यूह रचना करते हैं। सन्धि वार्ता में उनका एकमात्र लक्ष्य दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करना होता है।[1] समझौते की नीति प्रायः कमजोर पक्ष द्वारा अपनाई जाती है अतः यह दुर्बलता का प्रतीक है। सन्धि वार्ता में दूसरे पक्ष पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए वे प्रत्येक छल फरेब की नीति को अपनाने से नहीं चूकते। उनके मतानुसार राजनय एक युद्धक्षेत्र है अतः इसमें युद्ध की सभी तकनीकें निःसंकोच रूप से अपनाई जा सकती हैं जैसे आक्रमण करना, छलपूर्वक पीछे हट जाना, दबाव डालना, घुड़की देना, बल प्रयोग करना, निर्दयता दिखाना आदि। इस प्रकार राष्ट्रवादी अथवा सैद्धिक विचारधारा उग्र राष्ट्रवाद की भावना पर आधारित है। इसका मूल उद्देश्य राष्ट्र हित अथवा प्रगति की भावना है। इसके लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की विरोधी है जबकि नैतिक विचारधारा में हमको अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की झलक मिलती है। दोनों के बीच विश्व राज्य और राष्ट्र राज्य का संघर्ष है।

वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तकनीकी प्रगति के इस युग में नैतिक विचारधारा अधिक महत्वपूर्ण है। वर्तमान में जो राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमों की अवहेलना करता है वह विश्व जनमत की कटु आलोचना का पात्र बन जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि राजनय का इतिहास व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमाओं में होता हुआ क्रमशः राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हुआ है। वर्तमान में राजनय का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश धारण कर चुका है।

राजनय का क्षेत्र
(Scope of Diplomacy)

बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति ने राजनय के क्षेत्र की व्यापकता को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी पक्ष—साँस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक, इत्यादि—ऐसा नहीं है जिसमें राजदूत की प्रत्यक्ष भूमिका की गुँजाइश न हो। वास्तविकता तो यह है कि "राजनय संसार के उन थोड़े से व्यवसायों में से एक है जिसके घेरे में मानवीय क्रिया कलापों की प्रत्येक शाखा आ जाती है।"[2] अन्तर्राष्ट्रीयता के इस युग में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, संयुक्त राष्ट्र, राष्ट्रमण्डल, क्षेत्रीय संस्थाओं (नैटो, सीटो और गल्फ कौंसिल) ने राजनय को बहुपक्षीय बना दिया है। सामूहिक सुरक्षा सन्धियाँ, संसदीय राजनय, शिखर वार्ताएँ, खुला राजनय, सहायता का राजनय, तेल का राजनय, निःशस्त्रीकरण का राजनय, साँस्कृतिक क्षेत्र का विकास, प्रतिरक्षा और सुरक्षा का बढ़ता प्रभाव तथा परमाणु हथियारों के प्रचलन आदि ने राजनय के कार्य, उसकी विधियों तथा उसके क्षेत्र को विश्वव्यापी बना दिया है। इसका क्षेत्र निश्चित ही विस्तृत बन गया है। यह वार्ताओं को सम्भव करता है। राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन करता है। मैत्री सम्बन्धों

1 "Fundamental to such a conception of diplomacy is the belief that the purpose of negotiation is victory and that the denial of complete victory means defeat
—Harold Nicolson

2 *Regala* Trends p 24

को बढ़ाता है तथा आर्थिक व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। यह राजनय ही है जिसके माध्यम से राज्यों के मध्य वार्तायें समझौते सन्धियाँ आदि राज्यों को एक-दूसरे के मित्र अथवा शत्रु बना देते हैं। इसी के माध्यम से राज्यों के आर्थिक व्यापारिक वाणिज्यिक सांस्कृतिक सामाजिक वैज्ञानिक और तकनीकी सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं। आणविक हथियारों के विकास ने विश्व शान्ति को संकट में डाल दिया है अत, शान्ति व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राजनय का सहारा लिया जाना आवश्यक है। यह राजनय के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि विश्व तृतीय महायुद्ध की विभीषिका से बचा हुआ है। एक योग्य राजदूत वाशिंगटन, मास्को बीजिंग अथवा नई दिल्ली में बैठा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर विश्व व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सकता है। नये राजनयिक तरीके समय और परिस्थिति के साथ विकसित हुए हैं। नये राजनीतिक सगठनों संस्थाओं, सम्मेलनों, विशेषज्ञों और प्रचार ने राजनय के क्षेत्र को निश्चित ही विस्तृत किया है। राजदूत के कार्यों, उनकी दिन प्रतिदिन की गतिविधियों नये साधनों के उपयोग आदि ने राजनय के क्षेत्र को अत्यधिक विकसित कर दिया है। राजनय अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में अनुनय, मध्यमार्ग मद आदि का प्रयोग करते हैं। ये साधन स्वय में गम्भीर एवं विस्तृत हैं। आज राजनय के क्षेत्र की सीमा निर्धारण यदि असम्भव नहीं तो जटिल अवश्य है। आज राजनय 'सम्पूर्ण राजनय' (Total Diplomacy) हो गया है।[1]

राजनय के लक्ष्य
(The Objectives of Diplomacy)

युद्ध और शान्ति दोनों ही कालों में राजनय राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का मुख्य साधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत देश की सुरक्षा, जन कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित किये जा सकते हैं और राजनय का अन्तिम लक्ष्य इनकी सुरक्षा और अभिवृद्धि है। सरदार के एम पनिक्कर के शब्दों में "समस्त राजनयिक सम्बन्धों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है और हर राज्य का मूलभूत हित स्वय अपनी सुरक्षा करना होता है। परन्तु इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, देशवासियों की रक्षा आदि भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना राजनय का उद्देश्य है।"

राजनय मूल रूप में एक शान्तिकालीन साधन है। यदि राजनय का अन्त युद्ध में होता है तो इसे राजनय की असफलता का द्योतक माना जाता है। किन्तु युद्धकालीन स्थिति में भी राजनय विशेष रूप से सक्रिय रहता है क्योंकि युद्ध और शान्ति जैसी गम्भीर समस्याओं को सेनापतियों पर पूरी तरह नहीं छोड़ा जा सकता है। शान्तिकाल में राजनय (Diplomacy) प्रत्यक्ष योगदान करता है जबकि शक्ति (Power) पृष्ठभूमि में रहती है, किन्तु युद्ध काल में शक्ति आगे रहती है और राजनयिक दाँव-पेच पृष्ठभूमि में खेले जाते हैं। फिर भी युद्ध के सन्दर्भ में राजनय के कार्य बड़े व्यापक हो जाते हैं। द्वितीय महायुद्धकाल में राजनय सम्मेलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी और युद्ध सम्बन्धी नीति-निर्णय इन सम्मेलनों में लिए जाते थे। पामर एवं पर्किन्स के अनुसार—"विदेश-नीति की भाँति राजनय का उद्देश्य, सम्भवत शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा, लेकिन युद्ध न रोके जा सकने की दिशा में सैनिक गतिविधियों की

1 डॉ एम पी राय वही, पृ 26-27

सहायता द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा प्राप्त करना है। राजनय जैसाकि निकल्सन ने कहा है युद्धकाल मे समाप्त नहीं हो जाता अपितु युद्धकाल मे उसे पृथक् भूमिका निभानी पडती है तथा विदेश-मंत्रियों की तरह राजनयज्ञों (Diplomats) का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो महायुद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।" के एम पनिक्कर लिखते हैं "एक राजनयज्ञ का मुख्य कार्य अपने देश का नाम ऊँचा रखना उसके लिए आदरभाव उत्पन्न करना तथा उसके प्रति सद्भावना पैदा करना है।"[1] राजनयज्ञ अपने कार्यों द्वारा राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि का प्रयास करता है।

विभिन्न विचारकों ने राजनय के जिन विभिन्न लक्ष्यों का उल्लेख किया है उन्हे हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं

1 राष्ट्रीय हितों की रक्षा (To Safeguard the National Interests) राजनय का मुख्य लक्ष्य अपने राज्य के हितों की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य का मूलभूत हित अपनी सीमाओं की रक्षा होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक हित व्यापार राष्ट्रिकों की रक्षा आदि भी महत्वपूर्ण विषय है तथा राजनय इनकी सुरक्षा का प्रयास करता है। अन्य राज्यों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना भी राजनय का मुख्य लक्ष्य होता है।

2. राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक एव आर्थिक अखण्डता की रक्षा (To Safeguard the Territorial, Political and Economic Integrity of the State) राजनय का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह अपने देश की प्रादेशिक अखण्डता के साथ-साथ राजनीतिक एव आर्थिक हितों की भी रक्षा करे। आजकल केवल सैनिक आक्रमण से ही राज्य की सुरक्षा खतरे मे नहीं पडती वरन् रणकौशल के महत्व के क्षेत्रों पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एव देश मे राजनीतिक प्रभाव बढा कर भी उसकी सुरक्षा को खतरे में डाला जा सकता है। अत राजनय को हमेशा सजग रहना चाहिए तथा देश की रक्षा के विरुद्ध दूसरे राज्यों की नीतियों और गतिविधियों पर रोक लगानी चाहिए।

3. मित्रों से सम्बन्ध बढाना तथा शत्रुओं को तटस्थ बनाना (Strengthening relationships with friendly countries and the neutralisation of forces hostile to itself) · राजनय अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए मित्र देशों के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों को दृढ बनाता है। वह सन्धि वार्ता द्वारा अपने समर्थकों और मित्रों की सख्या में वृद्धि करता है। सामान्य हितों वाले राज्यों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दृढ हो जाते हैं। जिन राज्यों के राष्ट्रीय हित परस्पर भिन्न अथवा विरोधी होते हैं उनके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की कम सम्भावना रहती है। यहाँ राजनय का लक्ष्य ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाना होता है ताकि वे उसके राष्ट्रीय हितों को हानि न पहुँचा सकें।

4 विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना (To prevent other States from combining against her) · राजनय का एक मुख्य लक्ष्य यह भी है कि अन्य राज्यों को अपने राज्य के विरुद्ध सगठित होने से रोके। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा कुछ को समर्थन देना होगा तथा ऐसे कुछ राज्यों से समर्थन एव सहायता रोकनी होगी जो इसका प्रयोग स्वय दाता राज्य के राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध करते हों। यदि ये सारे तरीके असफल हो जाएँ और शक्ति का प्रयोग करना अनिवार्य बन जाए तो वह

1 *K M Panikkar* The Principles and Practice of Diplomacy p 34

सर्वाधिक लाभप्रद परिस्थितियों मे ही किया जाना चाहिए और इस रूप में किया जाना चाहिए ताकि दुनिया के दूसरे राज्य यह जान जाएँ कि यह राज्य न्याय के पक्ष में है तथा केवल अपने अधिकारों की रक्षा के लिए ही लड रहा है। यदि विश्व यह मान ले कि राज्य न्याय के लिए लड रहा है तो यह राजनय की विजय होगी।

5 युद्ध का सचालन (The Conduct of War) युद्ध बुरा होते हुए भी अपरिहार्य है। यदि युद्ध छेडना आवश्यक बन जाए तथा सन्धि-वार्ता के सभी साधन असफल हो जाएँ तो राजनय के दायित्व का रूप बदल जाता है। युद्धकाल में भी प्रभावशाली राजनय का महत्व है। के एम पनिकर के मतानुसार "प्रभावशाली राजनय के बिना न तो युद्ध लडे जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत राजनयिक तैयारियाँ एव युद्धकाल मे प्रभावहीन राजनय एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र की हार एव उसके विनाश का कारण बन जाता है।"[1] अत युद्धकाल मे राजनय का महत्व और भी बढ जाता है।

6 आर्थिक एव व्यावसायिक लक्ष्य (Economic and Commercial Objectives) राजनय के उपर्युक्त लक्ष्य राजनीतिक थे। आजकल गैर-राजनीतिक लक्ष्यों का महत्व निरन्तर बढता जा रहा है। इसमें आर्थिक एव व्यावसायिक लक्ष्य विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक राज्य दूसरे देशों में अपने उत्पादनों के लिए बाजार तलाश करता है स्पर्द्धा को घटाता है आर्थिक सतर्कता रखता है तथा अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य उचित कदम उठाता है। पनिकर के शब्दों में "पिछले तीस वर्षों मे व्यावसायिक राजनय (Commercial Diplomacy) अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सर्वाधिक सक्रिय पहलू बन गया है।" फलस्वरूप नियतांश (Quota) अनुज्ञाप्तियाँ (Licenses), मुद्रा-नियन्त्रण (Currency Control) तथा व्यावसायिक सम्पर्क की अन्य तकनीकों को राजनय में साधन के रूप में अपनाया जाने लगा है।

प्रत्येक राज्य अपने राजनयिक मिशन के साथ व्यापार-आयुक्त एव वाणिज्य सहचारी (Commercial Attaches) अवश्य भेजता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजनयिक मिशन मे आर्थिक विशेषज्ञ अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं।

7 खाद्यान्न की सहायता (Food Assistance) : द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ससार के विभिन्न भागों में खाद्यान्न की कमी होने के कारण खाद्यान्न से सम्पन्न देशों ने इसे अपने राजनय का साधन बनाया है। आज अन्न उत्पादन देश अपनी शर्तों पर ही माल बेचते हैं। खाद्यान्न प्राप्त करने के लिए राज्य को एक सीमा तक अन्य राज्यों का हस्तक्षेप भी स्वीकार करना पडता है। इससे सम्बन्धित सन्धि वार्ताएँ केवल व्यावसायिक न रह कर राजनीतिक बन जाती हैं। इससे खाद्यान्न आयात करने वाले देशों की विदेशनीति प्रभावित होती है।

8 राज्य के स्थायी हितों की पूर्ति (Serving of the Permanent Interests) : राजनय का मुख्य लक्ष्य राज्य के स्थायी हितों की पूर्ति करना होता है। इन स्थायी हितों की अवहेलना केवल भयानक सकट के समय ही हो सकती है। कभी-कभी अस्थायी लाभों के लिए भी सौदेबाजी की जाती है। जनता के आग्रह एव दबाव के कारण सरकार को कुछ समय के लिए स्थायी हितों को छोडकर अन्य हितों की प्राप्ति का प्रयास करना पडता है।

1 K M Panikkar The Principles and Practice of Diplomacy p 26

भावनाओं पर आधारित जन प्रतिक्रिया के दबाव में राज्य को यदि अपनी विदेश नीति या राजनय को बदलना पड़े तो वह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण और खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

9 पारस्परिक आदान प्रदान (Mutual Give and Take) राजनय अपने प्रमुख लक्ष्य राज्य की सुरक्षा तथा अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए पारस्परिक आदान प्रदान की नीति का अनुसरण करता है। कोई राजनय यदि अन्तिम सत्यों (Ulumate Truths) की धारणा पर आधारित है तो वह निश्चित ही असफल होगा अत एक सफल राजनय को व्यावहारिक होना चाहिए। उसे दूसरे राज्यों पर नैतिक निर्णय देने अथवा उनके अधिकार निर्धारित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक राज्य का अपना जीवन दर्शन होता है। इस राजनीतिक यथार्थ को स्वीकार कर के ही अन्य देशों के साथ राजनयिक व्यवहार स्थापित करना चाहिए।

10 सद्भावना की स्थापना (To Establish Goodwill) राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए राजनय को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देश के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। राज्य के आपसी समझौते एव सन्धियाँ भी आपसी सद्भाव एव रुचि पर निर्भर होने चाहिए। सम्भावित शत्रु देश के साथ भी सद्भावना की स्थापना का प्रयास करना चाहिए। यदि उस देश की सरकारी नीति को नहीं भी बदला जा सका तो कम से कम उस देश में मित्रों एव समर्थकों का एक वर्ग अवश्य तैयार किया जा सकेगा।

के एम पनिक्कर ने राज्यों के कूटनीतिक व्यवहार के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्यों का उल्लेख किया है

1 मित्र राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को मजबूत बनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हों उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

2 अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों को तटस्थ बनाए रखना।

3 अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

4 यदि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपने हितों की रक्षा करते समय साम दाम और भेद-ये तीनों ही नीतियाँ असफल हो जाएँ तो युद्ध का सहारा लिया जाए। किन्तु कूटनीति का कार्य है कि युद्ध ऐसी परिस्थिति में तथा ऐसे रूप मे अपनाया जाए कि दूसरे देश यह समझ जाएँ कि तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण है तथा तुम अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे हो और आक्रमणकारी तुम नहीं वरन् दूसरा पक्ष है।

5 चाणक्य का मत था कि यदि युद्ध और शान्ति दोनों के समान परिणाम प्राप्त होते हों तो शान्ति को अपनाओ तथा युद्ध और निष्पक्षता का समान लाभ मिल रहा हो तो निष्पक्षता को अपनाओ। युद्ध को तो केवल तभी अपनाना चाहिए जब अन्य सभी साधन असफल हो जाएँ।

6 युद्ध कूटनीति की असफलता का द्योतक है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि युद्ध के समय कूटनीति ही समाप्त हो जाती है वरन् सच तो यह है कि बिना कूटनीति के न तो युद्ध किए जा सकते हैं और न ही जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियाँ तथा युद्ध के समय की प्रभावहीन कूटनीति हार' को निश्चित बनाकर शक्तिशाली राष्ट्रों का भी विध्वस कर देती है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कूटनीति निम्नलिखित तीन साधनों को काम में ला सकती है—(i) समझाना (Persuation) (ii) समझौता करना (Compromise) एवं (iii) शक्ति प्रयोग की धमकी देना (Threat of Force)। सफल कूटनीति के लिए अपेक्षित है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह प्रथम दो साधनों के माध्यम से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करे। कूटनीति की कला इस बात में है कि वह समय व परिस्थिति के अनुसार ही तीनों में से किसी एक का प्रयोग करे।

राजनय के कार्य
(The Functions of Diplomacy)

राजनय का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित का संवर्द्धन तथा निर्धारित नीति के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न है। स्टालिन ने राजनय को एक प्रकार की कला मानते हुए कहा था कि कूटनीतिक के शब्दों का उसके कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, यदि ऐसा है तो वह राजनय ही कैसा ? कथनी एक चीज है और करनी दूसरी। अच्छे शब्द बुरे कार्यों को छिपाने में ढाल का काम करते हैं। एक निष्कपट राजनय उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि 'सूखा पानी' या 'नरम लोहा'।[1]

राष्ट्रीय हित संवर्द्धन की दृष्टि से राजनय के मूलभूत कार्यों को विभिन्न विचारकों राजदूतों और राजनीतिज्ञों ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है

(क) हिन्दू नीति शास्त्रों का मत

हिन्दू नीति शास्त्रों में चार प्रकार के राजनयिक साधन और उपाय बताए गए हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद। 'साम' के अनुसार एक देश मित्रतापूर्ण व्यवहार, सुझाव एवं बौद्धिक तर्कों द्वारा अपने राष्ट्रीय हित साधन का प्रयास करता है। 'दाम' के अनुसार एक देश अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए धन व्यय करता है। ऐसे समझौते करता है जिसमें स्वयं के धन से दूसरे पक्ष का लाभ हो। कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ देना कुछ व्यय करना आवश्यक बन जाता है। यह समझौते का एक तरीका है। यहाँ साम और दाम से काम बनता न दीखता हो वहाँ 'भेद' का सहारा लेना होता है अर्थात् शत्रु के शत्रु से मेल कर लेना और शत्रु के मित्रों में आपस में फूट डाल देना। राजनय का सबसे अन्तिम हथियार शक्ति है। जब सभी अन्य साधन असफल हो जाएँ तो राजनय को युद्ध का मार्ग अपनाना पड़ता है।

प्रसिद्ध विचारक कौटिल्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में राजनय के निम्नलिखित कार्य गिनाए हैं

(क) प्रेषक राज्य एवं स्वागतकर्ता राज्य की सरकारों के दृष्टिकोणों का आदान प्रदान होना (ख) सन्धियाँ करना, (ग) अपने राज्य के दावों को स्वीकार करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाना। राजनय अपने राज्य की स्वार्थ सिद्धि के लिए युद्ध की धमकी देता है अपने मित्र तथा समर्थकों की संख्या बढ़ाता है गुप्त संगठनों की रचना करता है विरोधी राज्य में कलह के बीज बोता है सरकारी अधिकारियों को अपनी ओर मिला लेता है (घ) राजनयज्ञ को मुख्यत उन सरकारी अधिकारियों से मित्रता बढ़ानी चाहिए जिनके

1 Joseph Stalin Quoted in David Dallin The Real Soviet Russia, 1944 p 71

अधिकार में जगलात सीमावर्ती क्षेत्र आदि विषय आते हैं (ड) राजनयज्ञ को स्वागतकर्ता राज्य की किलेबन्दी का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे यह जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए कि मूल्यवान चीजों के खजाने किधर हैं।

कौटिल्य का मत है कि अपने कार्यों के सम्पादन के लिए राजनयज्ञ को अवसरानुकूल चातुर्य कुशलता और कुटिलता का मार्ग अपनाना होता है। इस तरह से चाणक्य ने अपने साध्य की प्राप्ति के लिए राजनयज्ञ को सभी सभव साधन अपनाने की छूट दी है।

(ख) सरदार पनिक्कर का मत

विख्यात भारतीय राजनयिक के एम पनिक्कर के अनुसार धूर्तता कपट आदि से पूर्ण कूटनीति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायक हो सकती है। कारण यह है कि कूटनीति अपने देश के प्रति दूसरे देशों की शुभकामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होती है और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग में खतरनाक साधन हैं। दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझें एव उसके प्रति सम्मान की भावना रखें, वह देश दूसरे देशों की जनता के न्यायोचित हितों को समझे एव सर्वोपरि व ईमानदारी से व्यवहार करे। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते और इस दृष्टि से चातुर्य कपट आदि से पूर्ण कूटनीति के पर्दे में जब छिद्र हो जाएँगे और देश की नीति की असलियत जाहिर हो जाएगी तो विश्व-समाज में उस देश के स्तर को बड़ा धक्का पहुँचेगा। अत उनका मत है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

(ग) पामर एव परकिन्स का मत

पामर एव परकिन्स ने राजनयज्ञ को दूसरे देशों में अपनी सरकार की आँख और कान (Eyes and ears of his Government) कहा है जिसके मुख्य कार्य हैं—अपने देश की नीतियों को क्रियान्वित करना, अपने देश के हितों और देशवासियों (जो विदेश में हों) की रक्षा करना तथा अपनी सरकार को शेष विश्व में होने वाली मुख्य घटनाओं के बारे में सूचित रखना।[1] राजनयज्ञों के कार्यों को आगे चलकर और भी स्पष्ट करते हुए पामर एव परकिन्स ने इन्हें निम्नलिखित चार आधारभूत वर्गों में विभाजित किया है—(1) प्रतिनिधित्व (Representation), (2) समझौता-वार्ता (Negotiation), (3) प्रतिवेदन (Reporting), एव (4) विदेशों में अपने राष्ट्र और अपने देश के नागरिकों के हितों की सुरक्षा (The protection of the interest of the Nation and its citizens in foreign land)।[2] एक अन्य स्थल पर लेखकद्वय ने लिखा है कि विदेश-नीति की भाँति ही राजनय का यह लक्ष्य है कि यथासम्भव शान्तिपूर्ण साधनों से देश की रक्षा करे। लेकिन यदि युद्ध अपरिहार्य ही हो जाए तो सैनिक तैयारी कर युद्ध करे। युद्ध के समय 'शान्ति-कालीन राजनय (Peace time Diplomacy) का रूप बदलकर युद्ध की अवस्थाओं के अनुरूप हो जाता है।

1 2. *Palmer & Perkins* International Relations p 85

(घ) क्विन्सी राइट, ओपेनहीम तथा चाइल्ड्स का मत

क्विन्सी राइट के अनुसार राजनय युद्ध से भिन्न इसलिए है क्योंकि यह भौतिक शास्त्रों के स्थान पर शब्दों का प्रयोग करता है। शक्ति-प्रदर्शन और युद्ध की धमकी राजनय के साधन है पर जब युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों पक्षों के बीच प्राय राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। ओपेनहीम ने राजनयज्ञों के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—(क) समझौता (Negotiation), (ख) पर्यवेक्षण (Observation) एवं (ग) सुरक्षा (Protection)। चाइल्ड्स ने भी पामर एवं परकिन्स की भाँति ही राजनयज्ञों के कार्यों को इन चार भागों में बाँटा है

(1) प्रतिनिधित्व करना (2) समझौता करना, (3) प्रतिवेदन करना एवं (4) विदेशी भूमि में अपने देश के नागरिकों तथा देश के हितों की रक्षा करना।

(ङ) हैंस.जे.मॉर्गेन्थो का मत

हैंस जे मॉर्गेन्थो के अनुसार राजनयज्ञ के निम्नलिखित चार प्रमुख कार्य हैं—प्रथम, राज्य की शक्ति को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों को निर्धारित करना द्वितीय, अपने उद्देश्यों और राज्य शक्ति के साथ-साथ दूसरे राज्य की शक्ति का समुचित मूल्यांकन, तृतीय, यह पता लगाना कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य एक दूसरे से कहाँ तक मेल खाते हैं और यदि इन लक्ष्यों के मध्य साम्य न हो तो उनके बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना एवं चतुर्थ, अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समझौता समझाना-बुझाना बल प्रयोग की धमकी आदि उपायों का आश्रय लेना।

(च) लियो बी.पौलाद का मत

एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी पौलाद (Leou B Poullada) ने अपने एक लेख में राजनय के पाँच कार्यों का उल्लेख किया है[1] —

(1) संघर्ष का प्रबन्धन (The Management of Conflict)

(2) समस्या समाधान (Problem solving)

(3) पार सांस्कृतिक कार्य (Trans-Cultural Functions)

(4) समझौता वार्ता और सौदेबाजी (Negotiations and Bargaining)

(5) कार्यक्रम व्यवस्था (Programme Management)

राजनयज्ञ का एक प्रमुख कार्य संघर्ष का प्रबन्धन (Management of Conflict) है अर्थात् जहाँ कहीं हितों का भारी कटाव (Intersection of Interests) हो वहाँ एक राजनयज्ञ को समझाने-बुझाने, सौदेबाजी करने, सुलह करने आदि विभिन्न उपायों द्वारा संघर्षपूर्ण स्थितियों के समाधान में प्रवृत्त होना चाहिए। घरेलू क्षेत्र में पेशेवर राजनीतिज्ञ जिस प्रकार इन कार्यों का निर्वहन करते हैं उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राजनयज्ञ इन कार्यों का निर्वहन विभिन्न संस्कृतियों और मूल्य-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में करते हैं और इस हैसियत से वे मुख्यतया एक 'पार सांस्कृतिक संघर्ष दलाल' (Trans-Cultural Conflict Broker) की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

1 Leou B. Poullada's article in "The Theory and Practice of International Relations", 1974, pp. 19–[illegible] by David McLellan, W. C. Olson and Fred A. Sondermann.

मूलभूत राजनयिक गतिविधि का दूसरा क्षेत्र समस्या समाधान (Problem Solving) है। विदेश सम्बन्धों के संचालन में अनेक समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तथा कई बार सीमान्त पसन्दगियों (Marginal Choices) के चयन करने की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः राजनयज्ञ का प्रतिवेदन सम्बन्धी काम सुगम नहीं होता। देखने में प्रतिवेदन तथ्यों के संग्रह का सीधा साधा काम लगता है लेकिन यह आवश्यक रूप से समस्या समाधान का एक अभ्यास क्रम है। राजनयज्ञ को चाहिए कि वह सर्वप्रथम विभिन्न सम्भव व्याख्याओं में से चुनाव करे सूचना संग्रह से विभिन्न साँस्कृतिक पूर्वाग्रहों या पक्षपातों की छँटनी कर दे और उपलब्ध सूचना को प्रयोग में लाने का बहुत ही रचनात्मक तरीका चुने ताकि नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनों को प्रभावित किया जा सके।

मूलभूत राजनयिक गतिविधि का तीसरा क्षेत्र कूटनीतिक व्यवसाय के पार साँस्कृतिक कार्यों (Trans Cultural Functions) पर केन्द्रित है। राजनयज्ञ का मुख्य योगदान उसकी इस निपुणता में प्रकट होता है कि वह विभिन्न संस्कृतियों के मध्य किस प्रकार अपनी व्याख्याओं पर पहुँचता है। विभिन्न संस्कृतियों के मध्य कार्य करते हुए भी राजनयज्ञ को अपने राष्ट्रीय हित के सम्वर्द्धन में लगा रहना चाहिए।

राजनय का चौथा मूलभूत कार्य समझौता वार्ता और सौदेबाजी (Negotiations and Bargaining) है। समझौता वार्ता केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में ही नहीं होती बल्कि राजनयज्ञ अपने दैनिक कार्यों में विभिन्न तरीकों से विचार विमर्श, सौदेबाजी और समझौते सम्बन्धी कार्यों में लगा रहता है।

राजनय का पाँचवाँ कार्य 'कार्यक्रम व्यवस्था (Programme Management) है। विदेशों में अपने देश के किसी कार्यक्रम के प्रबन्ध की कुशलता का काफी प्रभाव पड़ता है। उसके माध्यम से विदेशों में देश की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाती है। आज के युग में इस प्रकार के कार्यक्रमों का महत्व द्वि राष्ट्रीय और बहु राष्ट्रीय संबंधों के विकास में बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है।

राजनयिकों के प्रमुख कार्य
(Important Functions of Diplomats)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह उचित होगा कि अलग अलग विद्वानों द्वारा प्रतिपादित कार्यों की अलग अलग व्याख्या न करके सामूहिक ढग से प्रमुख कार्यों की व्याख्या की जाए जिसे निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है

1. संरक्षण संबंधी कार्य (The Protection) राजनय का प्रमुख कार्य यह है कि अपने देश के अधिकारों एवं हितों की रक्षा तथा वृद्धि करे। हितों की रक्षा करना राजनय का कार्य है। प्रो ओपनहीम के कथनानुसार "राजनयिक दूतों का यह मुख्य कार्य है कि वे अपने देशवासियों की सम्पत्ति, जीवन एवं हितों की रक्षा करें जो स्वागतकर्ता राज्य की सीमा में बसते हैं। स्वदेश के सम्मान एवं हितों के प्रति राजनय कोई सौदेबाजी नहीं कर सकता। यदि विदेश में रहने वाले इन राष्ट्रजनों के अधिकार छीन लिए गए हैं सम्पत्ति जब्त की गई है किसी उपद्रव में वे हताहत हुए हैं अथवा उन्हें कानून का पूर्ण संरक्षण नहीं मिल रहा है तो वे अपने राजनयिक मिशन से उचित सहायता की माँग कर सकते हैं। राजनय

को चाहिए कि वह अपने राष्ट्रिकों के कष्ट निवारणार्थ पूरा सहयोग दे। यदि स्वागतकर्ता राज्य में राजनीतिक अस्थिरता के कारण शान्ति-व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है तो उन राष्ट्रिकों को दूतावास में शरण दी जाती है। गृहयुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की स्थिति में राजनयिक मिशन अपने राष्ट्रिकों को स्वदेश लौटने अथवा सुरक्षित स्थानों पर पहुँचने में सहायता देते हैं। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध के समय खाड़ी देशों में स्थित भारतीय राजनयिक मिशनों ने वहाँ फसे भारतीयों को सुरक्षित रूप से भारत पहुँचाने में महती भूमिका का निर्वाह किया था। युद्धरत राज्यों के बीच राजनयिक सम्बन्ध टूट जाने पर तटस्थ राज्यों के राजनयज्ञों को राष्ट्रिकों की रक्षा का दायित्व सौंपा जाता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों के समय स्विट्जरलैण्ड तथा स्वीडन द्वारा यह कार्य किया गया था। वर्तमान में भी स्विटजरलैण्ड और आस्ट्रिया द्वारा इस कार्य का सम्पादन किया जाता है।

2. प्रतिनिधित्व (Representation) : प्रत्येक राजनयज्ञ दूसरे देशों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने देश का प्रतिनिधित्व करता है। एक प्रतिनिधि के रूप में राजनयज्ञ अपने राज्य तथा सरकार का प्रतीक होता है तथा उनके विचारों को अभिव्यक्त करता है। राजनयज्ञ को उसके देश का मुँह और कान कहा गया है। वह अपने देश के दृष्टिकोण को बड़ी चतुरता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है। किसी प्रश्न के बारे में उसके व्यक्तिगत विचार चाहे कुछ भी हों, किन्तु दूसरे देशवासियों को वह उन्हीं विचारों को बताएगा जो उसके देश की सरकार के हैं। अपनी सरकार के प्रतीक तथा प्रवक्ता के रूप में कार्य करते हुए राजनयज्ञ विदेशों में अपने देश के लिए मित्रता में वृद्धि करता है और इसके लिए वह वहाँ के व्यापारी, समाजसेवी, शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ एवं सरकारी नेताओं से सम्पर्क स्थापित करता है। वह अपने देश की नीतियों पर प्रकाश डालता है।

वरिष्ठ राजनयज्ञ एवं राजनयिक मिशन के अध्यक्ष महत्वपूर्ण अवसरों (जैसे शादी, मृत्यु संस्कार, राज तिलक आदि) पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे देशों की सद्भावना यात्रा द्वारा वहाँ की स्थिति की जानकारी प्राप्त करते हैं। वे अन्य राजदूतों के सम्मान में भोज देते हैं तथा दूसरों द्वारा दिए गए भोजों में शामिल होते हैं। हेरोल्ड सीमर (Harold Seymour) के कथनानुसार एक अच्छा भोज राजनय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हो सकता है। अधिकांश देश अपने राजनयज्ञों को व्यय के लिए पर्याप्त धन देते हैं ताकि वे दूसरे राज्य की सद्भावना प्राप्त कर सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले राजनयिक पद सम्पन्न लोगों को सौंपे जाते थे ताकि वे धन व्यय करने में संकोच न करें।

3. पर्यवेक्षण एवं प्रतिवेदन (Observation and Reporting) : राजनयज्ञों की सहायता से एक देश की सरकार अपने विदेशी मामलों का कूटनीति सबंधों के विकास में सहायक बन सकती है, संचालन कर पाती है। प्रत्येक राजनयिक मिशन अपने देश को सामयिक प्रतिवेदन भेजता रहता है। इन प्रतिवेदनों में स्वागतकर्ता देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सैनिक परिस्थितियों और विचाराधीन व्यवस्थापन, नवीन उत्पादन एवं उद्योग, तकनीकी उपलब्धियों तथा शिक्षा में होने वाले परिवर्तन आदि का विवरण होता है। इस जानकारी को प्राप्त करने के लिए उनको सूचना के सभी स्रोतों एवं सांख्यिकीय आँकड़ों का निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए। सभी सूचनाओं को एकत्रित

कर उनका मूल्यॉकन करने के लिए विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। औपचारिक राजनयिक प्रतिनिधियों से यह आशा नहीं की जाती कि वे दूसरे देश में जाकर गुप्तचर का कार्य करें किन्तु वास्तविक व्यवहार में ऐसा होता है। दूसरे देश के गुप्त भेदों को जानने के लिए तथा अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए अनेक राजनयज्ञ जासूसी कार्यवाही करते हैं। शीतयुद्ध के समय पाश्चात्य और साम्यवादी देश एक दूसरे पर राजनीतिक जासूसी करने का आरोप लगाते थे।

4 सन्धि वार्ताएँ (Negotiations) राजनय का यह कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जॉर्ज एफ केनन ने इसे मुख्य राजनयिक कार्य कहा है। राजनयज्ञ व्यक्तिगत रूप से किसी राज्य के साथ समझौता वार्ता करता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अनेक राज्यों के साथ वार्ता करता है। दोनों ही अवसरों पर वह अपने राष्ट्रीय हित में यह कार्य करता है। राजनयज्ञ दो देशों के बीच उत्पन्न विवादों को दूर करने का प्रयास करता है किन्तु सच्चे अर्थ में वह मध्यस्थ नहीं होता है। वह तो अपने देश के पक्ष में सौदेबाजी करता है। सन्धि वार्ता के कई स्तर होते हैं राज्याध्यक्षों के बीच सन्धि वार्ताएँ, विदेश सचिवों द्वारा पत्र व्यवहार के माध्यम से सन्धि वार्ताएँ तथा विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन। सभी प्रकार की सन्धि वार्ताओं को सफल बनाने में राजनयिक प्रतिनिधियों की अहम् भूमिका होती है।

5 प्रशासन (Administration) राजनयिक मिशन की दिन प्रतिदिन की प्रशासनिक गतिविधियों का सचालन करने का दायित्व भी राजदूत का ही है। वह अपने दूतावास की प्रशासनिक गतिविधियों का नेतृत्व और नियत्रण करता है।

राजनय के प्रयोग की विधियाँ
(Procedure for Implement of Diplomacy)

राजनय की विभिन्न विधियों का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना तथा विश्व जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। सयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्त मानव अधिकार विश्व जनमत और अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि की दुहाई देकर अधिकॉश राज्य अपने इन लक्ष्यों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं। इस हेतु राज्य आदर्शवादी नारों जैसे स्वतन्त्रता समानता मानव अधिकार विश्व शान्ति आदि का प्रयोग करते हैं। पाश्चात्य गुट यदि स्वतन्त्रता और मानव अधिकार की दुहाई देता है तो साम्यवादी जगत समानता और विश्व शान्ति के नारों को दोहराता रहा। राज्य अपने व्यापारिक वाणिज्यिक तथा अन्य लाभों के लिए व्यापारिक प्रतिरोध (Trade Embargos) का दबाव के साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। राजनय के प्रयोग की परिधि अत्यन्त व्यापक है। इसमे सयुक्त राष्ट्रसघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय सस्थाओं के अर्द्ध ससदीय तरीकों से लेकर युद्ध की धमकी स्मृतिपत्रों (Memories) और सयुक्त विज्ञप्ति से लेकर सम्मेलनों तथा शिखर वार्ताओं तक सभी सम्मलित हैं।[1]

प्राचीन काल मे राजनय का जो भी स्वरूप रहा हो आज यह सस्थागत बन गया है। आधुनिक युग मे राजनय का प्रयोग वार्ता सद्‌भाव अनुनय मेल मिलाप मध्यस्थता जॉच आयोग, समझौता आदि के माध्यम से होता है। साथ ही यह भी सही है कि बडी शक्तियाँ

1 डॉ एम पी राय वही, पृ 31

छोटे राज्यों पर दबाव के राजनय का प्रयोग भी करती हैं। सहायता की कूटनीति में यह दबाव की राजनीति परिलक्षित होती है। समय और परिस्थिति के अनुसार राजनय की किसी भी विधि या सभी विधियों या एकाधिक विधियों को प्रयोग में लाकर राष्ट्रीय हित-सवर्द्धन किया जाता है। राजनय की कार्यविधि को स्पष्टत और रोचकता के साथ समझाते हुए क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने लिखा है "राजनय समझौते से चलता है जिसमें विरोधी को कम से कम देना पड़े सौदेबाजी द्वारा एक क्षेत्र से देकर दूसरे क्षेत्र में लिया जा सके प्राप्त होने वाले लाभों का पुरस्कार दिया जाये मीठे शब्दों के साथ बल प्रदर्शन की तैयारी हो मखमल के दस्ताने में छिपा हुआ घूँसा हो युद्ध की धमकियाँ आर्थिक प्रतिबन्ध व्यापारिक भेद-भाव ऋणों की अस्वीकृति तथा दूसरे प्रतिबन्धक उपाय हों तृतीय पक्ष का समर्थन या तटस्थता प्राप्त की जाये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को रिश्वत देकर या प्रचार के माध्यम से या आश्वासनों द्वारा विरोधी वर्गों को विभाजित करके जनमत को पक्ष में किया जाये। ये उपाय विशेषत तब प्रयुक्त होते हैं जबकि विरोधी पक्ष लगभग तुल्य बल वाले हों अधिकांश बातों में परस्पर विरोधी हों, तथा जब वार्ता द्विपक्षीय हो। राजनय खतरनाक तृतीय पक्ष के विरुद्ध सामान्य मोर्चा बनाने के आधार पर भी कार्य करता है। कानून, नैतिकता, मानवता एवं सभ्यता की दुहाई दी जाती है तथा सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहयोग से होने वाले लाभों पर बल दिया जाता है।"[1]

राजनय का महत्व
(Significance of Diplomacy)
अथवा
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय का स्थान
(Place of Diplomacy in International Politics)

मानवीय प्रयत्नों में राजनय वास्तव में शान्ति स्थापना और राष्ट्रीय शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावकारी साधन है। इसके माध्यम से राज्य अपने प्राथमिक उद्देश्यों और राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय का महत्व बढ़ता ही जा रहा है। मैटरनिक टेलेरां अथवा डॉ हेनरी कीसिंजर राजनय की सहायता से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला पाये। यह वह साधन है जिसकी सहायता से जटिल से जटिल समस्याओं का हल किया जा सकता है। राजनय के माध्यम से की गई समस्या के हल के लिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अथवा बैठक का व्यय एक छोटे से छोटे युद्ध के व्यय से कहीं कम होता है। सन् 1991 में अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिए मैड्रिड में आयोजित शिखर सम्मेलन पर किया गया व्यय किसी भी अरब-इजरायल युद्ध पर किये गये व्यय की तुलना में बहुत कम था। राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य शक्ति साधनों में शक्ति के प्रयोग तथा प्रभावोत्पादन का सबसे सरल सुलभ और सस्ता साधन है जिसका भार निर्धन राष्ट्र भी उठा सकता है। युद्ध द्वारा स्थापित प्रभाव धन, समय और सर्वनाश का कारण है जबकि राजनय के माध्यम से स्थापित प्रभाव समृद्धि शक्ति व विकास का जन्म दाता है।[2]

1 *Quincy Wright* International Relations p 159

2 डॉ एम पी राय - वही, पृ 37

हँस जे मॉर्गेन्थो के अनुसार राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण मे जो भी तत्व योग देते हैं उनमे सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनय या कूटनीति की उत्तमता है भले ही यह तत्व कितना ही अस्थायी क्यों न हो। राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करने वाले अन्य सभी तत्व तो वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढी जाती है। यह राष्ट्र के राजनय की उत्तमता ही है जो इन तत्वों को एक लडी में गूँथती है उन्हें दिशा और गुरुता प्रदान करती है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति की साँसें प्रदान कर जाग्रत करती हैं। किसी राष्ट्र के विदेशी मामलों का उनके कूटनीतिज्ञों द्वारा सचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि युद्ध के समय राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा व्यूह रचना और दाव पेचों का सचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित मामलों मे अधिकाधिक प्रभावी रूप से प्रयोग मे लाया जा सकता है।[1]

मॉर्गेन्थो का मत है कि राष्ट्रों को अपने राजनय पर विभिन्न तत्वों के उत्प्रेरक के रूप में अवलम्बित रहना चाहिए जो कि राष्ट्र की शक्ति के अग होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का महत्व अतीत मे भी रहा है और आधुनिक युग में तो यह अत्यधिक बढ गया है। एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी पौलाद (Leou B Poullada) *के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कूटनीति का स्थान इसलिए भी महत्वपूर्ण* है क्योंकि कूटनीति का अधिक अच्छा ज्ञान (1) शक्ति और प्रभाव के अध्ययन को (Studies of Power & Influence) (2) महत्वपूर्ण अन्त क्रियाओं के अध्ययन को (Studies of Strategic Interactions) (3) सौदेबाजी और समझौता वार्ता सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Bargaining and Negotiations) एव (4) निर्णय करने सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Decision making) सुधारता है।[2]

राजनय शान्ति सरक्षण युद्धो को रोकने और मैत्री स्थापित करने का एक मात्र सफल साधन है। सौहार्द्रपूर्ण वातावरण मे की गई समझौता वार्ता एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझाने में सहायक होती है। इस प्रकार की वार्ताओं से मित्रता प्रगाढ होती है तथा भावी गलतफहमियों को दूर कर भावी सहयोग के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राजनय मानव के लिए शान्ति स्थापना का सर्वोच्च प्रभावकारी उपकरण है।

---

1 *Morgenthau Politics Among Nations* p 135 37
2 *David S Mclellan William C Olson Fred A Sandermann* The Theory and Practice of International Relations 1974 (Article by Leou B Poullada) p 199

2

राजनय राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में

(Diplomacy as a Weapon and Tool of National Power)

राजनय राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करता है। राष्ट्रीय हितों की प्रगति के लिए शक्ति के जो विभिन्न तत्व हैं उन्हें राजनय के माध्यम से ही वास्तविक रूप में प्रभावी बनाया जा सकता है।

राजनय राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। विदेश नीति को चाहे जितनी अच्छी तरह योजनाबद्ध किया जाए, उसकी सफलता अन्ततोगत्वा उत्तम और कुशल राजनय पर निर्भर करती है। एक सही, सुनियोजित, विवेकपूर्ण और सक्रिय कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि में जितना महत्वपूर्ण योग दे सकती है उतना अन्य कोई साधन नहीं।

हैंस जे मॉर्गेन्थो के अनुसार "उत्तम श्रेणी की कूटनीति विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधन को राष्ट्रीय शक्ति के साधनों से सामंजस्य स्थापित कर देगी। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगी और उन्हें पूर्ण स्थायी रूप से राजनैतिक यथार्थता में परिणत कर देगी। राष्ट्रीय प्रयत्नों को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्वों जैसे—औद्योगिक सम्भावनाएँ, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय मनोबल का प्रभाव बढ़ा देगी।" इस प्रकार से उत्तम और कुशल राजनय से राष्ट्रीय शक्ति में निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है।

राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना और मान्यता द्वारा राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि

(Promotion of National Interest through Recognition and the Establishment of Diplomatic Relations)

जब कोई भी नया राज्य स्वतन्त्रता प्राप्त करके अस्तित्व में आता है तो अन्य देशों की सरकारें सामान्यतः उसे मान्यता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार जब कोई नई सरकार वैधानिक और व्यवस्थित प्रक्रिया से सत्तारूढ़ होती है अथवा जब राज्य में उसका निर्विवाद प्रभुत्व स्थापित होता है तो अन्य सरकारें सामान्यतया उसे अपनी मान्यता प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार की मान्यता देने के कूटनीतिक या राजनयिक कदम के पीछे राज्य के अपने हित

निहित होते हैं। मान्यता देने वाली सरकार समझती है कि अमुक राज्य या अमुक सरकार को मान्यता देने अथवा दूसरे राज्यों और सरकारों से राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना करने से उसके हितों का संवर्द्धन होगा। आज के विश्व में प्रत्येक राज्य की सुरक्षा और कल्याण आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर है कि अन्य राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध कहाँ तक सन्तोषजनक है।[1] राजनयिक सम्बन्धों के माध्यम से एक सरकार अन्य राष्ट्र की नीतियों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकती है वह अपने लिए एक सम्मानजनक वातावरण का निर्माण कर सकती है और अपनी नीतियों के लिए दूसरे राज्यों का क्रियात्मक समर्थन प्राप्त कर सकती है। राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना द्वारा लाभकारी वाणिज्यिक और सांस्कृतिक आदान प्रदान को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। जो नागरिक विदेशों की यात्रा करते हैं और वहाँ अपने व्यापार का विस्तार करते हैं उनके हितों की भी सुरक्षा हो जाती है।

कभी कभी सरकारे अपनी मान्यता सशर्त देती हैं अर्थात् मान्यता प्रदान करने के बदले मे किसी 'समर्थन' की माँग करती है या कोई 'परिवर्तन' चाहती है। जब कभी ऐसा होता है तो प्राय दूसरी सरकारें जिनकी नीतियों से अमुक समर्थन या परिवर्तन टकराता है अपनी आपत्ति प्रकट करती है। फ्रास ने 1778 ई में सयुक्तराज्य अमेरिका को मान्यता दी जिसका एक उद्देश्य ब्रिटेन को कमजोर बनाना था। इस मान्यता के साथ एक सन्धि की गई थी जिसका अर्थ था युद्ध में सहभागिता। प्रथम महायुद्ध काल मे मित्रराष्ट्रों ने चैकोस्लोवाकिया के नए राज्य की सरकार को उस समय ही मान्यता दे दी जबकि उसका राज्य के किसी भी क्षेत्र पर वास्तविक नियन्त्रण था ही नहीं। स्पेन के गृहयुद्ध के प्रारम्भ मे ही इटली और जर्मनी दोनों ने फ्रौंको के क्रान्तिकारी गुट को मान्यता देते हुए अनेक ऐसे कदम उठाए जिनसे फ्रौंको-गुट की विजय सुनिश्चित हो जाए।

कभी कभी सरकार मान्यता रोक भी देती है—विशेषकर तब जबकि वह किसी परिवर्तन का विरोध करती है या कोई परिवर्तन न चाहकर यथास्थिति की समर्थक होती है। सयुक्तराज्य अमेरिका का यह रवैया रहा है कि उसने प्राय क्रान्तिकारी सरकारों को मान्यता देने मे सकोच प्रदर्शित किया है या लम्बे समय तक उन्हे मान्यता नहीं दी। बहुत से लेटिन अमेरिकी राज्यों को अमेरिका ने तत्काल मान्यता देने से इन्कार किया क्योंकि सत्ता परिवर्तन असाँविधानिक तरीकों से हुआ था। पर इसका यह मतलब नहीं है कि अमेरिका 'साँविधानिक परिवर्तन' का हिमायती था बल्कि बात यह थी कि अमेरिका पिछली सरकार का पतन नहीं चाहता था अर्थात नई क्रान्तिकारी सरकार को सत्तारूढ नहीं देखना चाहता था साम्यवादी चीन के लिए अमेरिकी मान्यता वर्षों तक अधर में लटकी रही। सन् 1971 ई में सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा साम्यवादी चीन को मान्यता दी गई जबकि वह 1 अक्टूबर 1949 ई को ही विश्व मानचित्र पर अस्तित्व मे आ गया था। जनवरी 1992 को भारत ने इजरायल को मान्यता दे दी है।

1 Vernon Van Dyke International Politics p 248

राष्ट्रीय शक्ति के हथियार और साधन के रूप में राजनय पर मॉर्गेन्थो के विचार
(Morgenthau on Diplomacy as a Weapon and Tool of National Power)

राजनय को राष्ट्रीय शक्ति से भिन्न करके नहीं देखा जा सकता। राजनय राष्ट्रीय शक्ति का एक अत्यन्त प्रभावशाली हथियार और साधन है राष्ट्रीय हितों की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व राजनयज्ञों पर है। सफल राजनज्ञ वही है जो राष्ट्रीय स्वार्थों को परार्थपरक या उससे अविरोधी के रूप में दिखाये। किसी भी देश की विदेश-नीति निर्माण का प्रेरक तत्व राष्ट्रीय हित हुआ करता है। किसी भी राजनय का मूलभूत एवं सर्वोच्च उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा तथा उनकी अभिवृद्धि होता है। मॉर्गेन्थो ने तो राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में योग देने वाले सभी तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनय को माना है। पिछले अध्याय में एक स्थल पर उद्धृत किये गये मॉर्गेन्थो के इन शब्दों को हम पुन. दोहराना चाहेंगे—"राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करने वाले अन्य सभी तत्व तो वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढ़ी जाती है। यह राष्ट्र के राजनय की उत्तमता ही है जो इन तत्वों को एक लड़ी में गूँथता है उन्हें दिशा और गुरुता प्रदान करता है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति की साँसें प्रदान कर जाग्रत करता है। किसी राष्ट्र के विदेशी मामलों का उसके कूटनीतिज्ञों द्वारा सचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि युद्ध के समय। राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा व्यूह-रचना और दाव पेचों का-सचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित मामलों में अधिकाधिक प्रभावी रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है।"

मॉर्गेन्थो ने राजनय को राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क (Brain of National Power) माना है और राष्ट्रीय मनोबल या हौसले को उसकी आत्मा (National morale is its soul) की सज्ञा दी है। यदि राजनय का दृष्टिकोण दूषित है इसके निर्णय गलत है तो अन्य तत्व अन्ततोगत्वा एक राष्ट्र के लिए कम योगदान दे पाएँगे। राजनय में पिछड़ जाने पर एक देश अन्ततोगत्वा अपने अन्य तत्वों के लाभों को भी खो बैठेगा और अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति में असफल रहेगा या बहुत दुर्बल सिद्ध होगा। मॉर्गेन्थो का स्पष्ट मत है कि अन्त में ऐसे राष्ट्र को उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना ही पड़ेगा जिसकी कूटनीति अपने अन्य राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का सम्पूर्ण प्रयोग करती है और इस तरह अन्य क्षेत्रों की कमी की पूर्ति अपनी स्वय की श्रेष्ठता से करने में सफल हो जाती है। अपने राष्ट्र की शक्ति-सम्भावनाओं का पूर्ण जानकारी प्रयोग कर एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति को उस सीमा से कहीं अधिक बढ़ा सकती है जितनी कि अन्य तत्वों के समन्वय के उपरान्त कोई आशा कर सकता है। उन्हीं के शब्दों में, "इतिहास में प्राय. बुद्धि तथा आत्मा से रहित 'गोलियथ' 'डेविड' द्वारा मारा गया है जिसके पास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी का राजनय विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधनों का राष्ट्रीय शक्ति से प्राप्त साधनों से सामञ्जस्य स्थापित कर देगा। वह राष्ट्रीय शक्ति गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगा और उन्हें स्थायी

रूप से राजनीतिक सत्ताओं में परिणत कर देगा। राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्वों जैसे औद्योगिक सम्भावनाओं सैनिक तैयारी राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय हौसले का प्रभाव बढ़ा देगा। यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप से विदित हों तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सदुपयोग कर सामान्यतया किन्तु युद्ध के समय विशेष रूप से उच्चतम शिखर पर पहुँच सकती है।

मॉर्गेन्थो ने अपने विवरण में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जगत् के उदाहरणों को प्रचुर मात्रा में गिनाते हुए यह बताया है कि राजनय किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क है तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का अत्यन्त शक्तिशाली तत्व है। दो महायुद्धों के बीच संयुक्तराज्य अमेरिका ने उस राष्ट्र का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया जो शक्तिशाली होने के बावजूद विश्व मामलों में हल्की भूमिका अदा करता है। संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति इतनी शिथिल रही कि वह अपनी शक्ति के पूर्ण प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर केन्द्रित नहीं कर सका। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर संयुक्तराज्य की शक्ति का असर निराशाजनक प्रतीत हुआ क्योंकि अमेरिकी कूटनीति इस तरह संचालित हुई मानों अमेरिका की भौगोलिक स्थिति के लाभ उसके प्राकृतिक साधनों उसकी औद्योगिक सम्भावनाओं जनसंख्या गुण आदि तत्वों का अस्तित्व ही न हो। सन् 1890 से 1914 ई के मध्य का फ्रॉस एक ऐसे राष्ट्र का उदाहरण है जो अन्य पक्षों में बुरी तरह पिछड़ गया हो लेकिन केवल शानदार राजनय (Brilliant Diplomacy) के बल पर शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँच गया हो। सन् 1870 ई में जर्मनी के हाथों बुरी तरह पराजित होने के बाद फ्रॉस एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया और बिस्मार्क की जादुई कूटनीति ने उसे यूरोप के राष्ट्रों से अलग अलग कर बराबर द्वितीय श्रेणी की शक्ति ही बनी रहने दिया लेकिन 1890 ई में बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश नीति रूस से दूर होने लगी वह ग्रेट ब्रिटेन की शकाओं के समाधान के लिए इच्छुक नहीं रही और जर्मनी विदेश नीति की इन त्रुटियों का फ्रॉसीसी राजनय ने पूरा लाभ उठाया। 1894 में फ्रॉस ने रूस से किए गए 1891 के राजनीतिक समझौते में सैनिक सन्धि को जोड़ दिया और 1904 तथा 1912 में उसने ग्रेट ब्रिटेन से औपचारिक समझौते किए। 1914 में जहाँ फ्रॉस ने एक समृद्ध मित्रराष्ट्र को अपना मददगार पाया वहाँ जर्मनी के एक मित्र इटली ने अपने मित्र को ही धोखा दे दिया और जर्मनी के अन्य मित्रों आस्ट्रिया हंगरी बल्गेरिया तथा टर्की आदि की कमजोरियाँ भी जर्मनी पर भार बन गईं। मॉर्गेन्थो के अनुसार यह कार्य फ्रॉस के प्रतिभावान कूटनीतिज्ञों माइल बैरे (इटली में फ्रॉस का राजदूत) जल्सकेंबोन (जर्मनी में फ्रॉस का राजदूत) पील केंबोन (ब्रिटेन में फ्रॉस का राजदूत) मोरिस पोलियो लोग (रूस में फ्रॉस का राजदूत) आदि का था।

पुनश्च दोनों विश्व महायुद्धों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रोमानिया ने अपने साधनों की तुलना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी उसका मुख्य श्रेय एक व्यक्ति अर्थात् विदेश मन्त्री हिटुलेस्कयु को था। इसी प्रकार इतने छोटे तथा अनिश्चित स्थिति में होने के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी में बेल्जियम ने जो शक्ति प्राप्त कर ली थी वह उसके

तीक्ष्ण बुद्धि वाले तथा चुस्त राजा लिओपोल्ड प्रथम व लिओपोल्ड द्वितीय के व्यक्तित्व के कारण थी। सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन की कूटनीति ने तथा उन्नीसवीं शताब्दी में तुर्किस्तान की कूटनीति ने उनके राष्ट्रीय क्षय की खाई को कुछ समय के लिए पाटे रखा था। ब्रिटिश शक्ति के उतार-चढ़ाव ब्रिटिश कूटनीति की उत्तमता के परिवर्तनों से जुड़े रहे हैं। कार्डिनल वूल्जे, कासलरे तथा कनिंग ब्रिटिश कूटनीति के उच्चतम शिखर का प्रदर्शन करते हैं जबकि लॉर्ड नार्थ तथा नेवाइल चैम्बरलेन दोनों ह्रास के द्योतक हैं। रिचैलू मज्‍ारिन अथवा तेलेराँ की कूटनीति के बिना फ्रांस की शक्ति क्या होती ? बिना बिस्मार्क के जर्मनी की शक्ति क्या होती ? बिना कैवूर के इटली की शक्ति क्या होती ? इसी तरह नवीन अमेरिकी गणतन्त्र अपनी शक्ति के लिए क्या फ्रेंकलिन, जेफरसन, मैडीसन एडम्स के प्रति ऋणी नहीं है जो उसके राजदूत व राज्य-सचिव थे ? और भी उदाहरण लें तो सन् 1890 में बिस्मार्क के राजनीतिक मंच से हट जाने के उपरान्त जर्मनी कूटनीति के गुणों में गम्भीर तथा स्थायी गिरावट आ गई। फलस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की क्षति का अन्त उस सैनिक परिस्थिति में हुआ जिसका सामना उसे प्रथम विश्व महायुद्ध में करना पड़ा। सन् 1933 से 1940 तक की जर्मनी कूटनीति की विजय एक व्यक्ति हिटलर के मस्तिष्क की विजय का परिणाम थी और उस मस्तिष्क के क्षय के कारण ही नाजी शासन के अन्तिम वर्षों में उसे विध्वंसकारी दुर्घटनाओं को सहन करना पड़ा था।

मॉर्गेन्थो का मत है कि राष्ट्रों को अपने राजनय पर उन विभिन्न तत्वों के उत्प्रेरक के रूप में अवलम्बित रहना चाहिए जो कि राष्ट्र की शक्ति के अंग होते हैं दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार भी ये विभिन्न तत्व कूटनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर हावी कराए जाते हैं, वही उस क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति का रूप होता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैदेशिक राजनय संगठन सदा उत्तर अवस्था में रहे।

राष्ट्रीय शक्ति के शक्तिशाली साधन के रूप में राजनय को प्रतिष्ठित करते हुए लिखा है : "अनेक लोगों को राजनय का कार्य नैतिक दृष्टि से चाहे जितना भी अनाकर्षक प्रतीत हो, राजनय उन सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों में शक्ति के लिए संघर्ष का लक्षण है, जो आपस में सुव्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना चाहते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से शक्ति के लिए संघर्ष को रोकने का कोई उपाय होता, तब राजनय स्वयं ही लुप्त हो जाती। यदि विश्व के राष्ट्रों का व्यवस्था एवं अराजकता, शान्ति एवं युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तब वे राजनय का त्याग कर युद्ध की तैयारी कर सकते थे तथा सर्वोत्तम परिणामों की आशा कर सकते थे। यदि राष्ट्र, जो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, जो अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं तथा जिनके ऊपर कोई उच्चाधिकारी नहीं हैं पारस्परिक सम्बन्धों से शान्ति एवं व्यवस्था का संरक्षण चाहते हैं तब उन्हें अनुनय, समझौते तथा एक-दूसरे पर दबाव डालने का अवश्य प्रयत्न करना होगा। इसका अर्थ यह कि उन्हें राजनयिक प्रक्रियाओं का अवश्य प्रयोग एवं विकास करना होगा तथा उन पर निर्भर करना होगा।"[1] उपर्युक्त

1 Morgenthau, Politics Among Nations (Hindi) p. 646-47

विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनय राष्ट्रीय-शक्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण या साधन है।

राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप मे राजनय की सफलता के लिए नौ नियम
(The Nine Rules' for the Success of Diplomacy as a Tool of National Power)

मॉर्गेन्थो का विचार है कि आधुनिक युग मे कुछ ऐसे विकास हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप 'राजनय' की प्रभावशीलता को आघात पहुँचा है तथापि यदि राजनय उन तरीकों का पुन प्रयोग करे जिनके द्वारा सुदूर अतीत से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित हुए हैं तो इसकी उपयोगिता का पुन प्रवर्तन हो सकता है। मॉर्गेन्थो ने राजनय के 'नौ नियमों'[1] का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से यह 'समायोजन द्वारा शान्ति (Peace Through Accomodation) स्थापित कर सकता है और राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित सवर्द्धन के एक शक्तिशाली साधन के रूप में पुन प्रतिष्ठित हो सकता है।

1 राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा (**Diplomacy must be divested of the crusading spirit**) यह उन नियमों में से पहला नियम है जिसकी *अवहेलना राजनय युद्ध का सकट लेकर ही कर सकता है। कोई भी धर्म अथवा मत पूर्ण* सत्य नहीं होता अत अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे शेष ससार पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई भी प्रयत्न शान्ति के लिए घातक होगा। विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा एक विश्वव्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में नहीं की जानी चाहिए। धर्मयुद्धीय भावना से रहित होकर ही राजनय को उन वास्तविक समस्याओं का सामना करने का अवसर प्राप्त होगा जिनके लिए शान्तिपूर्ण समाधान आवश्यक है। राष्ट्रवादी विश्ववाद की धर्मयुद्धीय महत्वाकाँक्षाओं के परित्याग पर ही राजनय राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित-सम्वर्द्धन का एक सफल साधन सिद्ध हो सकता है।

2 विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ मे अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ठ शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा (**The objectives of Foreign Policy must be defined in terms of the national interest and must be supported with adequate power**) *शान्ति सरक्षण राजनय का यह दूसरा नियम* है। एक शान्ति-प्रिय राष्ट्र के राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में हो सकती है, तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एव इसकी सस्थाओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिए। तब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है जिसकी राजनय को यथेष्ठ शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी।

3. राजनय को राजनीतिक क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा (Diplomacy must look at political scene from the point of view of other nations) राजनय को यदि उसे राष्ट्रीय हित-सम्वर्द्धन की दृष्टि से सफल होना है

1 *Morgenthau* Politics Among Nations (Hindi), p 646-47

दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण और राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखना चाहिए। "आत्म-प्रशंसा की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वभावतः क्या आशा अथवा किस से भय करते हैं, इस विचार के पूर्णतः अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिए और कुछ भी घातक नहीं है।"

4. राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा (Nations must be willing to compromise on all issues that are not vital to them) यही राजनय का कार्य सबसे अधिक कठिन है। प्रत्येक राष्ट्र के स्थायी और अस्थायी दो प्रकार के हित हैं। अस्थायी हित अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, अतः ऐसे राष्ट्रीय हितों पर समझौता करने की भावना रखनी चाहिए।

5. यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिए (Give up the shadow of worthless rights for the substance of real advantage). समझौता करते समय राजनयज्ञ को अमूर्त बातों की अपेक्षा तथ्यात्मक वस्तुओं को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिए। राजनयज्ञ के समक्ष वैधता एवं अवैधता के बीच नहीं, वरन् राजनीतिक विवेक एवं राजनीतिक मूर्खता के बीच विकल्प होता है।

6 अपने आपको कभी ऐसी स्थिति में न रखिए जहाँ से आप बिना प्रतिष्ठा गंवाए पीछे नहीं हट सकते तथा जहाँ से आप बिना गम्भीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते (Never put yourself in a position from which you cannot advance without grave risks) : राजनीतिक परिणामों से असावधान रहकर एक राष्ट्र किसी ऐसी स्थिति के साथ अनन्यता स्थापित कर सकता है, जिसे अपनाने का उसे अधिकार हो भी सकता है और नहीं भी,और तब फिर समझौता होना कठिन हो जाता है। अपनी प्रतिष्ठा में गम्भीर हानि के बिना एक राष्ट्र उस स्थिति से पीछे नहीं हट सकता। राजनीतिक संकटों, और सम्भवतः युद्ध के संकट के प्रति अपने को प्रस्तुत किए बिना यह उस स्थिति से आगे भी नहीं बढ़ सकता। अरक्षणीय स्थितियों में असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय में उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य राजनय का लक्षण है। सन् 1870 ई के फ्रेंको-प्रशियन युद्ध के ठीक पहले नैपोलियन तृतीय की नीति तथा प्रथम महायुद्ध के ठीक पहले आस्ट्रिया एवं जर्मनी की नीतियाँ इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये उदाहरण यह भी प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध के संकट और इस नियम के उल्लंघन में कितनी घनिष्टता है।

7. एक निर्बल सहयोगी राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिए (Never allow a weak ally to make decisions for you) : राजनय की दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि उसके लिए कोई निर्बल राज्य निर्णय न ले। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल सहयोगी राष्ट्र अपनी विदेश नीति के ध्येयों एवं तरीकों को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है। तब शक्तिशाली राष्ट्र अपने को इस स्थिति में पाता है कि उसे ऐसे हितों को अवलम्बन देना होगा, जो उसके अपने नहीं हैं तथा वह उन प्रश्नों पर समझौता करने के लिए असमर्थ है जो उसके लिए नहीं, वरन् उसके सहयोगी-राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण हैं।

1853 के क्रीमिया युद्ध के ठीक पहले टर्की ने जिस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को बाध्य किया उसमें इस नियम के उल्लंघन का श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। यूरोपीय-संघ (The Concert of Europe) रूस तथा टर्की के बीच के संघर्ष के निपटारे के लिए एक समझौते को प्रायः स्वीकार कर चुका था। उसी समय टर्की ने यह जानते हुए कि रूस के साथ युद्ध होने पर पाश्चात्य शक्तियाँ इसकी सहायता करेंगी उस युद्ध के आरम्भ के लिए पूरा प्रयत्न किया। फलतः ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में अन्तर्ग्रस्त होना पड़ा। इस प्रकार टर्की ने अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस के लिए युद्ध और शान्ति के प्रश्न का बहुत अंश में निर्णय किया। यद्यपि ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस के राष्ट्रीय हितों के लिए रूस के साथ आवश्यक नहीं था और वे इसके आरम्भ को रोकने में प्रायः सफल हो गए थे तथापि उन्हें वह निर्णय स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने कार्य की अपनी स्वतन्त्रता को एक ऐसे निर्बल सन्नित-राष्ट्र को समर्पित कर दिया था जिसने उनकी नीतियों पर अपने नियन्त्रण का अपने हितों के लिए प्रयोग किया।

8 सशस्त्र सेनाएँ विदेश नीति की यन्त्र हैं, इसकी स्वामी नहीं (**The Armed Forces are the instruments of foreign policy, not its master**) *· इस नियम के पालन के बिना कोई सफल एवं शान्तिपूर्ण विदेश-नीति सम्भव नहीं है। यदि सेना विदेश नीति के साध्यों एवं साधनों को निर्धारित करे तो कोई भी राष्ट्र समझौते की नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। सशस्त्र सेनाएँ युद्ध के यन्त्र हैं विदेश नीति शांति का एक यन्त्र है। युद्ध का लक्ष्य सरल एवं शर्तरहित है अर्थात् शत्रु की इच्छा को भंग करना। इसके ढंग भी समान* रूप से सरल एवं शर्तरहित हैं अर्थात् शत्रु के कवच के सबसे अधिक भेद्य स्थान पर अधिक से अधिक हिंसा का प्रयोग करना। फलतः सैनिक नेता अवश्य ही दुराग्रही ढंग से विचार करेगा। विदेश-नीति का उद्देश्य सापेक्ष एवं सशर्त है। अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए दूसरे पक्ष के महत्वपूर्ण हितों को हानि पहुँचाएँ बिना जितना आवश्यक हो उतना दूसरे पक्ष की इच्छा को तोड़ना नहीं वरन् झुकाना। विदेश-नीति के ढंग सापेक्ष एवं सशर्त हैं अपने मार्ग की बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ना नहीं वरन् उनके समक्ष पीछे हटना उन पर विजय पाना उनके समीप चाले चलना, तथा अनुनय वार्ता एवं दबाव की सहायता द्वारा उन्हें धीरे-धीरे मन्द एवं विघटित करना। परिणाम यह है कि राजनयज्ञ का मस्तिष्क जटिल एवं सूक्ष्म होता है। अपने समक्ष प्रश्न को वह इतिहास में एक क्षण के रूप में देखता है, तथा कल की विजय के परे वह भविष्य की असीम सम्भावनाओं की प्रत्याशा करता है।

9 सरकार जनमत की नेता है, इसकी दास नहीं (**The Government is the leader of public opinion, not its slave**) *· यदि विदेश नीति के संचालन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति इस नियम का अविच्छिन्न रूप से ध्यान नहीं रखते तो वे राजनय के पूर्वगामी नियमों का भी अनुपालन नहीं कर सकेंगे। जनमत की अभिरुचियाँ युक्तिसंगत होने की अपेक्षा भावनापूर्ण होती हैं। यदि राजनयज्ञ लोक भावावेग से प्रभावित होकर विदेश* नीति सम्बन्धी निर्णय लेगा तो वह राजमर्मज्ञ के रूप में अपना अनिष्ट और साथ ही अपनी विदेश-नीति का अनिष्ट आमन्त्रित करेगा। एक राजनयज्ञ को लोक-भावावेग के समक्ष न

तो आत्मसमर्पण करना चाहिए और न ही उसे इसकी अवहेलना करनी चाहिए। उसे ऐसा मार्ग अपनाना चाहिए कि वह दोनों स्थितियों के अनुकूल रह सके। एक शब्द में, उसे नेतृत्व अदश्य करना होगा।

मॉर्गेन्थो ने यह प्रतिपादित किया है कि "यदि कोई राष्ट्र राजनय को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास राजनय या कूटनीति को कार्यान्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हित-सम्वर्द्धन के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा भी नहीं लेना चाहता या नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का ही परित्याग करना होगा।" इस तरह से राजनय शक्ति के संरक्षण का सबसे उत्तम साधन है।

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए राजनय के मूलभूत कार्य
(Substantive Functions of Diplomacy for the Promotion of National Interest)

राजनय का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित का सम्वर्द्धन तथा निर्धारित नीति के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न है। राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए राजनय के जो मूलभूत कार्य हैं उन्हें विभिन्न विचारकों, राजदूतों और राजनीतिज्ञों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में हम हिन्दू नीति शास्त्रियों के मत, विख्यात राजनयज्ञ सरदार पन्निकर, पामर एवं पर्किन्स, क्विन्सी राइट, ओपेनहीम, वाइल्ड्स तथा पैडलफोर्ड एवं लिंकन के मत, लियो पी. पौलाद के मत आदि का विस्तार से उल्लेख प्रथम अध्याय में 'राजनय के कार्य' (Functions of Diplomacy) नामक शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं।

3

राजनय के साधन एवं तरीके, राजनयिक व्यवहार का विकास–राजनय के यूनानी, इटालियन, फ्रॉसीसी और भारतीय मत

(Means and Methods of Diplomacy, Evolution of Diplomatic Practice–Greek, Italian, French and Indian School of Diplomacy)

राजनय एक कला है जिसे अपनाकर विश्व के विभिन्न राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि कर के अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करते हैं। यदि राजनय के साधन तथा लक्ष्यों के बीच असंगति हो तो देश कमजोर होता है, बदनाम होता है तथा उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य को ऐसे साधन अपनाने चाहिए जो दूसरे राज्यों में उसके प्रति सद्भावना और विश्वास पैदा कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य अपनी नीतियों को स्पष्ट रूप से समझाएँ, दूसरे राज्यों के न्यायोचित दावों को मान्यता दें तथा ईमानदारी का व्यवहार करें। बेइमानी तथा चालबाजी से काम करने वाले राजनयज्ञ अल्पकालीन लक्ष्यों में सफलता प्राप्त कर लेता है किन्तु कुल मिलाकर वे राष्ट्र का अहित ही करते हैं। अतः उत्तम राजनय का महत्व निर्विवाद है।

राजनय के साधनों का निर्णय करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इसका मुख्य उद्देश्य राज्य के प्रमुख हितों की रक्षा करना है। ठीक यही उद्देश्य अन्य राज्यों के राजनय का भी है। अतः प्रत्येक राज्य को पारस्परिक आदान प्रदान की नीति अपनानी चाहिए। प्रत्येक राज्य के राजनयज्ञों को कम से कम त्याग द्वारा अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके लिए विरोधी हितों के बीच समझौता करना जरूरी होता है। समझौता तथा सौदेबाजी का यह नियम है कि कुछ भी प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता है। राष्ट्रों के बीच यह आदान प्रदान की प्रक्रिया राजनय का व्यावहारिक सत्य है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि शक्तिशाली बड़े राज्य ने दूसरे कमजोर राज्य को अपनी मनमानी शर्तें मानने के लिए बाध्य किया तथा समझौतेपूर्ण आदान प्रदान की प्रक्रिया न अपनाकर एक पक्षीय बाध्यता का मार्ग अपनाया। इस प्रकार लादी गई शर्तों का पालन सम्बन्धित राज्य केवल तभी तक करता है जब तक कि वह ऐसा करने के लिए मजबूर होता है और अवसर पाते ही वह उनसे मुक्त हो जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को सैनिक आर्थिक व्यापारिक एवं प्रादेशिक दृष्टि

से बुरी तरह दबाया। उस समय जर्मनी एक पराजित और दबा हुआ राज्य था। अतः उसने यह शोषण मजबूरी में अस्वीकार कर लिया किन्तु कुछ समय बाद हिटलर के नेतृत्व में जब वह समर्थ बना तो उसने इन सभी शर्तों को अमान्य घोषित कर दिया तथा विश्व को द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका को सहन करना पड़ा। अतः यह स्पष्ट है कि पारस्परिक आदान प्रदान ही स्थायी राजनय का आधार बन सकता है। बाध्यता, बेईमानी, धूर्तता, छल कपट एवं केवल शक्ति पर आधारित सम्बन्ध अल्पकालीन होते हैं तथा दूसरे पक्ष पर विरोधी प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप उनके भावी सम्बन्धों में कटुता आ जाती है।

राजनय के साधनों और तरीकों का विकास राज्यों के आपसी सम्बन्धों के लम्बे इतिहास से जुड़ा हुआ है। इन पर देश काल की परिस्थितियों ने भी प्रभाव डाला है और राजनयिक व्यवहार भी तदनुसार बदलता रहा है। विश्व के विभिन्न देशों के इतिहास का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनयिक आचार का तरीका प्रत्येक देश का अपना विशिष्ट रहा है। यहाँ हम यूनान, इटली, फ्रांस तथा भारत में अपनाए गये राजनयिक आचार के तरीकों का अध्ययन करेंगे।

यूनानी राजनयिक व्यवहार
(The Greek Diplomatic Practice)

राजनय का इतिहास यूनानी नगर राज्यों से प्रारम्भ होता है। यूनानी सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में नगर राज्यों के राजदूतों को अग्रदूत (Heralds) कहा जाता था। इनका कार्य केवल सन्धि वार्ता करने तक ही सीमित नहीं था वरन् ये राजकीय गृहस्थी के संचालन, सभाओं एवं परिषदों में व्यवस्था की स्थापना तथा धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन आदि का कार्य भी करते थे। यूनानी सभ्यता के विकास के साथ साथ नगर राज्यों के सम्बन्ध जटिल एवं स्पर्द्धापूर्ण बन गए। अब सन्धि वार्ता के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता पड़ी जो ओजस्वी तथा प्रभावशाली वक्ता हों, जिनकी तीव्र स्मरण शक्ति एवं बुलन्द आवाज हो ताकि वे दूसरे नगर राज्यों की लोकसभाओं के सम्मुख अपने नगर का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकें और उसकी जोरदार पुष्टि कर सकें। राजनयिक पदों पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाने लगा जो पुरातत्ववेत्ता, एक कुशल वक्ता, राजनीतिक सम्बन्धों का विद्वान् तथा मनोवैज्ञानिक थे। प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसीडाइडस (Thucydides) के विवरणों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय के राजदूतों की वक्तृताएँ पर्याप्त ओजस्वी तथा बड़ी दिलचस्प होती थीं।

यूनानी राजनयज्ञ (Diplomat) ये कार्य सम्पन्न करते थे : स्वागतकर्ता राज्य से सम्बन्धित सूचना एकत्रित करना, लोकप्रिय नगर राज्य के सम्मुख अपने राज्य के हितों के समर्थन में सभी तरीके अपनाना, विदेशी राज्य के सम्बन्ध में सामयिक प्रतिवेदन तैयार करना, विदेशी राज्य में अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना आदि। उस समय थ्यूसीडाइडस द्वारा राजनयज्ञ के रूप में सम्पन्न किये गए कार्य आज भी अध्ययन की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं। उसने विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए सन्धि वार्ता और सम्मेलनात्मक राजनय के तरीके अपनाए। नगर राज्यों में स्पार्टा तथा एथेंस प्रधानतम थे। यहाँ अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों की अच्छी परम्पराएँ विकसित हुईं। एथेंस संगठन और भावना की दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक था। यहाँ व्यापारिक एवं समुद्रपारीय सम्पर्क की

दृष्टि से निवासियों को तीन भागों मे वर्गीकृत किया गया—दास विदेशी और एथेंस के नागरिक। अन्य राज्यों के साथ उसके सम्पर्क का रूप प्रजातन्त्रात्मक था। यहाँ का राजनय व्यापार वाणिज्य और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं से प्रभावित था। यूनान के इन नगर राज्यों द्वारा राजनयिकों को अनेक उन्मुक्तियाँ एवं विशेषाधिकार प्रदान किए जाते थे। प्रारम्भ से ही वैदेशिक सम्बन्धों की रचना मे इन राजनयिकों का योगदान न केवल महत्वपूर्ण वरन् व्यापक भी था।

यूनानी नगर राज्यों के आपसी सम्बन्धों ने अनेक रीति रिवाजों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपनी शैशवास्था में था। एथेंस स्पार्टा एवं थेब्स आदि नगर राज्यों ने आपसी सम्बन्धों का विकास अपनी आन्तरिक नीति सुविधा और सुरक्षा सम्बन्धी रणनीति को ध्यान मे रखकर किया था। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के बीज तत्कालीन धार्मिक राजनीतिक संघों में देखे जा सकते हैं। उस काल में राजनयज्ञों की अनतिक्रम्यता शरणदान का अधिकार मृतकों के दाह संस्कार के लिए युद्ध विराम तथा धार्मिक मेलों के समय तनाव को रोक देना आदि परम्पराएँ अपनाई जाती थीं। नगर राज्यों की लोकसभाओं में विदेशों से स्वदेश के राजदूतों द्वारा भेजे गए प्रतिवेदनों पर आलोचनात्मक विचार किया जाता था। उनके सुझावों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं पर विचार कर आवश्यक निर्देश दिए जाते थे। राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न होने पर पंच फैसले द्वारा उसके समाधान की परम्पराएँ प्रचलित थीं। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की दृष्टि से यूनानियों द्वारा विकसित दो प्रक्रियाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—(क) ये शक्ति के आधार पर शान्ति की स्थापना करते थे। बाद में रोमन सम्राटों ने भी इस व्यवहार को अपनाया। (ख) ये न्यायाधिकरण द्वारा विवादों को सुलझाने के लिए शान्ति सन्धियां करते थे और उनके द्वारा स्वतन्त्र राज्यों की शक्ति को नियन्त्रित कर शक्ति संतुलन की स्थापना करते थे।

यूनानी नगर राज्यों के राजनयिक व्यवहार को संक्षेप में निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है

(i) यूनानी काल में राजनयिक सन्धि वार्ताएँ मौखिक रूप से हुआ करती थीं। सैद्धान्तिक रूप में इन वार्ताओं का पूरा प्रचार किया जाता था।

(ii) सन्धियाँ खुले मे की जाती थीं तथा उनके अनुसमर्थन के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से शपथों का आदान प्रदान करते थे। गुप्त सन्धियाँ अपवाद स्वरूप थीं। उनको उचित नहीं समझा जाता था।

(iii) यूनानी नगर राज्य तटस्थता और पंच फैसले से पूर्ण रूप से परिचित थे। तटस्थता का अर्थ था चुप बैठ जाना। वे विवादों को तय करने के लिए पंच फैसले की प्रक्रिया अपनाते थे। 300 से लेकर 100 वर्ष ईसा पूर्व तक के काल में पंच फैसले के 46 मामलों का उल्लेख मिलता है।

(iv) यूनानी नगर राज्यों द्वारा विकसित सर्वाधिक उपयोगी संस्था वाणिज्य दूतों (Consuls or Proxenos) की थी। ये वाणिज्य दूत उसी नगर के मूल निवासी होते थे जहाँ इनको रखा जाता था। ये अपने राज्य में नियुक्तिकर्ता राज्य के हितों की देखभाल करते थे। उनका पद पर्याप्त सम्मानजनक समझा जाता था और अनेक प्रतिभाशाली लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक इस पद पर कार्य किया। यह पद प्रायः वंश परम्परागत बन जाता था।

इन पदाधिकारियों का कार्य न केवल सम्बन्धित देश के व्यापारियों के हितों की देखभाल करना होता था वरन् ये राजनयिक मन्त्रिदलों की पहल भी करते थे।

(५) पाँचवीं शताब्दी ई. तक यूनानियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था। वे आपसी सहयोग एवं संगठन के महत्त्व से परिचित थे। उन्होंने युद्ध की घोषणा, शान्ति स्थापना, सन्धियों का अनुसमर्थन, पंच-फैसला, तटस्थता, राजदूतों का आदान-प्रदान, वाणिज्य दूतों के कार्य, युद्ध के कुछ नियम आदि से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों का विकास कर लिया था। वे विदेशियों की स्थिति, नागरिकता, शरणदान, प्रत्यर्पण एवं समुद्र-व्यापार आदि से सम्बन्धित विषयों को परिभाषित कर चुके थे। स्पष्ट है कि यूनानियों ने राजनयिक व्यवहार के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति करली थी।[1] इस प्रकार से यूनानियों ने राजनय के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

यूनानी काल के राजनय की आलोचना करते समय यह तर्क दिया जाता है कि यूनानी लोग अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की धारणा से अपरिचित थे जिसके बिना श्रेष्ठ राजनयिक यन्त्र भी निष्क्रिय हो जाता है। सामान्य यूनानी की अपने नगर राज्य के प्रति स्वामिभक्ति इतनी गहरी होती थी कि वह अन्य नगर-राज्यवासियों को अपना सम्भावित शत्रु और शेष असभ्यों को स्वाभाविक दास मानता था। राजनयिक सम्बन्धों की विचित्र प्रशंसनीय धारणा के होते हुए भी यूनानियों का राजनयिक आचार कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था—

(i) वे परस्पर इतने ईर्ष्यालु थे कि इससे उनकी अन्तरक्षा की आवश्यकता को भी हानि पहुँचती थी।

(ii) यूनानी लोग स्वभाव से अच्छे राजनयज्ञ नहीं थे। अत्यन्त चतुर एवं चालाक होने के कारण वे अत्यधिक सन्देहशील थे। फलतः उनके अविश्वास के कारण कोई सन्धि वार्ता सफल नहीं हो पाती थी।

(iii) यूनानी नगर-राज्यों में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के दायित्वों का सही विवरण न होने के कारण राजनयिक कार्यों में कठिनाइयाँ एवं भ्रम पैदा हो जाते थे। यूनानी यह नहीं खोज पाए कि प्रजातन्त्रात्मक राजनय को स्वेच्छाचारी राजनय की भाँति कैसे कार्यकुशल बनाया जा सकता है? यही गलती उनके विनाश का कारण बन गई। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था होने के कारण उनके निर्णय न तो गुप्त रहते थे और न ही शीघ्र लिए जाते थे। उनके राजदूत सर्वशक्ति सम्पन्न नहीं होते थे अतः छोटे-छोटे निर्णयों में भी विलम्ब हो जाता था। उस काल की जनसभाएँ अनुत्तरदायी थीं। स्वयं के निर्देशानुसार कार्य करने वाले राजदूत के कार्यों को भी रद्द कर देती थी।

रोमन राजनयिक व्यवहार
(The Roman Diplomatic Practice)

रोमन लोग यूनानियों की तुलना में अधिक बर्बर थे, अतः वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास नहीं कर सके। यूनानियों ने सन्धि वार्ता पद्धति को विकसित किया था और राजनयिक प्रक्रिया के माध्यम से विदेशियों से सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास व्यक्त किया था, किन्तु रोमन लोगों ने सैनिक शक्ति पर अधिक विश्वास किया। वे राजनयज्ञ की बजाय

1 "......the general diplomatic practice of city states was unexpectedly advanced."
—Harold Nicolson

विजेता अधिक थे। रोमन लोगों ने राजनयिक तौर तरीकों के स्थान पर सीधी कार्यवाही (Direct Action) पर अधिक विश्वास किया। उन्होंने अपनी सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए यह तरीका अपनाया कि दो या अधिक राष्ट्रों के बीच संघर्ष के समय वे कमजोर का पक्ष लेते क्योंकि उनका विश्वास था कि इस नीति से दोनों ही पक्ष रोम के राजनीतिक अनुग्रह के आकांक्षी बने रहेंगे। कमजोर का पक्ष लेने से वह तो रोम के प्रभाव को मानेगा ही किन्तु कमजोर का पक्ष लेकर जब शक्तिशाली को उखाड़ फेंका जाएगा तो वह शक्तिशाली पक्ष भी रोम का प्रभाव मानने को मजबूर हो जाएगा। रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र मे युद्ध की वैधानिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार उनकी दृष्टि मे वही युद्ध वैधानिक होता था जिसकी औपचारिक घोषणा की गई हो और जिसके लिए एक विशेष धर्म गुरु द्वारा धार्मिक समारोह का आयोजन करा लिया गया हो।

रोमन लोग युद्ध और शान्ति दोनो ही कार्यों मे विदेशी राजनीतिज्ञों का स्वागत करते रहे। ये राजदूत को सामान्यतया Legatus कहते थे और कभी कभी Nuncial भी कह देते थे। यह शब्द अधिकांशत युद्ध अथवा शान्ति के लिए वार्ताकार के साथ लगाया जाता था। रोमन सीनेट नियमित रूप से विदेशों मे अपने देश के राजदूत भेजती थी। रोमन कानून राजदूतों की अनतिक्रमयता (Inviolability) को मान्यता देता था। विख्यात राजनीतिक विचारक सिसरो ने जो रोम मे राजदूत बनकर आया था इस सम्बन्ध मे लिखा है— "राजदूतों की अनतिक्रम्यता दैवीय तथा मानवीय दोनो ही कानूनो से है। वे पवित्र और आदरणीय है ताकि वे अनतिक्रम्य बने रहें। यह केवल मित्रराष्ट्र मे ही नहीं है अपितु शत्रु की सेना में घिरे होने पर भी है। रोमन कानून के अन्तर्गत राजदूत के सहयोगी भी अनतिक्रम्य थे। राजदूतों के पत्र व्यवहार और उनके लिए अनिवार्य वस्तुओं को अनतिक्रम्य समझा जाता था। राजदूत जब किसी तीसरे राज्य मे से गुजरता तो भी उसे अनतिक्रम्य का विशेषाधिकार प्राप्त था। राजदूत पर किया गया कोई भी हमला रोमन अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) का उल्लंघन माना जाता था। राजदूत पर क्षेत्रीय बाह्यता का सिद्धान्त भी लागू होता था अर्थात् कोई समझौता तोडे जाने पर राजदूत राज्य के न्यायालय मे मुकदमा नहीं चलाया जाता था वह स्थानीय कानूनों से उन्मुक्त था। रोमन सीनेट राजदूतों को राजकीय अतिथियों जैसा सम्मान देती थी।

रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र मे एक प्रशिक्षित पुरालेखपाल (Archivist) की पद्धति प्रदान की। पुरालेखपाल राजनयिक दृष्टांतों और प्रक्रियाओं मे प्रवीण व्यक्ति होते थे। आज भी राजनय की एक महत्वपूर्ण शाखा पुराने लेखों सन्धियों अभिलेखो आदि की रक्षा करना और उन्हे व्यवस्थित रखना है। रोमन लोगों ने पुरालेखागारों अथवा लेखों से सम्बन्धित कार्य को राजनयिक व्यवहार (res diplomatica or Diplomatic Business) की संज्ञा दी है। इस प्रकार के लेखों को व्यवस्थित रखने की पद्धति रोमन लोगो की एक महत्वपूर्ण देन है।

रोमन लोगों ने राज्यों की समानता के सिद्धान्त का कभी आदर नहीं किया। इसका कारण यह था कि रोमन लोगों को अपनी सर्वश्रेष्ठता मे विश्वास था वे अन्य किसी राज्य को अपने समकक्ष नहीं समझते थे। यही कारण है कि रोमन काल में समानता के आधार पर राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना करने और सन्धि वार्ता करने के क्षेत्र में कोई विकास

नही हो सका। रोमन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना तो की लेकिन राजनयिक भाईचारे के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विकसित नहीं किया। यूनानी सभ्यता के मूल तत्वों से रोमन लोग लगभग अप्रभावित थे।

रोमन राजनय पर डॉ एस पी दुबे का अध्ययन

डॉ शुकदेव प्रसाद दुबे ने राजनय अथवा कूटनीति के इतिहास में अपने अध्ययन मे प्राचीन रोमन राजनयिक आचार पर प्रकाश डालते हुए लिखा है[1]—

'रोमन विजयों ने जिस विश्व राज्य का निर्माण किया उसमें पार्थियन हिन्दू और चीनी सभ्यताएँ ही ऐसी थीं जो उसकी सीमा परिधि के बाहर थीं। अत इस राजनीतिक वातावरण में रोम को किसी विशेष कूटनीतिक विधान की आवश्यकता नहीं थी। उसका काम केवल अपनी राज्य सीमा को बर्बर आक्रमणों से सुरक्षित रखना था फिर भी रोमन साम्राज्य के वैदेशिक मामले काफी दिलचस्प थे। प्राचीनकाल से ही रोम के युद्ध और शान्ति की परिस्थितियों पर जो भी कूटनीतिक वार्ता आवश्यक होती थी वह एक विशिष्ट कूटनीतिक सस्था (Collegiuma Fetialium) अर्थात् कॉलेज ऑफ फैटियल्स को सौंपी जाती थी। रोमन धारणा के अनुसार सभी युद्ध उचित थे यदि वे औपचारिक रीति से तब घोषित किये गए जब सभी शान्तिपूर्ण प्रयास विफल हो चले थे। युद्ध के पूर्व फेटियल्स कॉलेज का मुखिया जिसे पेटरस कहते थे सीनेट को सूचित करता था कि उसका शान्तिपूर्ण हल निकालने की सारी कूटनीतिक वार्ता निष्फल सिद्ध हो गई। युद्ध प्रारम्भ करने के निर्णय के उपरान्त वह एक खूनी भाला शत्रु के स्थल पर फेंकता था। यह अनुष्ठान जुपीटर आदि देवताओं के आह्वान् के साथ शपथ लेकर किया जाता था। जब रोम के विस्तार के साथ ही फिटीयल्स का प्रतिनिधित्व राजदूत करने लगे तो भाला फेंकने की औपचारिक प्रणाली ने एक प्रतीकात्मक स्वरूप ले लिया और शत्रु के स्थल के स्थान पर भाला मैर्टियर्स प्राग अथवा वेलूना के मन्दिर के सामने फेंका जाने लगा। फिटीयल्स को सन्धि स्थापना का भी कार्य दिया जाता था। विदेशी राजदूतों को सीनेट से फरवरी के महीने में कैपिटाल के निकट ग्रेकास्टियेसस के अवसर पर प्रत्यक्ष वार्ता करने का भी अवसर मिलता था। साम्राज्यवादी युग आने के साथ यह कार्य सम्राट ने स्वय अपने हाथों में लिया। रोम द्वारा की गई सभी सन्धियाँ असमान थीं क्योंकि वे विजित प्रदेशों के शासकों पर सदैव के लिए थोप दी जाती थीं। रोम का जसजेन्टियम अर्थात् वह विधान जिसके अन्तर्गत उन कानूनी सिद्धान्तों का विकास हुआ था जो रोमन नागरिकों की विदेशी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये गए थे सही अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधान नहीं था यद्यपि यह उन सम्बन्धों का भी मार्गदर्शन करता था जो रोमन साम्राज्य अपने पडोसियों से स्थापित करता था।

ग्रीक सस्कृति के प्रति पूर्ण सम्मान और निष्ठा रखते हुए भी रोमन साम्राज्यवादियों ने ग्रीक अन्तर्राष्ट्रीय सहिता का अनुकरण नहीं किया। इसका कारण स्पष्ट ही था। जहाँ ग्रीक अन्तर्राष्ट्रीय विधान उस सस्कृति के स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न आवश्यकता की देन था वहाँ रोमन साम्राज्य दूसरे देशों के प्रति एक विस्तारवादी दृष्टिकोण अपना चुका था और शीघ्रातिशीघ्र विजित कर उनका विलय अपने साम्राज्य मे करना चाहता

1 डॉ शुकदेव प्रसाद दुबे अधुनिक विश्व का कूटनीतिक इतिहास भाग 1 पृ 15-40

था अर्थात् उनका विश्व साम्राज्य ग्रीक राज्य व्यवस्था के विघटन पर ही सम्भव था। रोमन साम्राज्य अनेक जातियों एव राष्ट्रीयताओं का सकलन था और जहाँ केन्द्रीय सत्ता ने स्थानीय राष्ट्रीयताओं को कुछ भी स्थानीय अधिकार देना उचित नहीं समझा था। अत ग्रीक राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली रोमन कूटनीतिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल थी। 395 ई मे रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।

राजनयिक आचार का इटालियन तरीका
(Italian Method of Diplomatic Practice)

इटली को आधुनिक सगठित एव व्यावसायिक राजनय का जनक माना जाता है। यह माना जाता है कि प्रथम दूतावास की स्थापना मिलान (Milan) के ड्यूक फ्रॉसेस्को स्फोरजा ने सन् 1455 ई मे जेनोवा में की थी। सन् 1496 ई मे वेनिस सरकार ने दो व्यापारियों को उप राजदूत बनाकर लन्दन भेजा। कुछ समयोपरान्त इटली के अन्य राज्यों ने भी लन्दन पेरिस तथा अन्य यूरोपीय राजधानियों मे अपने दूतावास स्थापित किए। 16वीं शताब्दी के अन्त तक स्थायी दूतावास अथवा प्रतिनिधयावास नियुक्त करने की परम्परा को अधिकांश यूरोपीय राज्यों ने भी अपना लिया।

मध्ययुग के अन्त तक इटली मे वेनिस तथा फ्लोरेंस जैसे नगर बसा लिये गए थे। अब गैर धार्मिक मामलों में पोप की सर्वोच्चता नहीं रही थी। सामन्तवादी ठिकानो तथा स्वतन्त्र नगरों ने आपस मे मिलकर बडे नगरों की स्थापना की। इन नगरों को महत्वाकांक्षी पडोसियों तथा प्राचीन शाही परिवारों से हमेशा सजग रहना पड़ता था। ये अपनी विलुप्त शक्ति को पुन प्राप्त करने के लिए कोई भी तरीका अपना सकते थे। फ्रॉस स्पेन तथा जर्मनी आदि का बाहरी शक्तियों से आपसी मनमुटाव और सघर्ष सतत् रूप से चलता रहता था। इन परिस्थितियों में राजनय का महत्व बहुत अधिक बढ गया। कमजोर राज्य अपनी स्वतन्त्रता एव आत्म रक्षा के लिए राजनयिक तरीकों से शक्तिशाली राज्य से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे। राजनय के क्षेत्र में इटली के योगदान का अध्ययन करने से पूर्व निम्नलिखित पहलुओं पर विचार करना उपयुक्त रहेगा

वेनिस का राजनय (The Venetian Diplomacy)

मध्ययुग में राजनयिक कला में सर्वाधिक पारगत राज्य वेनिस गणराज्य था। 16वीं शताब्दी में उसके राजदूत वियना पेरिस मेड्रिड तथा रोम में कार्यरत थे। वेनिस वालों का पूर्व के साथ दीर्घकालीन घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था अत उन पर बाइजेंटाइन की राजनयिक विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। दोहराव तथा सदेह के दोष यहाँ के राजनय में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ राजदूतों का चयन उनकी योग्यता के आधार पर सावधानी से किया जाता था। राजनय का सगठित व्यवहार सर्वप्रथम यहीं पर अपनाया गया। यहाँ के राजदूतों को सर्वाधिक व्यवहार कुशल एव अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से परिचित माना जाता था। वेनिस के राजनयिक व्यवहार की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1 राज्याभिलेखागारों को व्यवस्थित रूप में रखने का श्रीगणेश करने का श्रेय वेनिसवासियों को है। उनके नौ शताब्दियों (873 से 1797 तक) के राजनयिक अभिलेख

उपलब्ध होते हैं। इन अभिलेखों में राजदूतों को दिये गए निर्देश राजदूतों के अन्तिम प्रतिवेदन समाचार पत्र आदि शामिल हैं। वेनिसवासी यह जानते थे कि विदेश में रहने के कारण राजदूत अपने देश की गतिविधियों से अपरिचित हो जाता है अत उसे सामयिक सूचना भेजी जानी चाहिए। इन समाचार पत्रों को अविसी (Avvisi) कहते थे।

2 वेनिस वालों ने राजदूतों की नियुक्ति एव आचरण के सम्बन्ध में कुछ नियमों की रचना की थी। वेनिस का राजदूत केवल तीन या चार महीनों के लिए नियुक्त किया जाता था। 15वीं शताब्दी में इसके कार्यकाल की सम्भावित सीमा 2 वर्ष कर दी गई। राजदूत जिस देश को भेजा जाता था वहाँ वह कोई सम्पत्ति नही रख सकता था। यदि वहाँ उसे कोई भेंट या तोहफा प्राप्त होता था तो स्वदेश लौटने पर वह उसे राज्य को सौंप देता था। कार्यकाल में उसे कोई अवकाश नहीं दिया जाता था। लौटने पर 15 दिन के भीतर वह अपने कार्यों का अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करता था।

3 राजदूत अपने साथ पत्नी नहीं ले जाता था क्योंकि यह आशका थी कि गप्पें मारने मे समय खराब करके वह उसके कार्यों में बाधक बन जाएगी। राजदूत के साथ स्वय का रसोइया होता था ताकि विदेशी रसोइए द्वारा विष दिए जाने की आशका न रहे।

4 वेनिसवासियों की यह धारणा थी कि सभी विदेशी विशेष रूप से देशी राजदूत जासूसी करने के लिए आते हैं अत उनके व्यवहार को नियमित करने के लिए विशेष नियम बनाये गए। सन् 1481 ई में निर्मित एक नियम के अनुसार वेनिस के राजदूत किसी गैर सरकारी विदेशी के साथ राजनीतिक विचार विमर्श नहीं कर सकते थे। जो नागरिक विदेशी राजनयिकों के सार्वजनिक विषयों पर विचार विमर्श करते थे उनको दण्ड देने की व्यवस्था थी।

अन्य राज्यों की स्थिति (The Position of other States)

वेनिस के अतिरिक्त इटली के अन्य राज्यों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वे सामान्यत कमजोर थे। उनके पास राष्ट्रीय सेना नहीं थी। अपनी सुरक्षा के लिए वे भाडे के सैनिकों की सहायता लेते थे उनमें आन्तरिक फूट व्याप्त थी। जब उन पर विदेशी आक्रमण हुए तो बिना विरोध किए ही उनका पतन हो गया। उनकी आपसी फूट के कारण शान्ति व्यवस्था का रहना असम्भव था। सैनिक कमजोरी के कारण वे आत्मरक्षा के लिए राजनय की ओर मुडे। उस समय उनका राजनय किसी आदर्श विचार अथवा दीर्घकालीन लक्ष्य से सबद्ध नहीं था वरन् वे तत्कालीन हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उस समय के उत्तेजनपूर्ण तथा निर्दयतापूर्ण वातावरण में राजनयिक समझौतों में चालाकी धूर्तता छल कपट एव झूठ को अपनाया जाता था। इटली के इन राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता के कारण यहाँ का जन जीवन भी अस्त व्यस्त और अशान्त था।

मैकियावेली का योगदान
(The Contribution of Machiavelli)

मैकियावेली एक महान् राष्ट्रवादी था जो इटली की एकता का स्वप्न देखता था। उसका मत था कि आपसी फूट और कमजोरी इटली की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी तथा उसे हमेशा के लिए विदेशियों का दास बना देगी। अत उसने धर्म और नैतिकता से ऊपर

एक दृढ़ शक्तिशाली और तुरन्त निर्णय लेने वाले राजा का समर्थन किया जो अपने कुशल एवं चातुर्यपूर्ण राजनय द्वारा इटली को एक करके उसे फ्रॉस, स्पेन तथा जर्मनी की दासता से मुक्ति दिला सके। उसने राजा के पथ प्रदर्शन के लिए एक महान् कृति दी प्रिन्स (The Prince) की रचना की। इसे राजनय की एक युग प्रवर्तक कृति माना जाता है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों ने राजनय के इतिहास पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। इसमें व्यावहारिक राजनीति पर प्रकाश डाला गया है।

प्रिन्स में मैकियावेली ने राजा को जो शिक्षाएँ दी या उसके जिन कर्तव्यों को गिनाया है उनसे हमें मैकियावेली राजनय (Machiavellian Diplomacy) के दर्शन होते हैं। मैकियावेली ने लिखा है—"राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए साधन तो हमेशा आदरणीय ही माने जाएँगे और सामान्यतः उनकी प्रशंसा ही की जाएगी। राजा का काम आम खाना है गुठलियाँ गिनना नही। इसलिए उसका उद्देश्य यही होना चाहिए कि अपने काम मे अपने नैतिक या अनैतिक साधन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।" मैकियावेली द्वारा चित्रित आदर्श शासक का यही दृष्टिकोण है कि न कोई चीज अच्छी है और न कोई बुरी। जरूरत पर जो काम दे और फल दे वही चीज सबसे अच्छी है। राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासक साम दाम दण्ड और भेद बेईमानी हत्या प्रवचना आडम्बर आदि किसी भी उपाय का बल-पूर्वक प्रयोग कर सकता है। सच्चा राजा वही है जो शक्ति, धोखा और पक्षपात लेकर चले शेर की तरह शक्तिशाली हो और लोमड़ी की तरह चालाक हो। उसकी इसी नीति को 'व्याघ्र लोमड़ी नीति'(Lion and Fox Theory) कहा गया है। मैकियावेली के अनुसार साध्य की प्राप्ति हेतु साधनों की नैतिकता के चक्कर मे पड़ना मूर्खता है।

मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ डिसकोर्सेज के अध्याय 59 मे स्पष्ट लिखा है कि "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट मे हो तो राजाओं और गणराज्यों की रक्षा के लिए विश्वासघात तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" उसका स्पष्ट मत था कि सांसारिक सफलता सबसे बड़ा साध्य है जिसे पाने के लिए अनैतिक साधनों को अपनाना आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनों को पवित्र बना देती है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि मैकियावेली नैतिकता नाम की किसी बात से परिचित नहीं था। उसने तो नैतिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को राजनीति के क्षेत्र से दूर रखा है। उसने नैतिक गुणों की विशेषताओं को अस्वीकार नहीं किया है परन्तु राजनीतिक गुणों के लिए उन्हें आवश्यक नहीं माना है।

मैकियावेली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शासक की नीति शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन पड़ोसी राज्यों को आपस में सन्धि मे न बंधने दे जिनकी संयुक्त शक्ति उसके स्वयं के राज्य से अधिक हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि शासक पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनाए। अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखने के लिए वह पड़ोसी राज्यों को प्रलोभन अथवा शक्ति द्वारा अपना मित्र बनाले। जिन राज्यों को वह

युद्ध मे जीत ले उन्हें अपना उपनिवेश बनाकर वहाँ एक शक्तिशाली सेना रख दे। मैकियावेली ने शासक को युद्ध सम्बन्धी परामर्श भी दिया है कि उसे यथासम्भव घेरा डालने की अपेक्षा खुले मैदान में युद्ध नीति अपनानी चाहिए। सफलता प्राप्ति के लिए शासक को तुरन्त निर्णय लेने की आदत डालनी चाहिए। तुरन्त और दृढ़ निर्णय तथा उसकी शीघ्र कार्यान्विति द्वारा गम्भीर समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है।

मैकियावेली का विश्वास था कि यदि कोई राज्य दुनिया के मानचित्र पर रहना चाहता है तो उसे अपना प्रसार करना होगा अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा। विजय और प्रसार का निर्देश देने वाला उसका दर्शन शान्तिवादी नहीं था वरन् निरन्तर संघर्ष करते रहने का संदेश था। उसने अनुभव और निरीक्षण के आधार पर अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। मैकियावेली के विचार-दर्शन की कटु आलोचना की जाती है। उसे आलोचकों द्वारा युद्ध लोलुप नीतिहीन, धर्महीन, नीच व्यवहार का समर्थक धोखेबाज कुटिलता का पोषक एवं अमानवीय कहा गया है। इस सम्बन्ध में हेरोल्ड निकोल्सन (Harold Nicolson) का मत है कि मैकियावेली को उसके समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिए। वह अपने युग का शिशु था। उसने तत्कालीन इटली के दोषों का निराकरण करने के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए। वह किसी स्थाई सिद्धान्त का विकास नहीं कर रहा था। उसने उसी प्रभावशाली सत्य का प्रतिपादन किया जिसका अनुभव उसने अपने जीवनकाल में किया था। राजनय के सबंध में उसके विचार बहुत महत्त्व रखते हैं।

इटालियन राजनय की देन
(Contribution of Italian Diplomacy)

इटली के राज्यों ने पारस्परिक समझौते की जिस कला का विकास किया वह धीरे-धीरे अन्य राज्यों द्वारा अपना ली गई। 15वीं तथा 16वीं शताब्दियों में समझौते की इस प्रणाली का अध्ययन हेरोल्ड निकोल्सन ने निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया है—

1. **सन्धियों के लिए समझौते (The Negotiations of Treaties)** : 15वीं शताब्दी में इटली में सामन्तवादी परम्पराएँ व्याप्त थीं और पोप की सर्वोच्चता के विचार का प्रभाव था। इसके फलस्वरूप सन्धियों के लिए की जाने वाली समझौता वार्ताएँ अत्यन्त जटिल बन गई। कोई बड़ा राज्य ही यह दावा कर सकता था कि अमुक राज्य उसका अधिराज्य (Vassal) है और इसीलिए बिना उसकी स्वीकृति के वह दूसरे राज्यों के साथ सन्धि करने का अधिकार नहीं रखता। पोप भी कभी-कभी हस्तक्षेप करने का दावा करता था।

उक्त कठिनाइयाँ होते हुए भी इटालियन राज्यों के बीच समझौता वार्ताएँ प्रायः सपन्न होती थीं तथा स्पष्ट रूप से सन्धियाँ सम्पादित की जाती थीं। कुछ ऐसे प्रोटोकोल करने का भी रिवाज था जिनमें स्वीकृत बातों की सूची रहती थी किन्तु उन पर सन्धिकर्ता पक्ष हस्ताक्षर नहीं करते थे। पोप द्वारा स्वीकार की गई सन्धियाँ बाध्यकारी होती थीं। केवल पोप ही राजाओं को शपथ के भार से मुक्त कर सकता था।

सन्धि के अनुमोदन के लिए समारोह किया जाता था। यह माना जाता था कि यदि सर्वशक्तिसम्पन्न राजदूत कोई सन्धि करे तो उसे सम्प्रभु स्वीकार कर लेगा। ऐसा न करने

के परिणाम अत्यन्त भयकर हो सकते थे। ऐसी स्थिति मे राज्यों के बीच सभी सन्धिवार्ताएँ असम्भव हो जाती थीं। इटालियन राज्य राजनीतिक सन्धियों के अतिरिक्त व्यापारिक सन्धियाँ भी करते थे जिसमें आपसी व्यापार के प्रश्नों पर समझौता किया जाता था। सन् 1490 ई में इगलैण्ड तथा फ्लोरेंस के बीच व्यापारिक सन्धि की गई। इसके अन्तर्गत इगलैण्ड ने फ्लोरेंस को इटली में ऊन के व्यापार का एकाधिकार प्रदान किया और बदले में फ्लोरेंस ने अंग्रेज व्यापारियों को पीसा (Pisa) में निगम स्थापित करने की अनुमति दी।

2 सम्मेलनीय राजनय (The Diplomacy by Conference) 15वीं शताब्दी में सम्मेलन द्वारा राजनय का अधिक प्रचलन नहीं था। उस समय इसे अत्यन्त सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। उस समय का सम्मेलन राजनय सम्प्रभुओं अर्थात् राजाओं के व्यक्तिगत साक्षात्कार के रूप में होता था। उसमें यह खतरा निहित रहता था कि कहीं एक राजा दूसरे राजा का अपहरण न करले। इसी कारण यह साक्षात्कार सामान्यत एक पुल के बीच मे हुआ करते थे। सन् 1807 ई में नेपोलियन ने इस असामान्य तरीके को बदला। इन व्यक्तिगत साक्षात्कारों में कुछ निम्नलिखित दोष भी थे—

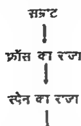
(क) यह तरीका पर्याप्त खर्चीला था क्योंकि प्रत्येक पक्ष पैसे को पानी की तरह बहा कर यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह अधिक सपन्न है। (ख) सम्मेलन से पूर्व दोनों पक्ष अपनी जनता की महत्वाकाँक्षाओं को बढ़ा देते थे। दूसरी ओर विदेशों मे उनके इरादों के प्रति सन्देह किया जाता था। इसके फलस्वरूप अनेक विरोधी अफवाहें फैल जाती थीं। (ग) इन साक्षात्कारों में होने वाले समझौते लिखित न होकर मौखिक होते थे। अत गलतफहमी के अवसर बढ़ जाते थे। (घ) इन साक्षात्कारों के कर्ता वो सम्प्रभु होते थे जो अपने बराबर वालों से बात करना नहीं जानते थे। एक-दूसरे की भाषा न जानने के कारण भी कठिनाइयाँ उपस्थित होती थीं। फलत साक्षात्कार का परिणाम कोई मैत्रीपूर्ण समझौता न होकर पारस्परिक विद्वेष के रूप में प्रकट होता था। इस सम्बन्ध में 15वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजनय फिलिप डी कोमिंस (Philippe de Comines) का यह कथन उल्लेखनीय है कि "यदि दो महान् राजा परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं तो उनको आमने-सामने कभी नहीं आना चाहिए वरन् अच्छे और बुद्धिमान राजदूतों के माध्यम से वार्तालाप करनी चाहिए।"[1]

पुनर्जागरण काल में राजनयिक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण दोष यह था कि समारोह सम्बन्धी प्रश्नों को अनावश्यक महत्व दिया जाता था। नए राजदूत के आने पर कई सप्ताह उसके स्वागत समारोहों एव परिचय-पत्रों की देख भाल मे ही व्यतीत किए जाते थे। इस काल मे राजदूत एव स्वागतकर्ता सम्प्रभु को अनेक ऐसे कार्य करने होते थे जो आज हमे अनावश्यक तथा अर्थहीन प्रतीत होते हैं।

3. अग्रत्व की समस्या (The Problem of Precedence) : इटालियन राजनय मे अग्रत्व की समस्या अत्यन्त गम्भीर थी। सिद्धान्तत राजदूत का स्तर उसके राज्य के स्तर

1 "Two great princes who wish to establish good personal relations should never meet each other face to face, but ought to communicate through good and wise ambassadors."
—Philippe de Comines

के अनुरूप होता था। सन् 1504 ई. में पोप जूलियस द्वितीय ने अग्रत्व की एक तालिका बनाई जो निम्न प्रकार थी—



इस सूची में पुर्तगाल छठवें और इंगलैण्ड सातवें नम्बर पर था। जब पोप की शक्ति का पतन हुआ और नये राष्ट्रीय राजतन्त्रों का उदय हुआ तो उक्त सूची का क्रम टूट गया। स्पेनवासियों ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि उनका स्थान फ्रांस के बाद है। इस आन्तरिक विरोध के फलस्वरूप राजदरबारों की स्थिति समझौता वार्ताओं एवं सन्धियों पर होने वाले हस्ताक्षरों में परिवर्तन आया। राज्यों के अग्रत्व को निर्धारित करने का कोई निश्चित तरीका न होने के कारण अनेक बार संघर्ष पैदा हो जाते थे। यहाँ तक कि राजदूतों को मल्लयुद्ध के लिए भी तैयार होना पड़ता था। सन् 1661 ई. में लन्दन में ऐसी ही घटना घटी। वहाँ जब स्पेनिश राजदूत की गाड़ी को फ्रांसीसी राजदूत की गाड़ी से आगे रखा गया तो संघर्ष प्रारम्भ हो गया तथा कई लोग हताहत हुए। स्पेन तथा फ्रांस के बीच राजनयिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए और वास्तविक युद्ध का भय हो गया। इसी प्रकार सन् 1768 ई. में लन्दन दरबार में हुआ। वहाँ जब फ्रांसीसी राजदूत ने यह देखा कि रूसी राजदूत आस्ट्रियन राजदूत के बाद वाली आगे की सीट पर बैठ गया है तो वह पीछे की सीटों पर चढ़ता हुआ आगे बढ़ा और उन दोनों के बीच जा बैठा। इसके परिणामस्वरूप मल्लयुद्ध छिड़ गया। इसमें रूसी राजदूत बुरी तरह घायल हो गया।

अग्रत्व की व्यवस्था से सन्धियों पर हस्ताक्षर करते समय भी कठिनाई पैदा होती थी। प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधि सन्धि पर पहले हस्ताक्षर करना चाहता था क्योंकि यदि उसने दूसरे राज्य के प्रतिनिधि से नीचे हस्ताक्षर किए तो यह उसके राज्य के सम्मान के विरुद्ध होगा। इस समस्या के निदान के लिए सम्मानान्तर में हस्ताक्षर करने की परम्परा अपनाई गई। इस तरीके में असुविधा होने पर एक अन्य व्यवस्था चालू की गई जिसके अन्तर्गत सन्धि की अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थीं और प्रत्येक पक्ष अपनी प्रतिलिपि पर पहले स्वयं हस्ताक्षर करता था बाद में शेष भागीदारों के हस्ताक्षर कराए जाते थे। इसके लिए अनावश्यक व्यय एवं समय की बर्बादी को अग्रत्व के नाम पर सहन किया जाता रहा। सन् 1815 की वियना कांग्रेस तक यही स्थिति बनी रही। वियना कांग्रेस में यूरोपीय राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि मध्य युग की अग्रत्व की परम्परा असह्य है तथा इसे बदला जाना चाहिए। अब राजनयिक प्रतिनिधियों को चार भागों में बाँटा गया। सर्वाधिक समय तक इस पद पर कार्य करने वाले वरिष्ठ राजदूत को राजनयिक निकाय का डीन अथवा डायन कहा

गया। तीन वर्ष बाद एश ला चेपल की सन्धि मे यह निर्णय लिया गया कि सन्धियों पर सन्धिकर्ता राज्यों को वर्णमाला के क्रम से हस्ताक्षर करने चाहिए।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इटली की पुनर्जागृति ने राजनय की जो प्रणाली विकसित की वह भ्रमपूर्ण तथा पर्याप्त स्पर्द्धापूर्ण थी। तत्कालीन राज्यों का राजनय सिद्धान्त एव व्यवहार दोनों दृष्टियों से उथला था। उस समय यह माना जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा न्याय हमेशा राष्ट्रीय हितों से गौण है। धोखेबाजी अवसरवादिता एव स्वामिभक्तिपूर्ण जैसी प्रवृतियों को बढ़ावा देकर इटली ने राजनय की कला को निन्दनीय बना दिया। जटिल परिस्थितियों में तात्कालिक परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से अच्छी समझौता वार्ता की क्रमिकता को भुला दिया गया। फलत सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिज्ञों का यह दायित्व हो गया कि एक अधिक बुद्धिमान तथा अधिक विश्वसनीय प्रणाली की खोज करें।

बीसवीं शताब्दी में इटली के राजनय का मूल उद्देश्य स्वार्थ सिद्धि रहा। जिसकी पूर्ति के लिए वह धूर्ततापूर्ण एव अवसरवादी तरीके अपनाये गये। सन्धि-वार्ता की कला में इटली के राजनयज्ञ विशेष रूप से दक्ष रहे। किसी देश से स्वार्थ सिद्धि के लिए वे पहले उस देश से अपने सम्बन्ध बिगाड़ लेते हैं और तब पुन सम्बन्धों को सुधारने का निमन्त्रण देते हैं। *सम्बन्ध सुधारने के आश्वासन के बदले मे वे अपनी आकाँक्षा पूर्ण कर लेते हैं।* इटालियन राजनयज्ञ द्वारा की जाने वाली सन्धि वार्ताएँ प्राय तीन प्रकार की होती हैं (क) इटालियन राष्ट्र में इतर पक्ष के विरुद्ध कल्पनात्मक विद्वेष और शत्रुत्व की भावना जाग्रत करना। (ख) जिस देश से सन्धि वार्ता करनी है उसके विरुद्ध कुछ न कुछ उत्पात मचाए रहना। (ग) अन्य पक्ष में ऐसी सुविधा या वस्तु माँगना जिसे लेने की वास्तविक इच्छा तो नहीं है किन्तु जिसे छोड़ देने पर अन्य पक्ष से अभीष्ट प्रतिफल सहज ही प्राप्त हो जाएगा। जब ऐसा होने की आशा नहीं रहती तो इतर पक्ष के विरोधी पक्ष से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ का सकेत भी कर दिया जाता है।[1]

4 इटेलियन राजनय की एक अन्य विशिष्ट विशेषता स्थायी और सगठित राजनयिक *सेवा का विकास करना था।*

5 राजनय को नैतिकता की जकड़न से मुक्त कर के इसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया *गया।*

राजनयिक आचार का फ्राँसीसी तरीका
(The French Method of Diplomatic Practice)

फ्राँसीसी राजनय को दो विचारकों ने बहुत अधिक प्रभावित किया वे थे—ग्रोशियस तथा रिचलू। इनमें से एक तो *अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता था और दूसरा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ* था। दोनों के राजनय सम्बन्धी विचारों के आधार पर ही फ्राँसीसी राजनय के आधार का रूप निर्धारित हुआ।

ग्रोशियस के विचार (Hugo Grotius on Diplomacy) : ग्रोशियस ने राजनय के सम्बन्ध में अग्रलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

1 राघवेन्द्रसिंह राजनय पृष्ठ 98

1 अपने समय के घातक संघर्ष की दृष्टि से ग्रोशियस ने कहा कि प्रोटेस्टेन्ट एवं कैथोलिक मतानुयायियों का एक दूसरे पर अपने विचारों को आरोपित करना अर्थहीन है। यदि ये विरोध और संघर्ष के स्थान पर प्रेम तथा सहयोग से सोचें तो मानवता अनेक कष्टों से मुक्त हो सकती है।

2 प्राकृतिक कानून (Natural Law) राज्यों संस्थाओं एवं सरकारों से स्वतन्त्र तथा इनसे अधिक प्राचीन और स्थायी होता है। यह व्यक्ति की बौद्धिकता पर निर्भर है। जब तक मानवता इस प्राकृतिक कानून को स्वीकृति एवं मान्यता नहीं देगी तब तक अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का समाधान नहीं हो सकता।

3 प्राकृतिक कानून का सामान्य रूप से पालन किए बिना शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त खतरनाक साबित होगा। जब तक दुनिया के शासक यह न सोचें कि उनके कार्यों एवं नीतियों को प्रभावित करने वाली उनकी राष्ट्रीय सुविधा ही नहीं है वरन् कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं तब तक न्यायपूर्ण समतुल्यता स्थापित नहीं की जा सकती।

4 प्राकृतिक कानून को प्रभावित एवं लागू करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। ग्रोशियस का मत था कि ईसाई राज्यों को एक ऐसे निकाय की रचना करनी चाहिए जहाँ प्रत्येक राज्य के विवादों को निःस्वार्थ पक्षों द्वारा सुलझाया जा सके। बुद्धिपूर्ण शर्तों को लागू करने के लिए कुछ साधन भी होने चाहिए।

ग्रोशियस द्वारा क्षेत्र बाह्यता (External Territoriality) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। उसने राजनयिक प्रतिनिधियों के विशेषाधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का विस्तार से उल्लेख किया है। उसका स्पष्ट मत था कि राजनयिकों को स्वागतकर्ता देश के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के सम्बन्ध में ग्रोशियस का कहना था कि ये न केवल कर्त्ता पर ही बल्कि उसके उत्तराधिकारी पर भी लागू होती हैं। उसने यह प्रतिपादित किया कि परिस्थितियाँ बदलने पर सन्धियों को अस्वीकार किया जा सकता है। जो सन्धियाँ जिन परिस्थितियों में की जाएँ वे उन्हीं परिस्थितियों में लागू रहनी चाहिए।

रिशलू के विचार (Richelieu on Diplomacy) ग्रोशियस एक आदर्शवादी विचारक था। इसके विपरीत रिशलू एक यथार्थवादी विचारक था। यही कारण है कि ग्रोशियस के विचारों को उसके समय में ठुकरा दिया गया किन्तु रिशलू के विचारों ने तत्कालीन व्यवहार को प्रभावित किया। उसने राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ सुधार प्रस्तावित किए। उसकी उल्लेखनीय देन निम्नलिखित है—

1 रिशलू ने बताया कि सन्धि वार्ता (Negotiation) की कला एक स्थाई प्रक्रिया है यह जल्दबाजी में किया जाने वाला कार्य नहीं है। अतः राजनय का उद्देश्य अवसरवादी प्रबन्ध करना नहीं है वरन् मजबूत और स्थाई सम्बन्ध स्थापित करना है। असफल समझौता वार्ता भी निरर्थक नहीं होती क्योंकि उससे अनुभव और ज्ञान बढ़ता है। राजनय कोई तदर्थ प्रकृति का कार्य नहीं है वरन् यह एक निरन्तरतापूर्ण प्रक्रिया है।

2. रिशलू के मतानुसार राज्य का हित प्राथमिक एवं आन्तरिक होता है। यह मानव विचारधारा या सैद्धान्तिक दुराग्रहों से परे है। यदि राष्ट्रीय हित विरोधी विचारधारा वाले राज्य से सन्धि करने की माँग करता है तो निस्संकोच की जानी चाहिए। संकट के समय

त्रों का चुनाव उनकी ईमानदारी या लगाव के आधार पर नहीं वरन् भौतिक एवं भौगोलिक र्यों के आधार पर किया जाना चाहिए।

3 रिचलू का कहना था कि कोई नीति तभी सफल हो सकती है जब उसे राष्ट्रीय या जनमत का समर्थन प्राप्त हो। इसके लिए उसने प्रभावपूर्ण प्रचार व्यवस्था का र्शन किया और अपनी नीतियों के समर्थन में जनमत जाग्रत करने के लिए छोटे पर्चे पत्रिकाएँ छापने का सुझाव दिया।

4 रिचलू ने सन्धियों को पवित्र दस्तावेज मानकर उनके अनुशीलन का समर्थन किया। का कहना था कि सन्धि एक महत्वपूर्ण साधन है अतः इसे करने से पूर्व पूरी सावधानी ती चाहिए। एक बार जब सन्धि पर समझौता हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन हो जाए तो का पालन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। राजदूतों अथवा सन्धिकर्ताओं को ने निर्देशों से इतर कुछ नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर सम्प्रभु का विश्वास देंगे। सन्धि की पवित्रता नैतिक आधार पर नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण

5 रिचलू का विचार था कि एक सही राजनय में निश्चितता रहनी चाहिए यदि किसी ध वार्ता के बाद समझौता न हो सके तो चिन्ता की बात नहीं है किन्तु यदि समझौता पष्ट तथा अनिश्चित भाषा में हो तो चिन्तनीय हो जाएगा। इससे समझौता भंग करने उसे गलत समझने की सम्भावना बढ़ जाती है। निश्चितता के अभाव में सन्धि के पक्षों बीच आदान प्रदान के सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल रंजन और प्रचार के साधन मात्र रह जाते हैं।

6 रिचलू का कहना था कि विदेश नीति का निर्देशन तथा राजदूत का नियन्त्रण एक मन्त्रालय में केन्द्रित होना चाहिए अन्यथा समझौता वार्ताएँ प्रभावहीन सिद्ध होंगी। यदि रदायित्व को विभाजित किया गया तो राजदूत एवं उससे सन्धि वार्ता करने वाला दूसरा भ्रम में पड़ जाएगा।*

उक्त दोनों विचारकों की मान्यताओं ने फ्रांसीसी राजनय के आधार को प्रभावित किया। वीं और 18वीं शताब्दियों में राजनयिक आधार की दृष्टि से फ्रांस द्वारा स्थापित राजनयिक पराओं का यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा अनुसरण किया गया। फ्रांसीसी राजनयिक आधार का ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है—

1 **लुई 15वें का योगदान** फ्रांस के राजा लुई चौदहवें (Louis XIV) के मन्त्रिमण्डल विदेश मन्त्री एक स्थाई सदस्य होता था। इसकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी तथा ा के प्रासादपर्यन्त ही वह अपने पद पर कार्य करता था। सिद्धान्त रूप से विदेश मन्त्री स में विदेशी राजदूतों का स्वागत करता था तथा विदेशों में फ्रांसीसी राजदूतों को निर्देश ता था। कभी कभी यह कार्य स्वयं राजा ही सम्पन्न कर लेता था तथा विदेशमन्त्री को भी नहीं लगने देता था। पर्याप्त स्वेच्छाचारी होते हुए भी लुई चौदहवाँ अपने नियुक्त त्रयों के प्रति अनुदार नहीं था। यह धैर्यपूर्वक उनके मतों को सुनता था यहाँ तक कि की आलोचनाओं का भी आदर करता था। विदेशी राजदूतों को सुनने से पहले वह

*He thereby secured that the word of command in foreign affa s sho ld be del vered by single voice only and not by a chor s of

हमेशा विदेश मन्त्रालय से परामर्श करता था कि उनकी किन वार्ता को छोड़ना है और किनको मानना है। कभी कभी राजा उत्तरदायी मन्त्री के नाम पर गुप्त समझौता वार्ताएँ भी कर लेता था।

2. विदेश कार्यालय · विदेशमन्त्री के अधीन एक छोटा विदेश कार्यालय होता था जिसमें कुछ लिपिक कुछ अनुवादक तथा कुछ अन्य अधिकारी होते थे। इनकी नियुक्ति वह व्यक्तिगत रूप से स्वय करता था और पदविमुक्ति स्वर्गवास या अरुचि के बाद वे पद से हट जाते थे। वियने के सस्मरणों से ज्ञात होता है कि सन् 1961 में फ्राँसीसी विदेश कार्यालय मे पाँच अधिकारी थे।

फ्राँस की विदेश सेवा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। सन् 1685 ई तक फ्राँस ने रोमन वेनिस कान्स्टेनटिनोपाल वियना हेग, लदन, मेड्रिड लिस्बन म्युनिख कोपनहेगन तथा बेरने आदि में अपने स्थायी दूतावास स्थापित कर लिए थे। उसने कुछ राज्यों को अपने विशेष मिशन भेजे तथा कहीं-कहीं आवास मन्त्री (Ministers Residents) रखे। तत्कालीन राजनयिकों को इन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है असाधारण राजदूत (Ambassadors Extra-ordinary), साधारण राजदूत (Ambassadors Ordinary), दूत (Envoys) तथा आवासी (Residents)। बाद में साधारण राजदूत होना निन्दनीय समझा जाने लगा और इसलिए सभी राजदूतों के साथ असाधारण शब्द जोड़ा जाने लगा। यदि राजदूत अयोग्य अथवा अविश्वसनीय नहीं होता था तो वह कम से कम तीन या चार वर्ष तक कार्य करता था। यदि राजदूत का प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता सम्राट् मर जाता था तो उसे पुन प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होता था। यदि राजदूत अपने पद पर विदेश में होता था और युद्ध घोषित हो जाता था तो वह बड़ी परेशानी में पड़ जाता था। उसके घर वापस लौटने से पूर्व ही उसे लूट लिया जाता था।

3. राजनयिक निर्देश : जब राजदूत अपना पद सम्भालने जाता था तो उसे लिखित निर्देश दिए जाते थे। इन दस्तावेजों को बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता था। इसमें न केवल राजदूत द्वारा अपनाई जाने वाली नीति का उल्लेख होता था वरन् स्वागकर्ता राज्य की राजनैतिक स्थिति का भी पूरा विवरण होता था। इसमें सम्बन्धित राजनीतिज्ञों एवं राजनयज्ञ साथियों की प्रकृति पृष्ठभूमि एव व्यवसाय की सूचना होती थी। इन निर्देशों को तैयार करने में सम्बन्धित मन्त्री को अथक परिश्रम करना होता था। समय के साथ-साथ इन निर्देशों के ज्ञापनों का स्वरूप जटिलतर होता गया। सन् 1774 में सियर बैरन डी ब्रेटाली (Sieur Baron de Bretuil) को असाधारण राजदूत के रूप में वियना भेजते समय निर्देशों का जो ज्ञापन दिया गया था वह पाच अलग-अलग अध्यायों में विभाजित है। इसमें पूरी यूरोपीय स्थिति का तथा न केवल आस्ट्रिया के प्रति वरन् प्रत्येक देश के प्रति अपनाई जाने वाली नीति का वर्णन है। इन निर्देशों में उच्च धार्मिक और नैतिक भावनाओं को व्यक्त किया गया है तथा राजदूत को सच्चाई का रास्ता अपनाने को कहा गया था।

4 राजनयिक तौर-तरीके : फ्राँसीसी राजनय में हमेशा उचित तौर-तरीकों पर जोर दिया गया। यहाँ की भाषा ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में राजनय की भाषा का रूप ले लिया। राजदूत की नियुक्ति के समय दिए जाने वाले निर्देशों में उसके रहन-सहन के तरीके अग्रत्व एव रस्म-रिवाजों पर विशेष जोर दिया जाता था। उसमें यह भी बताया

जाता था कि राजदूत को किस से सम्बन्ध बढाने चाहिए तथा किससे नहीं। सन् 1772 मे जब फ्रांसीसी राजदूत को लन्दन भेजा गया तो उसे यह निर्देश दिया गया कि ब्रिटिश संविधान के अनुसार राजदूतों का विरोधी दल से सम्पर्क स्थापित करना गलत नहीं माना जाता अतः उसे विरोधी दल वालों से कट कर रहने की आवश्यकता नहीं है।

5 दूतावास के कर्मचारी फ्रांसीसी दूतावास के सभी कर्मचारी राजदूत द्वारा नियुक्त किए जाते थे और वही उनको वेतन देता था। राजदूत के सचिव तथा सहचारी उसके परिवार जनों एवं मित्रों से ही लिए जाते थे तथा वे प्रायः अपने काम में पूर्ण कुशल नहीं होते थे। इसके पर भी राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से उन पर पर्याप्त धन खर्च किया जाता था। राजदूत के साथ अनेक सहयोगी सेवक सचिव संगीतकार आदि जाते थे। वह अपने साथ फर्नीचर तस्वीरें प्लेट पर्दे आदि सामान भी ले जाता था और वह स्वागतकर्ता राज्य में अपने खर्च से मकान किराए पर लेता था। आवागमन के उपयुक्त साधन सही न होने के कारण दूर देश में राजदूत की नियुक्ति अधिक सम्मानजनक नहीं मानी जाती थी। इसे टालने के लिए राजा पर अनेक दबाव डाले जाते थे।

6 आर्थिक हितों की अभिवृद्धि फ्रांस के राजदूत का यह एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था कि अपने देश के व्यापार की वृद्धि के लिए वह अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक सम्भव प्रयास करे। कुछ चीजों का व्यापार इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था कि उनसे सम्बन्धित प्रदेशों को भेजे जाने वाले राजदूतों की नियुक्ति विदेश मन्त्री द्वारा न होकर वित्त एवं व्यापार मन्त्री द्वारा होती थी। फ्रांस छोड़ने से पहले राजदूत चेम्बर ऑफ कॉमर्स से भेंट करते थे तथा उनकी माँगों और सिफारिशों के प्रति पूरी रुचि प्रदर्शित करते थे। ये राजदूत अपने कार्यों का प्रतिवेदन विदेश मन्त्रालय को न भेजकर फ्रांसीसी व्यापार नियन्त्रक को भेजते थे।

7 राजदूतों का स्वागत सत्रहवीं शताब्दी में यह परम्परा प्रचलित नहीं थी कि राजदूत भेजते समय विदेशी राजा या सरकार की पूर्व स्वीकृति ली जाए। प्रायः किसी को भी अचानक राजदूत बनाकर भेज दिया जाता था। इस प्रकार जब सन् 1685 में सर विलियम ट्रम्बल (Sir William Trumbull) को ब्रिटिश राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया तो लुई 14वें को अच्छा नहीं लगा। इस सम्राट की राजदूत एवं विदेशी शासकों के सम्बन्ध मे अपनी पसन्द और नापसन्द थी और तद्नुसार ही उनका स्वागत समारोह किया जाता था। स्वागत समारोह का कार्यक्रम पर्याप्त विस्तृत रखा जाता था। कुछ समय तक राजदूत तथा उसके स्टाफ के राजदूतों के लिए निर्मित होटल में ठहराया जाता था तथा सरकारी दौरों के लिए भुगतान किया जाता था। वर्साय (Versailles) में होने वाले दिन प्रतिदिन के समारोहों में विदेशी राजदूत शामिल नहीं होते थे। राजा से उनकी भेंट भी कदाचित् ही हो पाती थी। राजदरबार में भी उनको विशेष सीट नहीं दी जाती थी।

8 गोपनीय विचार विमर्श लुई चौदहवाँ सम्मेलनीय राजनय के पक्ष में नहीं था। उसके मतानुसार यह समझौता वार्ता का एक धीमा व्ययसाध्य जटिल तरीका था। इसके स्थान पर वह विशेषज्ञों के बीच होने वाली गुप्त वार्ता को प्राथमिकता देता था। उसका कहना था कि खुली समझौता वार्ताओं में वार्ताकार अपने सम्मान का ध्यान रखते थे तथा अपना गौरव कायम रखना चाहते थे। वे अपने सम्प्रभु के [illegible] तों एवं तर्कों का ही ध्यान रखने

के कारण मनोनुकूल समझौता एवं सम्मान तक नहीं दे पाते थे। लुई चौदहवें का विचार था कि निर्णय विचार विमर्श के माध्यम से लिये ही जा सकते हैं व अनेक पदाधिकारियों की उपस्थिति में नहीं ही जा सकती। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन कुछ व्यावसायिक विशेषज्ञों के हाथों में सौंप दिया जाए तो अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ स्वयं ही सुलझ जाएँगी। राजा ने परिषद की राय तथा स्थानीय मन्त्रियों को स्वयं द्वारा सम्पन्न सन्धियों प्रमाणित एवं पुष्टीकृत करने का अधिकार दिया। किन्तु यह अधिकार केवल नाममात्र का था। मूल सिद्धान्त यह था कि सम्पूर्ण वार्ता यथासम्भव गुप्त रहनी चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि फ्रांसीसी राजनय के विकास में लुई 14वें का उल्लेखनीय योगदान रहा।

9. **फ्रांसो डी कैलियर्स (Francois de Callieres) के विचार :** कैलियर्स का जन्म सन् 1645 में हुआ था। वह लुई 14वें जनरल का पुत्र था। इसने राजनयिक महत्त्व के विभिन्न पदों पर कार्य कर व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया तथा सन्धि-वार्ता की कला के सम्बन्ध में अपने उपयोगी विचार प्रकट किए। उनके प्रमुख विचार निम्नलिखित थे :

(क) कैलियर्स का मत था कि राजनय का उद्देश्य धोखा देना नहीं है। इसके विपरीत एक सही राजनय विश्वास पर आधारित होता है। एक सही वार्ताकार अपने कार्य की सफलता के लिए गलत विश्वास का अथवा पूरा न होने वाले वायदों का सहारा कभी नहीं लेता। कपटपूर्ण साधन प्रयुक्तकर्ता के मन की संकीर्णता प्रकट करते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि उस व्यक्ति के पास न्यायपूर्ण एवं विवेकपूर्ण साधनों से अपने लक्ष्य प्राप्त करने योग्य बुद्धि नहीं है। सन्धि-वार्ता करने वाले को हमेशा ईमानदारी और सभ्यता का व्यवहार करना चाहिए अन्यथा वह दूसरे पक्ष में विश्वास पैदा नहीं कर सकेगा।

(ख) सन्धि-वार्ता करते समय दूसरे को धमकी नहीं दी जानी चाहिए। एक सही सन्धि वह होती है जिसमें सम्बन्धित पक्षों के पारस्परिक हितों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाए। धमकियाँ सन्धि वार्ता के लिए हानिकारक हैं क्योंकि वे सदैव उत्तेजना को प्रोत्साहित करती हैं। धमकी से सफलता प्राप्त करने का प्रयास स्वयं को धोखा देना है।

(ग) कैलियर्स ने राजनय के गुणों का उल्लेख किया है। उसके मतानुसार एक अच्छे राजनय में सही निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए। वह शान्त-स्वभाव, एक अच्छा श्रोता, सज्जन, शीघ्र कार्य करने वाला तथा सहनशील होने योग्य हो। उसमें पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण होना चाहिए। उसे महिलाओं की ओर ध्यान तो देना चाहिए लेकिन किसी को दिल नहीं देना चाहिए।[1] वह साहसी तथा धैर्यवान होना चाहिए। उसे जुआ, शराब, स्त्री आदि में नहीं खोना चाहिए उसे कुछ प्रमुख भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए तथा साहित्य, विज्ञान, गणित और कानून का ज्ञान होना चाहिए।

(घ) कैलियर्स ने राजनयज्ञों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है : राजदूत, दूत आवासी एवं कमिश्नर।

(ङ) कैलियर्स के मतानुसार सम्राट को व्यावसायिक राजनयिक सेवा के लिए भर्ती एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। युवक राजनयिकों को उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर नहीं वरन् योग्यता के आधार पर नियुक्त किया जाना चाहिए। धार्मिक व्यक्तियों

1 "He should pay attention to women, but never lose his heart." —Francois de Callieres

को राजनयज्ञ नहीं बनाना चाहिए। सैनिकों को भी राजनयिक सेवा में नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि उनसे शान्तिप्रिय होने की आशा नहीं की जा सकती। विधि वेता भी राजनयज्ञ के दायित्वों का निर्वाह करने योग्य नहीं होता।

(घ) कैलियर्स ने राजदूत के कार्यों एव दायित्वों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। राजदूत को अपने देश की सरकार का पूरा विश्वास प्राप्त होना चाहिए तभी उसका परामर्श मान्य हो सकता है। दूसरे उसे स्वागतकर्ता देश का विश्वास एव सहानुभूति प्राप्त होनी चाहिए। राजदूत को केवल उस देश के अधिकारियों का सहयोग ही नहीं वरन् वहाँ के सम्पूर्ण समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। तीसरे राजदूत को चाहिए कि वह अपने स्वागतकर्ता देश की स्थानीय परिस्थितियों की आलोचना न कर सराहना करे ताकि वहाँ के लोगों में आत्मीयता की भावना का विकास हो। चौथे राजदूत को किसी षड्यन्त्र या गुप्त कार्यवाही में भाग नहीं लेना चाहिए। उसे विरोधी दल के सदस्यों से विशेष सबध नहीं बनाने चाहिए। पाँचवें उसे स्वागतकर्ता राज्य में स्थित अन्य राज्यों के राजदूतों से सम्पर्क बनाए रखना चाहिए क्योंकि वे भी अपने अपने देश के लिए प्राय उसके जैसे लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

(ड) कैलियर्स का कहना था कि सामान्यत एक राजदूत को अपने राज्य की सरकार के सभी निर्देशों और आदेशों का तो पालन करना चाहिए किन्तु उसे ईश्वर अथवा न्याय के नियमों के विरुद्ध किसी आदेश का पालन नहीं करना चाहिए। तद्नुसार वह स्वागतकर्ता राज्य के सम्प्रभु की हत्या करने अथवा क्रान्तिकारियों की रक्षार्थ अपनी उन्मुक्तियों का प्रयोग करने से मना कर सकता है। कैलियर्स के विचारों का राजनय के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी अनेक मान्यताएँ आज भी महत्व रखती हैं। इन मान्यताओं की महत्वपूर्ण कमी अथवा भूल यह थी कि इनमें शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त अथवा व्यवहार को कोई मान्यता नहीं दी गई थी।

स्पष्ट है कि फ्रॉसीसी राजनय के पीछे एक लम्बी परम्परा है इस राजनय की मुख्य प्रवृतियों में नैतिकता की प्रधानता, राजनय मे सगठन और परम्पराओं को स्थान देना राजदूतों की उन्मुक्तियों और विशेषाधिकार तथा सधि सम्पादित करने के गुणों का समावेश पाया जाता है।

राजनयिक आचार का भारतीय तरीका
(Indian Method of Diplomatic Practice)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजनय की प्रकृति सम्य सगठन सीमा व्यवहार आदि के सम्बन्ध मे बिखरे हुए किन्तु उन्नत विचार उपलब्ध होते हैं। मनुस्मृति मे कहा गया है कि नीति कुशल राजा को उन सब तरीकों का प्रयोग करना चाहिए जिनसे शत्रु, मित्र एव उदासीन राज्य अधिक बलवान न होने पाएँ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र महाभारत के शान्तिपर्व एव अन्य दूसरे ग्रन्थों में इन कूटनीति साधनों का उल्लेख है। वैसे तो इस बात पर जोर दिया गया था कि मित्रों उदासीन एव मध्यम राज्यों को अपने पक्ष मे बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाए किन्तु कूटनीतिक व्यवहार मुख्य रूप से शत्रुओं के साथ प्रयुक्त करने के लिए ही था। कूटनीति उपायों के वर्णन का अपना महत्व था। धार्मिक नियमों की

जो मर्यादाएँ राज्यों के पारस्परिक व्यवहार पर लगाई गई थीं उनका पालन केवल धर्मभीरु राजाओं द्वारा ही किया जाता था। दुष्ट प्रकृति का अधार्मिक राजा तो किसी प्रकार का तिबन्ध मानता ही नहीं था। ऐसी स्थिति मे धार्मिक नियन्त्रण धर्मशील राजाओं को हानि ी स्थिति में रख देते थे। अत यह कहा गया कि ऐसे राजा से संघर्ष करते समय किसी कार का धार्मिक नियन्त्रण न माना जाए।

धार्मिक राजा को भी कूटनीतिक उपायों का प्रयोग इस प्रकार करने के लिए कहा गया कि अधर्मी राजा को नियन्त्रण मे लाया जा सके। यह सिद्धान्त आचार्यों के व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रतीक है। शत्रु विजय की लालसा एव चक्रवर्ती सम्राट बनने की महत्वाकाँक्षा के पीछे किसे यह होश रहता है कि वह धार्मिक नियमों का पालन करे। इतने पर भी यह कहा गया कि कूटनीतिक उपायों का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार किया जाए। इनको केवल राजाओं के साथ ही प्रयुक्त किया जाए प्रजा के प्रति नहीं। प्रजा के साथ तो सदैव ही धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। बताए गए कूटनीति साधन दिखने मे तो अधार्मिक एव अनैतिक लगते थे किन्तु अपने उद्देश्य के आधार पर वे उचित ठहराए जा सकते थे। महाभारत में भीष्म के अनुसार धर्म केवल वही नहीं है जो श्रुतियों या स्मृतियों मे कहा गया है वरन् सज्जन लोगों की बुद्धि भी अनेक बार धर्म का निर्णय करती है। विजयाभिलाषी राजा को भी समय की आवश्यकता एव परिस्थितियों की मजबूरी को देखते हुए निर्णय लेना चाहिए। राजा का जन्म दूसरों का हित साधन करने के लिए हुआ है, इसलिए उसको भीषण कार्य करने होते हैं क्योंकि अवध्य का वध करने मे दोष है किन्तु वध्य का वध न करने मे भी दोष होता है।

प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की यह एक मुख्य मान्यता थी कि आक्रमण करने के लिए यथासाध्य युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहिए। जब साम, दाम दण्ड आदि नीति के सभी रूप असफल हो जाएँ तो अन्तिम उपाय के रूप में विवश होकर युद्ध को अपनाना चाहिए।

वार्ता दबाव समझौता एव युद्ध की धमकी कूटनीति के मुख्य तत्व थे। कूटनीति व्यवहार में कुशल राजा को पृथ्वी का विजेता माना गया था। विजिगीषु कूटनीतिक व्यवहार का केन्द्र था। यह पुरोहित द्वारा अनुशासित किया जाता था। उसमें छ गुणों का होना अनिवार्य माना गया था। ये थे—भाषण की कुशलता, साधनों का तत्काल प्रबन्ध करना बुद्धिमत्ता स्मरण शक्ति राजनीतिक एव नैतिक आचरण का ज्ञान। विजिगीषु अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए सात साधन अपनाता था जैसे—जादू, दवाएँ, भेंट आदि।

आचार्यों ने जिस मण्डल-व्यवस्था की स्थापना की थी उसका केन्द्र-बिन्दु भी स्वय विजिगीषु ही था। वह अधिराज्य मध्यम राज्य एव उदासीन राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का रूप निश्चित करता था। वह अपनी मत्र शक्ति उत्साह शक्ति एव प्रभु-शक्ति के माध्यम से बुद्धि कोष और साहस का सहारा लेकर ग्त्यात्मक क्रिया सम्पन्न करता था। विजिगीषु की यह प्रमुख समस्या थी कि मण्डल के सदस्यों को कैसे अपने अधिक से अधिक हित में किया जाए। साम दाम दण्ड और भेद की नीति अपनाकर विजिगीषु मण्डल के सभी सदस्यों को अपने प्रभाव में कर लेता था। सामान्य रूप से विजय सम्भव न होने के कारण स्वामी को सन्धि करनी पड़ती थी अथवा तटस्थता की नीति अपनानी होती थी। वह

षाडगुण्य को अपना कर व्यवहार संचालित करता था। ये तत्कालीन कूटनीति का एक महत्वपूर्ण अंग थे। कौटिल्य ने युद्ध को एक बुराई मानते हुए स्वामी को प्रत्येक ऐसी नीति अपनाने को कहा जो मण्डल की एकता एवं समरूपता को बढ़ावा दे सके। सन्धि एवं आश्रम की नीति केवल अच्छे राजाओं के साथ अपनानी चाहिए और उसे यथासम्भव बनाए रखा जाना चाहिए। शान्ति वार्ता बराबर वालों से या अपने से उच्च से करनी चाहिए।

कौटिल्य ने कूटनीति एवं रणकौशल पर विचार करने वाले के रूप में सशस्त्र संघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक संग्राम को अधिक महत्व दिया। युद्ध घोषित हो जाने के बाद भी खुले संघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक प्रयासों से ही यदि विजय प्राप्त हो जाए तो अच्छा है। कौटिल्य की आसन या तटस्थता की मान्यता विश्व राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन है। उदासीन राज्य तो स्थायी रूप से तटस्थ रहते थे। इतने पर भी मण्डल में उनका स्थान एवं महत्व था। उपेक्षासन की मान्यता द्वारा यह बताया गया कि एक राज्य बिना किसी का मित्र अथवा शत्रु बने ही मध्यम सम्बन्ध विकसित कर सकता था।

कौटिल्य की कूटनीति में उपायों के माध्यम से षाडगुण्य की क्रियान्विति भी अपना महत्व रखती है। उपायों में माया तथा इन्द्रजाल को कूटनीतिक व्यवहार का निम्न तत्व माना गया है तथा उसे अन्तर्राज्यीय नैतिकता एवं कूटनीति के सिद्धान्तों में स्थान नहीं दिया गया है। कूटनीतिक व्यवहार में उपेक्षा का प्रयोग आधुनिक काल में भी अपना महत्व रखता है। कौटिल्य ने बताया है कि कमजोर राष्ट्र जो शक्ति राज्य के साथ खुला युद्ध नहीं कर सकते अपने पड़ोसियों के प्रति पूर्ण उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह आत्मरक्षा के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार यह बराबर की अथवा उच्चतर शक्तियों के बीच शत्रुता के वातावरण को कम करने में भी सहयोगी है।

प्राचीन भारत में कूटनीतिक सम्बन्धों का रूप अत्यन्त जटिल था। उस समय समझौता वार्ताएँ बहुत अधिक हुआ करती थीं। यही कारण है कि कूटनीतिक प्रतिनिधियों सदेशवाहकों तथा गुप्तचरों को पर्याप्त महत्व दिया गया। वे कूटनीतिक व्यवहार के अविभाज्य एवं नियमित अंग बन गए। कूटनीतिक अधिकारी को अपने स्वामी के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दूसरे राजा के दरबार में नियुक्त किया जाता था। वह प्रकाश दूत होता था और इस प्रकार और गूढ़ दूतों से भिन्न होता था जो कि गुप्त एजेण्ट होते थे। प्रकाश दूत का कार्य था युद्ध घोषणा को प्रसारित करना मित्र बनाना तथा राज्य के अधिकारियों एवं प्रजा के बीच भेद डालना। राजदूत तीन प्रकार के होते थे निसृस्तार्थ परमितार्थ और शासनहर।

गुप्तचर कूटनीतिक अधिकारी के नियन्त्रण में रहते थे और अपनी गतिविधियों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी थे। गूढ़ पुरुष का मुख्य कार्य शत्रु प्रदेश से महत्वपूर्ण सूचना एकत्रित करना तथा उसे अपने देश की सरकार के पास भेजना था। दूत को हवा की तरह तीव्र और सूर्य की तरह शक्तिशाली होना था। कौटिल्य ने गुप्तचरों के जो 9 भेद किए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में कूटनीति का क्या प्रभाव था। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों में इनका महत्वपूर्ण स्थान था यहाँ तक कि थल सेना एवं जल सेना भी इनकी जाँच से बाहर नहीं रहती थी। सेना के विभिन्न विभागों एवं अधिकारियों के प्रत्येक कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखी जाती थी। मण्डल को शुद्ध रखने के लिए यह सब किया जाना आवश्यक था।

विरोधी तथा शत्रु पक्ष के गुप्तचरों द्वारा मण्डल को अशुद्ध बनाया जा सकता था। राजनीति का सारा खेल आस पास के राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए था। इसके लिए आन्तरिक जागरूकता आवश्यक थी। एक ऐसे राज्य से भी आक्रमण की आशा की जा सकती थी जो कि कल्पना के बाहर था। कामन्दक ने मण्डल की तुलना एक चक्र से की है जिसकी धुरी विजीगीषु होता है। अन्य राज्य इसके बाहर का पहिया तथा उसे मिलाने वाली ताड़ियाँ होते हैं। यदि धुरी मजबूत है तो वह गति के समय ताड़ियों एव पहिए को यथास्थान रख सकेगी। धुरी में किसी प्रकार की कमजोरी पूरे चक्र के लिए खतरनाक हो सकती है। विजिगीषु का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने मण्डल के चक्र को युद्ध एव विनाश से अछूता रखे। इसके लिए उसे लालच, अविवेक एव अनौचित्य से दूर रहने को कहा गया है।

भारतीय राजनय के साधन
(The Means of Indian Diplomacy)

भारत के प्राचीन ग्रन्थों मे राजनय के साधनों का विवेचन किया गया है। वे इनको उपाय की सज्ञा देते हैं। इन उपायों के उचित प्रयोग से राजा को सिद्धि प्राप्त होती है। मनु के कथनानुसार विजय के अभिलाषी राजा को अपने पड़ोसियों को साम आदि उपायों द्वारा वश मे करना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने इन उपायों के महत्व का साहित्यिक भाषा में उल्लेख किया है। शुक्र ने लिखा है कि "लोहा अति कठोर होता है किन्तु उपाय से वह भी पिघल जाता है। लोक में प्रसिद्ध है कि पानी अग्नि को बुझा देता है किन्तु यदि उपाय से काम लिया जाए तो अग्नि समस्त जल को सुखा देती है। मदोन्मत्त हाथियों के सिर पर भी उपाय द्वारा पैर रखा जा सकता है।"[1]

अधिकाँश विचारकों ने इन उपायों की सख्या चार मानी है। ये हैं—साम दाम, दण्ड और भेद। कामन्दक ने इनके अतिरिक्त तीन अन्य उपायों (माया उपेक्षा और इन्द्रजाल) का भी उल्लेख किया है। राजनय के इन उपायों का सक्षिप्त परिचय निम्नलिखित रूप से है—

1 साम : शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को समझा-बुझा कर वश में करना साम उपाय कहलाता है। कामन्दक ने साम उपाय के पाँच भेद बताए हैं—

(i) पारस्परिक उपकारों का वर्णन (ii) पारस्परिक गुण-कर्म की प्रशसा (iii) पारस्परिक सम्बन्ध का आख्यान (iv) भविष्य के कार्यों पर प्रकाश तथा (v) मनोहर, मीठी तथा हितकारी वाणी में यह कहते हुए कि "मैं तुम्हारा हूँ", आत्मसमर्पण। साम उपाय को अपनाने वाले राज्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में कामन्दक ने लिखा है कि "जिस वाणी से दूसरे को उद्वेग न हो वह सामवाणी कहलाती है। यह सरल, सत्य एव प्रिय होती है।" राजाओं को यथासम्भव इस उपाय का अनुसरण करना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार दुर्बल राजाओं को समझा-बुझा कर प्रसन्न रखना चाहिए।

2. दाम : इसे दान भी कहा जाता है। शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को शान्त करने के लिए आश्वासनपूर्ण वचन भूमि धन धान्य आदि के दान का आश्रय लिया जाना दाम उपाय कहलाता है। राजनय का मूलभूत नियम आदान प्रदान है। यदि एक राज्य अन्य

1 शुक्रनीति, अध्याय-4—श्लोक 1126 1127 एव 1128

राज्य से कुछ पाना चाहता है तो उसे स्वयं भी कुछ देने के लिए तैयार रहना चाहिए। यही समझौते का आधार है। कामन्दक ने इस उपाय के पाँच भेदों का उल्लेख किया है—(i) शत्रु अथवा नाराज मित्र का जो धन धान्य या द्रव्य देय (Due) है उसे ज्यों का त्यों लौटा देना, (ii) अपना जो धन धान्य अथवा भूमि आदि शत्रु के अधिकार मे पहुँच गई है उसे उसी के पास छोड़ देना (iii) स्वयं द्वारा स्वेच्छा से अन्य राज्य को भूमि आदि दान करना (iv) शत्रु राज्य से स्वयं धन-धान्य भूमि आदि प्राप्त करना तथा (v) शत्रु से लूट में प्राप्त हुए प्रदेश या सम्पत्ति को छोड़ देना। दाम उपाय के इन भेदों को कौटिल्य ने भी स्वीकार किया है।

3 भेद जिस समय द्वारा शत्रु अथवा मित्र राजा में भेद या फूट उत्पन्न हो जाए उसे भेद उपाय कहते हैं। इसके द्वारा एक राज्य अपने विरोधियों में फूट डाल कर उनकी शक्ति को कमजोर बनाता है। कामन्दक के मतानुसार भेद उपाय तीन प्रकार का है—(i) शत्रु के स्नेहियों एवं समर्थकों में फूट उत्पन्न करना (ii) शत्रु के मन्त्री सेनाध्यक्ष समर्थक एवं अन्य उच्च पदाधिकारियों में परस्पर धृष्टतापूर्ण व्यवहार को प्रोत्साहन देना ताकि उनके बीच भेद पैदा हो जाए (iii) धमकियाँ देकर शत्रु एवं उसके सहायकों के दिलों में भय उत्पन्न करना।

भेद नीति जिन व्यक्तियों पर अपनाई जानी चाहिए उनके लक्षणों को भी कामन्दक ने प्रस्तुत किया है। उसके मतानुसार चार प्रकार के पुरुष भेद योग्य होते हैं—वे जिनको उनकी दी गई वस्तु का मूल्य नहीं मिला है वे जो लोभी मानी तथा तिरस्कृत हैं, वे जो किसी कारणवश नाराज या क्रोधी हैं तथा वे जो यह कहते हैं कि तुम्हारे कारण मेरा काम बिगड़ गया। ऐसे पुरुषों पर भेद का प्रयोग शत्रु को अपंग कर देता है।

राजनय के उक्त तीनों साधनों का आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार प्रयोग किया जाना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने चौथे उपाय दण्ड को मजबूरी मे अपनाने के लिए कहा है। मनु के कथनानुसार यदि शत्रु प्रथम तीन उपायों द्वारा वश में न आए तो दण्ड द्वारा उसका दमन करना चाहिए। इस प्रकार दण्ड का प्रयोग विवशता का परिणाम है।

4 दण्ड · शत्रु द्वारा किये गए अपकार के हेतु उसे दण्डित करने के साधनों को अपनाना दण्डोपाय है। कामन्दक ने दण्ड के तीन भेद बताए हैं—शत्रु का वध कर देना उसका धन हर लेना तथा शारीरिक कष्ट देना। कौटिल्य ने माना है कि जो राजा दुर्बल है उनको समझा-बुझा कर और कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए तथा जो राजा सबल हो उनको दण्ड उपायों से वश में करना चाहिए। मनु के कथनानुसार "जिस प्रकार कृषक धान्यों की रक्षा हेतु निराई करता है उसी प्रकार राजा को धर्म-विरुद्ध आचरण करने वालों का दण्ड द्वारा दमन करना चाहिए।"[1]

दण्ड का प्रयोग प्रकट एवं अप्रकट दो रूपों में किया जा सकता है। कामन्दक के मतानुसार प्रजाद्वेषी एवं शत्रुओं पर प्रकट रूप से दण्ड का प्रयोग करना चाहिए किन्तु जिनको दण्डित करने से प्रजा के उत्तेजित होने की आशंका हो या जो दण्डनीय व्यक्ति राजा के निकटवर्ती हों उनको अप्रकट दण्ड दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के दण्ड मे विष तथा विशेष प्रकार के लेपन आदि का प्रयोग किया जाता था।

1 मनुस्मृति—198 200/7

5 माया : राजनय का एक अन्य साधन माया है। इसके अनुसार इच्छानुसार रूप धारण करने, शस्त्रास्त्र अथवा जल की वर्षा करने, अन्धकार में लीन होने की नीति अपनाई जाती है। इनको कामन्दक ने मानुषी माया के नाम से सम्बोधित किया है। वे इसे उपयुक्त अवसर पर शत्रु के नाश के लिए उचित मानते हैं।

6. उपेक्षा : दूसरे राज्य द्वारा अपकार किए जाने पर भी विशेष परिस्थिति में उसकी ओर से आँख बन्द कर लेना तथा मौन रहना कामन्दक के अनुसार उपेक्षा का उपाय करना है। उसके मतानुसार उपेक्षा की तीन भेद होते हैं—(i) अन्याय की उपेक्षा करना (ii) व्यसन की उपेक्षा तथा (iii) युद्ध में प्रवृत्त होने वाले का निवारण न करना।

7. इन्द्रजाल : शत्रु को भयभीत करने के लिए जिन उपायों को अपनाया जाता है उन्हें भारतीय आचार्यों ने इन्द्रजाल कहा है। उदाहरण के लिए मेघ, अन्धकार, वृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुत दर्शन एवं ध्वजा पताका से युक्त दूरस्थ सेना का दर्शन आदि कार्य। इन सभी उपायों के आलम्बन द्वारा शत्रु आतंकित होता है और भयभीत होकर सम्बन्धित राज्य की शर्तों के आगे झुक जाता है।

भारतीय आचार्यों ने राजनय के उपर्युक्त साधनों को शत्रु की सेना अथवा विद्रोहियों में आवश्यकतानुसार प्रयोग करने का परामर्श दिया है। इन उपायों का आश्रय लिए बिना युद्ध का मार्ग अपनाने की चेष्टा अन्धे पुरुष के कार्य जैसी मानी गई है।

भारतीय राजनय का प्रभाव
(The Effect of Indian Diplomacy)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि राजनय की प्रक्रिया एवं व्यवहार के अनेक सिद्धान्त भारतीय मनीषियों द्वारा प्रतिपादित किये गए हैं। राजनयिक दूतों का उल्लेख प्राचीनतम धर्मशास्त्र मनुस्मृति में मिलता है। तद्नुसार "राजदूत की नियुक्ति राजा द्वारा की जाए, सेना का नियन्त्रण सेनापति करे तथा प्रजा का नियन्त्रण सेना करे। राज्य की सरकार पर राजा का नियंत्रण रहे तथा युद्ध एवं शान्ति का निर्णय राजदूत के द्वारा किया जाए।"[1] रामायण में राजनयिक दूतों की नियुक्ति के दो उदाहरण मिलते हैं—

(क) श्री हनुमानजी सीताजी की खोज करने के लिए राजदूत बनकर रावण के दरबार में उपस्थित हुए।[2] उन्होंने अशोक वाटिका के वृक्षों को तोड़-फोड़ कर सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाई थी अतः रावण उनका वध करना चाहता था, किन्तु विभीषण ने उसे यह सुझाव दिया कि अपराधी होने पर भी दूत को नहीं मारना चाहिए। (ख) एक अन्य अवसर पर अंगद को दूत बनाकर रावण के दरबार में भेजा गया था ताकि रावण के विरुद्ध अन्तिम रूप से युद्ध की घोषणा करने से पूर्व शान्ति-समझौते की सम्भावना का पता लगाया जा सके। महाभारत में युद्ध प्रारम्भ होने से पहले पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण दुर्योधन के दरबार में दूत बनकर गए थे। उनका लक्ष्य शान्तिपूर्ण समझौते के लिए वार्ता करना था। वहाँ जब कृष्ण पर आघात करने की योजना बनाई गई तो विदुर ने कहा कि दूत अनतिक्रम्य

1 मनुस्मृति, VII, 65

2 "रामदूत अतुलित बलधामा, अञ्जनिपुत्र पवन सुतनामा।" — श्री तुलसीदास

होता है। धर्मग्रन्थों के ये उदाहरण चाहे ऐतिहासिक सत्यता न रखते हों किन्तु यह तो सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में तदर्थ राजनयिक दूत भेजने की परम्परा थी।

मौर्यकाल में राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार की प्रगति अपने चरम स्तर पर पहुँच गई थी। तीसरी शताब्दी ईसवीं में सीरिया के सैल्यूकस निकेटार ने मैगस्थनीज को दूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे कौटिल्य (चाणक्य) ने राजनय के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना की। इसके प्रथम भाग के सोलहवे अध्याय में कौटिल्य ने राजनयिक दूतों की सस्था पर विचार किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजनयिक दूतों का चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—दूत निसृष्टार्थ परिमितार्थ एव शासनदर। इन सभी प्रकार के दूतों के स्वभाव कर्म,अधिकार एव योग्यताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने दूतों को राजा का मुख कहा है क्योंकि वह इनके माध्यम से अपनी बात अन्य राजाओं तक पहुँचा सकता है और उनकी बात सुन सकता है।

अग्नि पुराण (चौथी शताब्दी) एव वाक्यामृत (दसवीं शताब्दी) में राजनयिक प्रतिनिधियों का उल्लेख किया गया है। यहाँ इनको केवल बाद वाले तीन भागों में ही विभाजित किया गया है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में राजनयिक प्रतिनिधि भेजे जाते थे। सम्राट् अशोक के समय भारत के लका सीरिया मिश्र आदि देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध थे। सातवीं शताब्दी के पुलकेशिन द्वितीय तथा पर्सिया के शाह के बीच राजनयिक सम्बन्ध थे। थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन और चीन के शाही दरबार के बीच राजनयिक सम्पर्क था। उस काल के भारतीय राजनयिक दूसरे राज्यों के सन्धि-वार्ता एव पत्र-व्यवहार करते समय गूढ लेख अथवा गुप्त भाषा का प्रयोग करते थे।

भारत के ऐतिहासिक एव धार्मिक ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि उस काल में राजनयिक प्रतिनिधियों को कुछ उन्मुक्तियाँ एव विशेष अधिकार प्राप्त थे। उन्हें अतिक्रम्य माना जाता था। इनका प्रत्येक उल्लघन गम्भीर परिणामों एव मनमुटाव का कारण बन जाता था। रामायण में अपराधी दूत को भी अवध्य कहा गया है। महाभारत में उल्लेख है कि "राजा को किसी भी परिस्थिति में राजनयज्ञ को नहीं मारना चाहिए। जो राजा राजनयज्ञ का वध करता है वह अपने मन्त्रियों सहित नरक का भागी होता है।"[1] नीति-वाक्यामृत तथा नीति-प्रकाश में यह उल्लेख है कि दूत को गम्भीर अपराध करने पर भी मारा नहीं जाना चाहिए। कौटिल्य ने भी ब्राह्मण दूत को अवध्य माना है। इस प्रकार दूतों की अवध्यता प्राचीन भारत में मान्य थी। इनके दूसरे विशेषाधिकार एव उन्मुक्तियाँ कालान्तर मे विकसित हुए।

राजदूत की योग्यताओं के सम्बन्ध में मनु का कथन था कि राजदूत स्वामिभक्त ईमानदार, चतुर अच्छी स्मृति वाला सुन्दर निडर तथा समय और स्थान का महत्व जानने वाला होना चाहिए। महाभारत के भीष्म ने राजनयिक दूत की सात योग्यताओं का उल्लेख किया है यथा—उच्च-कुल अच्छा परिवार श्रेष्ठ व्याख्याता, चतुर मिष्ठ-भाषी स्वामिभक्त एव अच्छी स्मृति वाला।

1 महाभारत शान्तिपर्व (राजधर्म) LXXXV, 26 27

राज्यों के मध्य होने वाली सन्धियों के बारे में मनु का कहना था कि केवल दूत ही सन्धियाँ करने और तोड़ने का अधिकार रखता है। कौटिल्य का कहना था कि यदि राजा अपनी राजधानी को सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे गुप्तचर, जासूस एवं षड्यन्त्रकारी रखने चाहिए विवादों को सुलझाने के लिए युद्ध के अतिरिक्त शान्तिपूर्ण उपाय भी अपनाए जाते थे। कौटिल्य ने राजकार्यों में छ प्रकार की नीतियों का उल्लेख किया है यथा—सन्धि विग्रह आसन, यान संश्रय और एक के साथ शान्ति तथा दूसरे के साथ युद्ध। कौटिल्य ने 'सन्धि' को राज्यों के मध्य पारस्परिक विश्वास के लिए उपयुक्त माना है। सन्धि में पवित्रता होनी है। सन्धि की शर्तें मानने की बाध्यता के लिए सम्बन्धित पक्षों को शपथ दिलाई जाती है। स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासकों एवं विचारकों ने राजनय के कलेवर को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उस काल में आधुनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुका था।

भारतीय राजनय का व्यावहारिक रूप
(The Practical Form of Indian Diplomacy)

भारत में राजनयिक विचार केवल सैद्धान्तिक साहित्य में परिमित रह कर ही पाठकों का मनोरंजन नहीं करते रहे वरन् उनका व्यावहारिक राजनीति पर प्रभाव रहा। कौटिल्य ने राजनय द्वारा ही चन्द्रगुप्त को भारत का चक्रवर्ती सम्राट बनाया। महाकवि विशाखदत्त का नाटक 'मुद्रा राक्षस' इसी कथानक पर आधारित है। इसमें राजनयिक, कूटनीतिक एवं राजनैतिक दाव पेंच पर समुचित प्रकाश डाला गया है। कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी इस तथ्य का प्रमाण है कि प्राचीन भारत के शासक नियमित रूप से तथा विशेष अवसरों पर विदेशों में दूतों की नियुक्ति किया करते थे।

मुगल शासनकाल में राजनयिक आधार को तब अपनाया जाता था जब देश में समान शक्ति वाले दूसरे राज्य भी होते थे। देशव्यापी एकछत्र राज्य स्थापित हो जाने पर राजनयिक आधार की आवश्यकता नहीं रहती थी। इस काल में दूसरे राज्यों से दूतों के आने जाने के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

मुगल शासन के पतन के समय भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया तथा यहाँ अंग्रेज, फ्रांसीसी और पुर्तगाली आदि अपने पैर जमाने लगे। इस काल के भारत में भी हमें राजनयिक व्यवहार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। तब भारत भूमि पर मराठा, सिक्ख, मुगल सम्राट, नवाब वजीर, अवध, दक्षिण की मुसलमान सल्तनतें, अंग्रेज, फ्रांसीसी आदि ने राजनयिक शतरंज की चालें चलने में अपने बुद्धि चातुर्य का उपयोग किया था। कुछ राजनयिक प्रतिभाओं में बालाजीराव, नाना फड़नवीस, हैदरअली, टीपू सुल्तान, रणजीतसिंह आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

सिक्खों की राजनीति में कूटनीति के दर्शन तो होते हैं किन्तु राजनय के नहीं होते। बार-बार मैत्री, सामन्जस्य स्थापित करके उसको तोड़ना या उसके विपरीत व्यवहार करना, इन लोगों की आदत बन चुकी थी। ईश्वर को साक्षी मानकर की गई सन्धियों को भी हल्के काँच की तरह तोड़ दिया जाता था। सिक्ख इतिहास में सन्धि वार्ताओं के लिए राजनयिक प्रतिनिधि (या वकील) भेजने तथा बुलाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[1] सन् 1783 ई

1 *H R Gupta History of the Sikhs Vol. II p 63-64 157 183*

मे सिक्खों ने दिल्ली पर आक्रमण किया तथा सम्राट से तीन लाख रुपए ऐंठ लिए और अपने हितों की रक्षा के लिए अपने वकील लखपतराय को छोड़ गए।

मराठा इतिहास मे उच्च रणकौशल के साथ-साथ राजनयिक पटुता के भी दर्शन होते हैं। छत्रपति वीर शिवाजी स्वय राजनय के पण्डित थे तथा अपने जीवन के अनेक प्रसगो मे उन्होंने अपनी इस योग्यता का परिचय दिया। देश के प्राय सभी शासकों के यहाँ मराठा शासकों के प्रतिनिधियों का आदान प्रदान होता था। सन् 1730 में सम्राट् के प्रतिनिधि जयसिंह ने जब मराठों से शान्ति सन्धि का प्रयास किया तो छत्रपति शाहू ने दादा भीमसेन को अपना राजनयिक दूत बनाकर भेजा। ब्राह्मण राजनयज्ञ रामदास् पत का नाम मराठा इतिहास में विशेष स्थान रखता है। इस काल में 1759, 1767 तथा 1772 में अंग्रेजों ने पूना मे अपने राजदूत भेजे।

महादजी सिन्धिया एक कुशल राजनयज्ञ था। उसे मुगल सम्राट ने पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से वकील-ए मुतलक अथवा पूर्ण अधिकार प्राप्त अमात्य नियुक्त किया। महादजी ने बड़ी कुशलता एव शान्तिपूर्ण कार्य किया। उसके सहयोगी दूतों में इगले मल्हार तथा अम्बाजी के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार भारतीय इतिहास में कुशल राजनयज्ञों की कमी नहीं रही किन्तु उनको पारस्परिक वैमनस्य फूट देशद्रोह व्यक्तिगत स्वार्थ एव विलासिता के कारण वाँछनीय सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

4

राजनय के रूप

प्रजातन्त्रात्मक राजनय, संसदीय राजनय, शिखर राजनय, सम्मेलनीय राजनय, व्यक्तिगत राजनय तथा सहमिलन राजनय, आधुनिक विश्व में उनका प्रभाव और सीमाएँ–पुराना राजनय–पुराने का नए की ओर परिवर्तन, नया राजनय, नई तकनीकें तथा राजनय में आधुनिक विकास

(Types of Diplomacy—Democratic Diplomacy, Parliamentary Diplomacy, *Summit Diplomacy, Conference Diplomacy, Personal* Diplomacy and Coalition Diplomacy, Their Potentialities and Limits in the Modern World-Old Diplomacy, Transition from Old to the New, New Diplomacy, New Techniques and Recent Developments in Diplomacy)

राजनय का प्रयोग किसके द्वारा किया जा रहा है, किस विधि से किया जा रहा है उसका लक्ष्य क्या है उसका क्या स्वरूप है तथा उसके परिणाम क्या हो सकते हैं, आदि महत्वपूर्ण बातों के अन्तर के कारण राजनय को अनेक रूपों में विभाजित किया जाता है कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

1. पुराना राजनय (Old Diplomacy)
2. नया राजनय (New Diplomacy)
3. प्रजातन्त्रात्मक राजनय (Democratic Diplomacy)
4. संसदीय राजनय (Parliamentary Diplomacy)
5. शिखर राजनय (Summit Diplomacy)
6. सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy)
7. व्यक्तिगत राजनय (Personal Diplomacy)
8. सर्वाधिकारवादी राजनय (Totalitarian Diplomacy)
9. खुला राजनय बनाम गुप्त राजनय (Open Diplomacy v/s Secret Diplomacy)
10. दुकानदार जैसा राजनय बनाम सैनिक राजनय (Shopkeeper Diplomacy v/s Warrior Diplomacy)
11. प्रचार द्वारा राजनय (*Diplomacy by Propaganda*)
12. सहमिलन राजनय (*Coalition Diplomacy*)
13. कुछ अन्य रूप (Some other forms) जैसे—साँस्कृतिक राजनय (Cultural Diplomacy), युद्धपोत राजनय (Gunboat Diplomacy), सहायता का राजनय (Aid Diplomacy)।

राजनय के विभिन्न रूपों में परस्पर कोई सम्बन्ध न हो ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इनमे से कुछ तो एक-दूसरे की विरोधी प्रकृति के हैं फिर भी यह सम्भव है कि देश के राजनय मे इनमे से कुछ रूप एक साथ प्राप्त हो सकें। उदाहरण के लिए एक राजनय प्रजातन्त्रात्मक होने के साथ साथ प्रचार का खुले सम्मेलनों का एव दूकानदार जैसा भी हो सकता है। इस दृष्टि मे यदि राजनय के उपर्युक्त विभिन्न अन्तरों को अन्तर की सज्ञा न देकर केवल राजनय की विशेषताएँ कहें तो भी अनुचित न होगा।

प्रजातन्त्रात्मक राजनय (Democratic Diplomacy)

अर्थ एव विकास (Meaning and Evolution)

प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के विकास के साथ साथ राजनय के स्वरूप एव प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। प्रजातान्त्रिक राज्यों में प्रभुसत्ता जनता में निवास करती है और सम्पूर्ण राजनीतिक एव प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग करने वाले पदाधिकारी अन्तिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। तदनुसार प्रजातन्त्रात्मक देशों के राजदूत अन्य राज्यों में अपने मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व करते है। उन पर प्रत्यक्षत विदेश मन्त्री का नियन्त्रण रहता है। विदेश मन्त्री ससद् के प्रति उत्तरदायी होता है और ससद् जनता की प्रतिनिधि होने के कारण जन इच्छा के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार अन्तिम रूप से राजनयिक प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रो निकल्सन ने प्रजातन्त्रात्मक राजनय मे उत्तरदायित्व के इस क्रम का बडे सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है।[1] उनके कथनानुसार राजनयिक सेवा नागरिक सेवा की एक शाखा होती है इसलिए इसे राजनीति से दूर ही रखा जाता है। राजनयिक प्रतिनिधि सरकार के आदेशों का अक्षरश पालन करते हैं। अपने अनुभव जनित ज्ञान के आधार पर वे अनेक बार सरकार को परामर्श देते हैं तथा उसे कठिनाइयों से अवगत कराते हैं किन्तु यदि उनका मत स्वीकार न किया जाए तो भी उनका कर्तव्य है कि वे मन्त्रियों के आदेशों का निर्विरोध पालन करें।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रजातन्त्रात्मक राजनय शब्द लोकप्रिय बना। अब अन्तर्राष्ट्रीय सबधों में निर्णायक शक्ति जनता बन गई।

प्रजातन्त्रात्मक राजनय का सही विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ यद्यपि इससे पूर्व भी कुछ यूरोपीय देशों मे इसका प्रचलन था किन्तु ये देश अनेक महत्वपूर्ण गुप्त सन्धियाँ करते थे जिनके द्वारा अनजाने में किसी देश की जनता को अन्य देश के विरुद्ध लडने के लिए वचनबद्ध कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए जर्मनी ऑस्ट्रिया तथा इटली के बीच त्रिपक्षीय सन्धि (Triple Alliance) इसी प्रकार की थी। ब्रिटिश विदेश मन्त्री ग्रे ने जो सन्धि सम्बन्ध स्थापित किए उनसे न केवल ससद् को अन्जान रखा गया वरन् मन्त्रिमण्डल के अनेक मन्त्रियों को भी जानकारी नहीं दी गई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सभी यह मानने लगे कि गुप्त सन्धियाँ विश्व शान्ति के लिए खतरनाक हैं तथा अप्रजातान्त्रिक

1 "The diplomatist being a civil servant is subject to the foreign secretary being a member of Cabinet is subject to the majority in parliament being but a representative assembly is subject to the will of the sovereign people —Herold Nicolson

है। अतः राजनय में विश्वयुद्ध को रोकने के लिए गुप्त सन्धियों के स्थान पर खुले रूप में सन्धियों का समर्थन किया जाने लगा।

विशेषताएँ (Characteristics)

1 प्रजातन्त्रात्मक राजनय में राजनयज्ञों को न केवल अपने देश के शासकों की रुचि का ही ध्यान रखना पड़ता है वरन् उन्हें जनता की रुचि एवं जनहित का भी ध्यान रखना होता है।

2 राजनयिक स्तर पर की जाने वाली सभी सन्धियों एवं समझौतों से सामान्य जनता को परिचित रखा जाता है और जनता समय समय पर उनके बारे में अपनी राय प्रकट करती है।

3 अनेक जन समुदायों एवं संगठन द्वारा विदेशों से की गई सन्धियों एवं समझौतों के विरोध या समर्थन में भाषण, प्रचार, आन्दोलन एवं जुलूसों का आयोजन किया जाता है।

4 प्रजातन्त्रात्मक राजनय पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है, जैसे स्वतन्त्र प्रेस, भाषण की स्वतन्त्रता, जनमत का प्रभाव, विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों का मत विरोधी दलों की भूमिका, प्रधान मन्त्री का करिश्मा और विदेशमन्त्री की भूमिका आदि। यह सम्पूर्ण देश के सामान्य हित की उपलब्धि का प्रयास करता है।

5 प्रजातन्त्रात्मक राजनय में गुप्त सन्धियों का विरोध तथा खुली सन्धियों का समर्थन किया जाता है। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के अनुसार शान्ति सम्बन्धी समझौते तथा उनकी प्रक्रिया भी खुले रूप में होनी चाहिए (Open covenants of peace openly arrived at)। इस सूत्र के आधार पर सभी गुप्त एवं शान्ति विरोधी राजनयिक कार्यों पर रोक लगाने की माँग की गई। राष्ट्रपति विल्सन के इस योगदान का राजनय के इतिहास में स्थायी मूल्य है। 8 जनवरी, 1918 को अमेरिकी काँग्रेस के सम्मुख इन्होंने खुले राजनय का अर्थ स्पष्ट किया।[1] खुले राजनय का अर्थ यह नहीं होता कि गम्भीर विषयों पर निजी विचार विमर्श किया ही न जाए, इसका अर्थ केवल यह है कि कोई गुप्त समझौता नहीं किया जाना चाहिए। सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण स्पष्ट रूप से सभी के सामने किया जाना चाहिए। वर्तमान में प्रजातन्त्रात्मक राजनय में अब गोपनीय कार्यवाहियों की सम्भावना नहीं रह गई है।

राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान
(The Contribution of League of Nations and U.N.O.)

सन् 1919 की वर्साय की सन्धि द्वारा राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इसके द्वारा गुप्त सन्धियों को समाप्त करने तथा विदेशनीति पर जनता का नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कुछ कदम उठाए गए। राष्ट्रसंघ की धारा 18 के अन्तर्गत यह प्रावधान था कि भविष्य में राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा जो भी सन्धि की जाएगी उसे राष्ट्रसंघ सचिवालय में लिपिबद्ध कराया जाएगा तथा यह चेष्टा की जाएगी कि वह शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित हो जाए। इस प्रक्रिया के बिना प्रत्येक समझौता या सन्धि अमान्य रहेगी। व्यवहार में राष्ट्रसंघ

1 "Open covenants of peace, openly arrived at after which there shall be no private international understandings of any kind but diplomacy shall proceed always frankly and in the public view." —Woodrow Wilson

की यह धारा अधिक सार्थक सिद्ध नहीं हो सकी क्योंकि अनेक राज्य पहले ही सघ के सदस्य नही थे और कुछ बाद मे अलग हो गए। अत गुप्त सन्धियों का कार्यक्रम चलता रहा।

राष्ट्रसघ ने इस परम्परा को प्रोत्साहित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का अनुसमर्थन सम्प्रभु शक्ति द्वारा किया जाना चाहिए। यह व्यवस्था गुप्त सन्धियों के निराकरण तथा राजनय को प्रजातन्त्रात्मक बनाने के अनुरूप थी। लेकिन वर्तमान मे ससद प्रेसीडियम या सीनेट *कार्यपालिका द्वारा सन्धि को अस्वीकार भी कर सकते है और करते भी हैं।*

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे भी सन्धियों के पजीकरण की व्यवस्था की गई है। धारा 102 के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रत्येक सदस्य द्वारा की गई सन्धि को पजीकृत किया जाना चाहिए। जिस सन्धि को पजीकृत किया जाता है केवल उसी के उल्लघन या क्रियान्वयन सम्बन्धी विषय को सघ के किसी अग के सम्मुख लाया जा सकता है। सन्धि का सघ में पजीकरण न होने का अर्थ यह नहीं है कि उसे अवैध माना जाएगा। सघ का सचिवालय समय समय पर सन्धियों की श्रृखला प्रकाशित करता रहता है। सन्धिकर्ता-राज्य इसका लाभ उठाते हैं।

प्रजातान्त्रिक राजनय के गुण
(Virtues of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर जनता का पूर्ण वर्चस्व होता है। जनता सधियों से पूर्ण परिचित रहती है।

सक्षेप में जनतान्त्रिक राजनय के निम्नलिखित लाभ हैं—

1 इनमे सन्धियाँ खुले रूप में होती हैं प्रजातन्त्र के विकास से पूर्व विभिन्न शासक आपस में ऐसी गुप्त सन्धियाँ कर लेते थे जो उनकी जनता एव पड़ोसी राज्यों के लिए सकटपूर्ण बन जाती थीं। *विश्व राजनीति के इतिहास मे महाशक्तियों ने इसी प्रकार गुप्त सन्धियाँ* करके छोटे राज्यों पर वर्चस्व स्थापित किया था। प्रजातान्त्रिक राजनय मे ऐसी सन्धियों की सम्भावना नहीं रहती है।

2 सुविदित जनता प्रजातान्त्रिक राजनय मे जनता को विदेश नीति का पूरा ज्ञान रहता है। फलत सन्धियों की कार्यान्विति सही रूप में हो पाती है। सन्धियों पर जब ससद की स्वीकृति प्राप्त की जाती है तो साँसद उनमें आवश्यकतानुसार सुधार एव सशोधन का सुझाव देते हैं। जनमत द्वारा समर्थित होने के कारण सन्धि की क्रियान्विति अधिक सफलता से हो पाती है। *उदाहरण के लिए भारत सोवियत मैत्री सन्धि (अगस्त 1971) के सम्बन्ध* में देश के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों की सहमति थी। जनता भी सारी स्थिति से अवगत है।

3 प्रेस की भूमिका *प्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।* यह सशक्त जनमत का निर्माण करता है, साथ ही अनुत्तरदायी राजनेताओं पर नियत्रण रखता है।

4 विदेश सेवा का सचालन कूटनीतिक सेवाओं मे योग्यता के आधार पर भर्ती किये जाने के कारण विदेश सेवा का कुशलतापूर्वक सचालन किया जा सकता है।

5 विश्व शान्ति को सुदृढ करना : प्रजातान्त्रिक राजनय से विश्व शान्ति सुरक्षित रहती है क्योंकि इसमें गुप्त षडयन्त्रों तथा घात प्रतिघात के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

6 संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व में वृद्धि प्रजातान्त्रिक राजनय ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व को बढाया है। महासभा का महत्व उत्तरोत्तर रूप से बढता ही जा रहा है।

प्रजातान्त्रिक राजनय के दोष
(Demerits of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय की व्यापक आलोचना भी हुई है। हडलेस्टन (Huddleston) के मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद का राजनय यथार्थ में राजनय ही नहीं था (Negotion of Real Diplomacy)। उनका परामर्श है कि हमको अधिक स्पष्ट एवं सक्षम व्यावसायिक राजनय की ओर ही लौट जाना चाहिए।[1] हेरोल्ड निकल्सन तथा अन्य विचारकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्रात्मक राजनय के कुछ खतरे एवं दोष निम्नलिखित हैं—

1 अनुत्तरदायित्व (Irresponsibility) : प्रजातान्त्रिक राजनय का अनुभव कुल मिलाकर निराशाजनक रहा है। इसमें विदेश-नीति को नियन्त्रित करने की शक्ति अन्तिम रूप से जनता को सौंपी जाती है किन्तु जनता इस शक्ति के उत्तरदायित्वों से अनभिज्ञ रहती है। प्रो निकल्सन ने सम्प्रभु जनता के अनुत्तरदायित्व को प्रजातन्त्रात्मक राजनय का सर्वाधिक सक्षम खतरा माना है।[2] सामान्य जनता अपनी सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अचेत रहती है। संसद् के बहुमत द्वारा स्वीकृत सन्धि को भी सामान्य जनता अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत न मानकर आलोचना करती है। ऐसी हालत में सरकार की स्थिति शोचनीय बन जाती है। वह इन सन्धियों तथा समझौतों को सही रूप में लागू नहीं कर पाती है।

2. जनता की अज्ञानता (Ignorance of the People) : जनतन्त्र में जनता को विदेश नीति की पूरी जानकारी नहीं रहती। वह वैदेशिक सम्बन्धों के बारे में आलस्यपूर्ण तथा उदासीनता नीति अपनाती है तथा विस्मृति के कारण अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों से अपरिचित रह जाती है। विदेशी मामलों पर आलोचना या विचार करते समय उन्हें घरेलू मामलों के बराबर महत्व नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त शासन तथा विरोधपक्ष भी मतदाताओं को वैदेशिक मामलों की पूर्ण जानकारी प्रदान नहीं करते।

प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का यह दुखद तथ्य है कि जो व्यक्ति विश्व के राज्यों का नाम तक भली प्रकार नहीं जानता वह भी विदेश नीति के प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर निर्णय लेने का दावा करता है।

3. विलम्ब (Delay) : विदेश-नीति के अनेक प्रश्नों पर शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक होता है किन्तु जनतन्त्र में यह सम्भव नहीं हो पाता। यहाँ प्रत्येक निर्णय पर संसद् की स्वीकृति आवश्यक होती है। संसद् अपनी स्वीकृति प्रदान करने से पहले इस सम्बन्ध में जनता की राय जानने का प्रयास करती है। इस प्रक्रिया में पर्याप्त समय लग जाता है जिसका दुष्परिणाम समूचे देश को भुगतना पड़ता है। प्रो निकल्सन के कथनानुसार,

1 *Sisley Huddleston* Popular Diplomacy and War, pp. 256-61

2 "The sovereign people are not conscious of their sovereignty and are therefore unaware that it is they themselves who have caused these treaties to be signed." —*Harold Nicolson*

"एक शक्तिशाली राजा या तानाशाह को किसी नीति के निर्माण और क्रियान्वित करने मे केवल कुछ घण्टे लगेंगे, किन्तु एक प्रजातान्त्रिक सरकार को उस समय तक प्रतीक्षा करनी होती है जब तक कि उसका जनमत अपने निष्कर्षों को पचा न ले।[1] यद्यपि यह प्रक्रिया अनसोचे निर्णयों के खतरों से तो रक्षा करती है किन्तु इससे प्रभावशाली राजनय को हानि पहुँचती है। देश के नेता समय पर निर्णय नहीं ले पाते।

4 अनिश्चितता (Imprecision) प्रजातान्त्रिक राजनय मे अस्पष्टता एव परिवर्तनशीलता रहती है। इसमें राजनयज्ञ ऐसी नीतियाँ अपनाते है जिनका वे आवश्यकतानुसार उल्टा सीधा कुछ भी अर्थ लगा सके। प्रजातान्त्रिक सरकारों को जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए कुछ कहना पड़ता है राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए कुछ और तथा अन्य राज्यों को मैत्री प्राप्त करने के लिए पूर्णत भिन्न बात कहनी होती है। इन सब भिन्नताओं को मिटाने के लिए वे समय समय पर नीति की विरोधी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। इसके फलस्वरूप राज्यों के बीच अविश्वास की भावना पनपती है। राजनयज्ञों की *भाषा अनिश्चित अस्पष्ट निरर्थक और अविश्वसनीय बन जाती है।* उनके द्वारा ऊँचे ऊँचे आदर्शों की बातें की जाती हैं जिनका व्यवहार में कोई महत्व नहीं होता है।

5. प्रकाशन का दुरुपयोग (Misuse of Publicity) *प्रजातान्त्रिक राज्यों में* प्रचार और प्रकाशन का लक्ष्य केवल जनता को समझाना व सूचित करना ही न होकर उसका मानसिक शुद्धिकरण करना होता है। सरकार दो प्रकार से प्रकाशन कार्य पर नियन्त्रण रखती है—(i) विज्ञापनों एव प्रमुख समाचारों में प्राथमिकता के माध्यम से यह मुख्य पत्र और पत्रिकाओं पर नियन्त्रण रखती है। (ii) विदेश मन्त्रालय या समग्र प्रशासन द्वारा सूचना एव प्रसारण के लिए स्वय का सगठन गठित किया जाता है। यह स्वय सरकारी नीतियों का प्रकाशन करता है। कभी कभी समाचार पत्र अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर सरकारी नीति की ऐसी आलोचना करते हैं जिसका जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

6 राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राएँ (Foreign Tours of Politicians) प्रजातन्त्र में विदेशमन्त्री प्रधान मन्त्री या अन्य राजनीतिज्ञ सधि वार्ताओं के लिए विदेश यात्राएँ करते रहते हैं। उनकी ये यात्राएँ अधिकाँश मामलों मे अनुपयुक्त एव अनावश्यक होती हैं। विदेशों में अपने स्वागत की धूम धाम तथा आदर सत्कार के कारण उनके विचार निष्पक्ष नहीं रह पाते। उनकी भावनाएँ बुद्धि पर छा जाती हैं और वे व्यक्तिगत प्रभाव से जो निर्णय लेते हैं वह कभी कभी राष्ट्रीय हित से भिन्न होते हैं।

अत प्रो निकल्सन ने सुझाया है कि साधारण स्थिति मे विदेश के प्रधान मन्त्री विदेश मन्त्री या विदेश सचिव से मिलने का *कार्य व्यावसायिक राजनयज्ञों पर छोड़ देना चाहिए।* इससे उन सभी दोषों का निराकरण हो जाएगा जो राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राओं से उत्पन्न होते हैं। *राजनय बातचीत करने की कला नहीं है वरन् एक निश्चित एव स्वीकृत* रूप में वार्तालाप द्वारा समझौता करने की कला है।[2] अत सन्धि वार्ता का कार्य राजनयज्ञों *को ही करने देना चाहिए।*

1 *Harold Nicolson* Diplomacy
2 "Diplomacy is not the art of conversation it is the art of negotiating agreements in precise and ratifiable form —*Harold Nicolson*

7 खर्चीली व्यवस्था प्रजातान्त्रिक राजनय में प्रचार और प्रसार पर अत्यधिक व्यय किया जाता है। सन्धियों के सम्पादन के समय भी भारी व्यय किया जाता है।

प्रजातन्त्रात्मक और परम्परागत राजनय में अन्तर
(Distinction Between Democratic and Traditional Diplomacy)

प्रजातन्त्रात्मक राजनय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए अब उपयुक्त होगा कि इसका परम्परागत राजनय से अन्तर किया जाए इस अन्तर को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1 प्रजातन्त्रात्मक राजनय इस बात में विश्वास करता है कि राष्ट्रों की पारस्परिक अथवा विश्व समस्याओं का समाधान विचार विमर्श द्वारा और आदान प्रदान की भावना से किया जाए। प्रजातन्त्रात्मक राजनय शान्तिपूर्ण राजनयिक तरीकों में विश्वास करता है और हिंसा को टालते हुए अनुकूल वातावरण बनाकर समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत परम्परागत राजनय शक्ति की भाषा राजनय के कुटिल तरीकों और स्वेच्छाचारिता में विश्वास करता है। परम्परागत राजनय विश्व जनमत की परवाह नहीं करता।

2 प्रजातन्त्रात्मक राजनय का उद्देश्य जन हित और जन इच्छा की अभिवृद्धि करना है जबकि परम्परागत राजनय शासक वर्ग के हितों की अभिवृद्धि का पक्षपाती है। प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ अपने को जनता का सेवक मानकर चलते हैं और उन्हें दूसरे देश में स्वदेश की जन इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम माना जाता है। वे शासक वर्ग को निर्भय होकर सलाह देते हैं कि अमुक राजनयिक व्यवहार या अमुक नीति के पालन से जन हित की अभिवृद्धि होगी और अमुक नीति जन हित की दृष्टि से अनुकूल नहीं होगी। परम्परागत राजनय इस प्रकार के आदर्शों में विश्वास नहीं करता। उसका उद्देश्य राज्य की सीमाओं का विस्तार और व्यक्तिगत हितों को पूर्ति करना होता है। प्राचीन काल में राजनयज्ञ जन सेवक नहीं वरन् शासक के व्यक्तिगत प्रतिनिधि समझे जाते थे।

3 प्रजातन्त्रात्मक राजनय 'लोकतन्त्रीय उत्तरदायित्व' में विश्वास करता है। प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ उस सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं जो निर्वाचित व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञों की गलतियों पर संसद में बहस हो सकती है। जन प्रतिनिधि सरकार से उनके कार्यों के बारे में प्रश्न पूछ सकते हैं अर्थात् उनके कार्यों का मूल्यांकन संसद द्वारा किया जा सकता है। इसके विपरीत परम्परागत राजनय जनता को नहीं वरन् केवल शासक या शासक-वर्ग की हित साधन को प्रधानता देता है। प्राचीनकाल में राजनयज्ञ स्वयं को केवल राजा के प्रति ही उत्तरदायी मानते थे राजा ही उनको नियुक्त करता था और हटाता भी था।

4 परम्परागत राजनय में मुख्यत उन्हीं व्यक्तियों को राजनयिक सेवा में लिया जाता था जो कुलीन वर्ग या शासक वर्ग से सबंधित होते थे। सामान्य जनता को राजनयिक सेवा में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था किसी अवसर पर कोई अपवाद हो वह अलग बात है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मक राजनय वर्गीय राजनय न होकर जन राजनय है जिसमें राजनयज्ञों की भर्ती योग्यता के आधार पर प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से की जाती है। नियुक्ति के बाद भी राजनयिक अधिकारी 'अराजनैतिक' बने रहते हैं और उनका कार्य गृह

सरकार की नीतियों के अनुसार देश के हितों की रक्षा करना होता है। ये राजनय सविधान के प्रति उत्तरदायी होते है।

5 परम्परागत राजनयज्ञ जनता के सम्पर्क से दूर रहते थे उनका कार्य क्षेत्र राज घरानों तक ही सीमित था। इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मक राजनयज्ञ जनता के सेवक है जो अपने देश की जनता से अलग नहीं रहते हैं।

6 प्राचीन काल मे राजनयज्ञ जो समझौते एव सन्धियाँ करते थे उन्हे अपनी सरकार के पास स्वीकृति के लिए प्राय नहीं भेजते थे। राजदूत का पद इस दृष्टि से पूर्ण अधिकार सम्पन्न माना जाता था और उसके द्वारा किए गए समझौते बन्धनकारी होते थे। राजदूत राजा या सम्राट् का प्रतिनिधि होता था। प्रजातन्त्रात्मक राजनय मे अन्तिम शक्ति जन प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभाओं के पास होती है। अपनी सरकार की स्वीकृति के अभाव मे राजदूत कोई समझौता सम्पन्न नहीं कर सकता। स्विट्जरलैण्ड जैसे देश मे तो सन्धियों पर अनिवार्य जनमत सग्रह की व्यवस्था है। वर्तमान मे सन्धियों का अनुमोदन लगभग सभी देशों मे आवश्यक हो गया है।

आज का युग प्रजातन्त्रात्मक है अत प्रजातन्त्रात्मक राजनय ही लगभग सर्वत्र प्रचलित है। सर्वाधिकारवादी अथवा अधिनायकवादी राज्य भी अपने राजनय को प्रजातन्त्र का बाना पहनाते है। परम्परागत राजनय को आज कोई स्थान प्राप्त नहीं है तथापि कुछ ऐसे राष्ट्र भी हैं जो कुछ अवसरों पर परम्परागत राजनय का सहारा लेने से नहीं चूकते क्योंकि उनकी मनोवृत्ति विस्तारवादी है। प्रजातन्त्रीय राजनय वह शान्ति दूत है जो शान्ति और सहअस्तित्व की शक्तियों को प्रोत्साहन देकर विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रसार करता है। प्रजातान्त्रिक राजनय अभी विकास के दौर में है इसने अभी तक कोई एकदम स्पष्ट दिशा ग्रहण नही की है। हेरोल्ड निकल्सन ने लिखा है "प्रजातन्त्रात्मक राजनय की उलझनपूर्ण (Confused) स्थिति में भी अन्य किसी भी राजनयिक व्यवस्था से मैं इसे निश्चित रूप से बेहतर समझता हूं। फिर भी मेरी यह मान्यता है कि प्रजातन्त्रात्मक राजनय अभी तक अपना स्वय का सूत्र (Its own formula) नहीं खोज पाया है।[1]

ससदीय राजनय

(Parliamentary Diplomacy)

अपने आधुनिक रूप मे ससदीय राजनय बीसवीं सदी की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं मे विश्व व्यापकता के प्रवेश के साथ साथ राजनय भी बहुपक्षीय बन गया और विश्व समस्याओं पर विचार विमर्श तथा उनके समाधान के लिए बहुपक्षीय वार्ता पद्धति अधिकाधिक प्रचलित होती गई। विभिन्न स्थाई एव अस्थाई अन्तर्राष्ट्रीय मचों का निर्माण किया गया जिनमे राष्ट्रसघ के उत्तराधिकारी के रूप मे वर्तमान सयुक्त राष्ट्रसघ सबसे प्रमुख है। वास्तव मे सर्वप्रथम राष्ट्रसघ और तत्पश्चात् सयुक्त राष्ट्रसघ ने वार्ता के स्वरूप को जो नया आयाम दिया उसे ही ससदीय राजनय कहा जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व विदेश मन्त्री डीन रस्क को ससदीय राजनय शब्द के प्रथम उपयोग का श्रेय है। इसके पूर्व भी राजनय के इस स्वरूप को हेग *1899* तथा *1907* के शान्ति सम्मेलनों मे प्रयोग मे लाया जा चुका है।

1 Nicolson Diplomacy p 53

संसदीय राजनय से हमारा तात्पर्य बहुपक्षीय राजनय की उन खुली वार्ताओं व विचार विमर्शों से है जो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से निपटने के लिए संयुक्त राष्ट्र व अन्य क्षेत्रीय संस्थाओं में चलती रहती हैं तथा जिनके गुणों व दोषों पर खुला विचार होता है और अन्तिम निर्णय मतदान द्वारा लिया जाता है।[1] महासचिव का चुनाव, उसका वार्षिक प्रतिवेदन, सामान्य प्रस्ताव, उन पर वाद विवाद, विभिन्न अधिकारियों के चुनाव आदि ठीक वैसे ही हैं जैसे प्रायः राज्यों की संसदों में देखे जाते हैं। इस 166 सदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में विश्व समस्याओं पर, कुछ राष्ट्रों को छोड़ कर सभी राष्ट्र वाद विवाद करते हैं और महासभा में बहुमत के आधार पर अनेक निर्णय लिए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का स्वरूप बहुत कुछ राष्ट्रीय संसद से मिलता जुलता है—उसे हम एक प्रकार से 'विश्व संसद' की संज्ञा दे सकते हैं। महासभा की कार्यवाही और राष्ट्रीय संसदों की कार्यवाही में अनेक दृष्टियों से समानता है। महासभा के विशाल हाल में विश्व के लगभग 166 राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठते हैं और विभिन्न समस्याओं पर विचार विमर्श करते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय संसद ने 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धान्त को मान्यता दी है उसी प्रकार महासभा में 'एक राज्य, एक वोट' के सिद्धान्त को मान्यता देकर छोटे बड़े राष्ट्रों का भेद मिटा दिया गया है।

महासभा एक संसदीय निकाय की भाँति है क्योंकि जिस प्रकार संसदीय व्यवस्था में राजनीतिक दल, क्षेत्रीय गुट एवं विशेष हित समूह राज्य की रीति नीति को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी क्षेत्रीय तथा राजनीतिक गुट संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रक्रिया एवं उसके परिणामों को प्रभावित करते हैं।

महासभा में राज्यों के समूह (Group) सम्मिलन या गठबन्धन (Coalitions) गुट (Blocks) आदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। आलोचकों के अनुसार सम्मिलन, समूहों और गुटों की गतिविधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचने की सम्भावना घट जाती है। महासभा के राजनीतिक निकाय (A Political Body) होने के कारण ही ऐसा होता है।

संसदीय राजनय में यह विश्वास किया जाता है कि किसी विवाद को सबके सामने लाने से तथा उस पर वाद विवाद करने एवं प्रस्ताव पारित करने मात्र से उसे सुलझाया जा सकता है। यह मान्यता गलत है। वास्तविक व्यवहार में इन प्रयासों से मनमुटाव तथा राष्ट्रीय भावनाएँ उभरती हैं। मतदान से पहले प्रत्येक प्रश्न पर प्रत्येक राज्य पूर्ण विचार नहीं कर पाता। मतदान के समय अनेक सदस्य राज्य अनुपस्थित भी रहते हैं। संघ की कार्यवाही में फैसले का आधार गुटबन्दी बन जाता है जो अनेक बार विश्व शान्ति के लिए खतरा साबित होता है। संसदीय राजनय की उपयोगिता यह है कि इसके फलस्वरूप विश्व जनमत संगठित होता है। इसके माध्यम से अनेक राज्यों के सहयोगपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलता है तथा वे शान्तिपूर्ण कार्यवाही कर पाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ में विभिन्न प्रकार के सहयोगी समूहों और साझेदारों का विकास होता है। इनमें तदर्थ सम्मिलन (The Adhoc Coalition) होता है जिसका कम या अधिक

1 Nicolson Diplomacy p 43

समय के लिए समस्या विशेष पर विचार विमर्श के लिए निर्माण होता है और तब वह समस्या समाप्त हो जाती है अथवा उसका स्वरूप बदल जाता है तो यह तदर्थ सहमिलन (Adhoc Coalition) समाप्त हो जाता है। महासभा में राज्यों के एक दूसरे प्रकार के संगठन या गठबन्धन (Coalition) का उदय तब होता है जब कुछ राज्य नियमित या अनियमित रूप से 'काकस' (Caucus) में मिलते है ताकि वे सामान्य हित के मामलो पर आपस में विचार विमर्श कर सके बिना इस बात पर वचनबद्ध हुए कि वे एक होकर कार्य करेंगे।

महासभा की उपरोक्त सभी गतिविधियों को अमेरिकी विदेश मंत्री डीन रस्क ने संसदीय राजनय (Parliamentary Democracy) की संज्ञा दी थी।

संसदीय राजनय की प्रकृति

संयुक्त राष्ट्र महासभा में संसदीय राजनय के स्वरूप के प्रकाश में हम इस राजनय की प्रकृति को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) संसदीय राजनय बहुपक्षीय होता है। वे विषय जिनकी प्रवृत्ति सामान्य है अथवा *जिनका सम्बन्ध किसी क्षेत्र विशेष के विभिन्न देशों से है संसदीय राजनय के विचारणीय विषय हो सकते हैं। संसदीय राजनय ऐसी समस्याओं को नहीं लेता जिन्हें द्वि पक्षीय वार्ता द्वारा हल किया जाता हो।*

(2) संसदीय राजनय में 'गोपनीयता' के स्थान पर 'खुलापन' होता है अर्थात् यह अपनी प्रकृति से 'खुला राजनय' (Open Diplomacy) है। विषय के प्रत्येक पहलू पर आम बहस होती है और पक्ष विपक्ष के विचारों का विश्व भर में प्रकाशन होता है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जाती हैं और विभिन्न सरकारें संयुक्त राष्ट्र में अपने प्रतिनिधियों को निर्देश भेजती हैं कि किस नीति का अनुपालन किया जाए। इस प्रकार *संसदीय राजनयिक प्रक्रिया वास्तव में खुली राजनयिक क्रिया है।* पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इसमें 'गोपनीयता' को स्थान नहीं होता। व्यवहार में वास्तविक निर्णय और वार्ताएँ तो अनौपचारिक बैठकों और मुलाकातों में गुप्त रूप से होती हैं। दबाव की राजनीति (Pressure Politics) अपना कार्य करती रहती है। पर्दे के पीछे जिन निर्णयों पर पहुँचा जाता है बाद में प्रायः वे ही निर्णय प्रकाश में आते हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि संसदीय राजनय में औपचारिक रूप से खुला राजनय (Formally Open Diplomacy) होते हुए भी पूर्णतः खुला राजनय (Absolute Open Diplomacy) नहीं है।

(3) *संसदीय राजनय में निर्णय सदैव बहुमत से लिए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा में महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई बहुमत और साधारण* प्रश्नों के निर्णय के लिए साधारण बहुमत पर्याप्त होता है। सुरक्षा परिषद् में भी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं लेकिन स्थायी सदस्यों को जो विशेषाधिकार (Veto Power) है वह संसदीय राजनय के सर्वाधिकार के विपरीत है वह तो एक प्रकार से 'निरंकुश राजनय' *जैसी व्यवस्था है।*

(4) संसदीय राजनय के विकास के फलस्वरूप छोटे और अल्पविकसित देशों का महत्व बढ़ गया है क्योंकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर *महाशक्तियाँ उनके समर्थन के लिए लालायित रहती हैं।*

(5) संसदीय राजनय अपने स्वरूप में बहुत कुछ अराजनीतिक है क्योंकि यह राजनय बहुपक्षीय होने के साथ साथ सम्प्रभु राज्यों के लिए बन्धनकारी निर्णय नहीं कर सकता। महासभा अपने किसी भी सदस्य को इस बात के लिए बाध्य नहीं कर सकती कि वह अनिवार्य रूप से उसके निर्णय को माने। दूसरे शब्दों में महासभा के निर्णय मुख्यतः सिफारिशों जैसा प्रभाव रखते हैं। संसदीय राजनय विश्व जनमत को जाग्रत कर अनौपचारिक दबाव प्रक्रिया लागू करता है।

संसदीय राजनय के गुण एवं दोष

संयुक्त राष्ट्र संघ का राजनय संसदीय राजनय का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस राजनय के मुख्य गुण अथवा लाभ निम्नलिखित हैं—

(1) संसदीय राजनय विश्व जनमत को प्रभावित करता है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने शान्ति और सहअस्तित्व के पक्ष में तथा समस्याओं को वार्ता द्वारा सुलझाने के पक्ष में एक अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का निर्माण किया है जिससे समूचे विश्व में शान्ति और समृद्धि के प्रति एक हद तक विश्वास व्याप्त हुआ है। संसदीय राजनय द्वारा उत्पन्न विश्व जनमत महाशक्तियों को नियन्त्रित रखता है।

(2) संसदीय राजनय से बहुपक्षीय प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे समस्याओं में शीघ्र निर्णय में सहायता पहुँचती है। अरब इजरायल संघर्ष को शान्त करने में संसदीय राजनय ने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वह सर्वविदित है। जिन समस्याओं का हल आपसी वार्ता से नहीं निकल पाता उनके लिए बहुपक्षीय राजनय ही सर्वोत्तम उपाय है।

(3) संसदीय राजनय ने ही विभिन्न प्रकार की राजनयिक पद्धतियों को जन्म दिया है। इस राजनय के विकास के कारण समान विचारधारा और समान हितों के आकाँक्षी देशों में आपसी सम्पर्क बढ़ा है। समय समय पर उनके सम्मेलन होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, गुट-निरपेक्षता में विश्वास रखने वाले देशों के गुट-निरपेक्ष सम्मेलन होते रहते हैं। पाश्चात्य देशों में अनेक ऐसे मंच हैं जहाँ समय-समय पर सदस्य राष्ट्र आपस में विचार-विमर्श करते रहते हैं। इस प्रकार के राजनय को हम परामर्शात्मक राजनय (Consultative Diplomacy) कह सकते हैं। संसदीय राजनय ने यात्रा राजनय (Travel Diplomacy) को बढ़ावा दिया है।

(4) संसदीय राजनय ने संयुक्त राष्ट्र महासभा को एक प्रकार की विश्व संसद् बना दिया है। सन् 1979 में स्थापित यूरोपीय संसद् भी संसदीय राजनय की बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण है।

संसदीय राजनय के अनेक दोष भी हैं यथा—

(1) संसदीय राजनय पर्दे के पीछे जो दाव पेंच खेलता है उससे राष्ट्रों के आपसी विश्वास को धक्का पहुँचता है और एक-दूसरे के प्रति सन्देह का वातावरण विकसित होता है। शीत-युद्ध को बढ़ाने में संसदीय राजनय का बड़ा योगदान रहा था।

(2) संसदीय राजनय ने संयुक्त राष्ट्र महासभा को राजनीतिक अखाड़े का मंच बना दिया है जहाँ प्रत्येक राष्ट्र अपनी वैचारिक तथा राष्ट्रीय श्रेष्ठता के प्रदर्शन में लगा रहता है।

(3) संसदीय राजनय खुला राजनय है अतः खुले राजनय के लगभग सभी दोष इस राजनय मे आ जाते हैं। अनेक अवसरों पर संसदीय राजनय समस्याओं को उल्टे अधिक उलझा देता है जिससे विश्व तनाव मे वृद्धि होती है।

(4) संसदीय राजनय से गुट राजनीति और क्षेत्रवाद को बढावा मिला है। महासभा की मतदान प्रक्रिया और वहॉ के राजनीतिक दाव पेचों पर दृष्टि डाले तो हम यही देखते हैं कि इस विश्व ससद् मे विभिन्न गुट बने हुए हैं और फलस्वरूप सारे विचार विमर्श *गुट प्रतिबद्ध स्थिति मे होते हैं।*

(5) संसदीय राजनय एक प्रकार से प्रचार राजनय अधिक है क्योंकि प्रत्येक गुट अपने भाषणों मतदान आदि के द्वारा अपने विरोधी को नीचा दिखाने और अपने हित का समर्थन करने को प्रयत्नशील रहता है।

(6) महासभा की औपचारिक कार्यवाही में प्रतिनिधियों की उतनी रुचि नहीं रहती जितनी पर्दे के पीछे चलने वाली अनौपचारिक वार्ताओं में रहती है। अनौपचारिक वार्ताओं में लिए गए निर्णयों को सुन्दर शब्दजाल मे महासभा के पटल पर रख दिया जाता है और यही संसदीय राजनय बन जाता है।

(7) संसदीय राजनय को छाया मुक्केबाजी (Shadow Boxing) की सज्ञा दी गई है। इसे लाउडस्पीकर का राजनय (Diplomacy by Loud Speaker) तथा अपमान का राजनय (Diplomacy by Insult) भी कहा जाता है। संसदीय राजनय एक ऐसा खेल है जिसमे विपक्षी को नीचा दिखाने और अपमानित करने का प्रयास किया जाता है। शीतयुद्ध की चरम स्थिति मे संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ यही करते रहे। सोवियत संघ *की समाप्ति के साथ ही शीतयुद्ध समाप्त हो गया।*

उपर्युक्त दोषों के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि संसदीय राजनय ने सशस्त्र युद्धों के अवसरों को घटाया है और विश्व को अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर किया है। इस संसदीय राजनय ने उग्र राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा पर कुछ न कुछ अकुश लगाने मे सफलता प्राप्त की है।

शिखर राजनय
(The Summit Diplomacy)

जब राजनय मे एक देश का राज्याध्यक्ष या सर्वोच्च सरकारी अधिकारी स्वय भाग लेता है तो उसे शिखर राजनय की सज्ञा दी जाती है। एल्मर प्लिस्के (Elmer Plischke) के कथनानुसार "शिखर राजनय की व्याख्या व्यापक रूप में राज्य के प्रमुख अथवा सरकारी स्तर के अध्यक्ष द्वारा विदेश नीति एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण एव प्रकाशन के रूप मे की जाती है।"[1] स्पष्ट है कि शिखर शब्द का अर्थ राज्य के अध्यक्ष या सरकार के अध्यक्ष से है। मन्त्रालय स्तर के विदेश सम्बन्धों को उपशिखर की सज्ञा दी जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राजतन्त्र के समय स्वय राजा ही देश के आन्तरिक और बाह्य प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता था। प्रजातन्त्र का विकास होने

1 "Summit diplomacy may be broadly interpreted as meaning of the determination and publicizing of foreign policy *and the management of international affairs at the chief of* state or head of government level —*Elmer Plischke*

पर स्थिति बदल गई किन्तु हाल ही में शिखर राजनय के रूप ने पुरानी परम्परा के नए सन्दर्भ में स्वयं को पुनः प्रतिष्ठापित कर लिया है और राजनय का जो स्वरूप आज सर्वाधिक प्रचलित है वह शिखर राजनय ही है। जब दो अथवा अधिक देशों के राष्ट्राध्यक्षों की मुलाकात होती है तो उनकी आपसी वार्ता के उपरान्त प्रायः संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की जाती है जिसमें आपसी सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न मुद्दों के प्रति उन महानुभावों के दृष्टिकोणों की झलक होती है और जिन मुख्य मुद्दों पर असहमति होती है। उनके हल की सम्भावना आदि की आशा व्यक्त की जाती है उन्हें प्रायः उभारा नहीं जाता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों और सोवियतसंघ के नेताओं के बीच अनेक शिखर सम्मेलन आयोजित होते रहे हैं। इससे विश्व समस्याओं के समाधान में सहायता मिली। अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन तथा जार्ज बुश तथा भूतपूर्व सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच होने वाले शिखर सम्मेलनों ने विश्व राजनीति की दिशा ही बदल दी। शिखर राजनय के उपरान्त जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की जाती है उस पर विश्व के देशों की आँखें लगी रहती हैं और राजनयिक क्षेत्र उनका गहन अध्ययन करते हैं और अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त न की जाए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "शिखर राजनय बड़े राज्यों के राज्याध्यक्षों अथवा सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों का वह व्यक्तिगत सम्मेलन है जहाँ वे सामान्य राजनयिक मार्ग की उपेक्षा कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर निर्णय लेते हैं।"[1] जब राज्याध्यक्षों या सर्वोच्च अधिकारियों द्वारा परस्पर पत्र व्यवहार किया जाता है या निजी प्रतिनिधि भेजे जाते हैं तो यह भी शिखर राजनय का स्वरूप ही है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में शिखर राजनय की उपयोगिता निर्विवाद है।

शिखर राजनय पर एक ऐतिहासिक दृष्टि
(A Historical View of Summit Diplomacy)

मिस्र के राजा रमेसेस द्वितीय (Ramesses II) और हित्तित के राजा खेतासर (Khetasar the King of Hittites) ने शिखर राजनय के आधार पर ही एक सन्धि की थी। सिकन्दर महान् जूलियस सीजर, शार्लमेन, हेनरी अष्टम फ्रांसीसी प्रथम, चार्ल्स पंचम, फ्रेड्रिक महान्, नेपोलियन, ट्रूमैन कैनेडी रीगन जार्ज बुश ख्रुश्चेव ब्रेझनेव और गोर्बाच्योव नेहरू शास्त्री इन्दिरा गाँधी और राजीव गाँधी आदि ने शिखर राजनय के माध्यम से ही विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान निकाला था। आधुनिक युग में राष्ट्रपति विल्सन के पेरिस सम्मेलन में भाग लेने से जो पूर्वोदाहरण स्थापित हुआ वह ऐसा चला कि इसके बाद आए दिन राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्रियों के शिखर सम्मेलन होते ही रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व शिखर राजनय के सहारे ही ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन, फ्रांस के दलादियर व जर्मनी के चांसलर हिटलर ने म्यूनिख समझौते से एक बार तो युद्ध को टाल ही दिया था। द्वितीय महायुद्ध के दौरान एक ओर हिटलर व मुसोलिनी के शिखर सम्मेलन हुए तो दूसरी ओर रूजवेल्ट स्टालिन व चर्चिल के कैसाब्लान्का, क्वीबेक तेहरान, याल्टा आदि

1 [illegible] 13

इनके शिखर सम्मेलन ही थे। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इन सम्मेलनों ने ही वास्तव में शिखर सम्मेलन द्वारा राजनय को प्रोत्साहित किया। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् शीतयुद्ध की समस्याओं को हल करने के लिए मित्र राज्यों के भी समय समय पर शिखर सम्मेलन होते रहे। जटिलतम समस्याएँ जो वर्षों तक साधारण राजनीतिक अथवा राजनयिक तरीकों से नहीं सुलझ पाती हैं उनको राष्ट्राध्यक्षों के मध्य उच्चतर स्तर पर शिखर सम्मेलनों के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया जाता है। रूजवेल्ट चर्चिल व स्टॉलिन के मध्य शिखर वार्ताओं द्वारा एक दूसरे के साथ उच्च सहयोग से युद्ध एव शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अद्वितीय सफलता मिली जो शायद किसी भी निम्न स्तर के सम्मेलन अथवा प्रयास से सम्भव नहीं हो पाती। द्वितीय महायुद्ध के मध्य प्रारम्भ शिखर राजनय का यह क्रम अत्यधिक लोकप्रिय बन गया है। यह अनुभव किया गया है कि व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अधिक आसानी से सुलझाया जा सकता है। शिखर राजनय का उपयोग उस समय भी किया जाता है जबकि निम्न स्तर के अधिकारियों द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं निकल पा रहा हो अथवा वार्ता निम्न स्तर पर मन्थर गति से चल रही हो और उसे शीघ्र सम्पादित करना हो। शिखर सम्मेलनों का मूल उद्देश्य उच्च स्तरीय राज्याध्यक्षों को एक दूसरे के समीप लाना वार्ताओं को शीघ्र सम्पादित करना तथा समझौता सन्धि करना है।[1]

शिखर राजनय की लोकप्रियता के कारण

शिखर राजनय के प्रचलन के पीछे निम्नलिखित कारणों का योगदान रहा है

1 संचार व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन एव अभूतपूर्व विकास विशेषकर हवाई यात्रा की उपलब्धि

2 युद्ध के विनाशकारी प्रभाव से मानवता को बचाना

3 सयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस का विश्व शक्ति के रूप में महत्व और

4 सयुक्त राष्ट्र के सम्मेलनों के माध्यम से व्यक्तिगत सम्पर्क में अभिवृद्धि।

शिखर राजनय की विशेषताएँ

(Aspects of Summit Diplomacy)

शिखर राजनय की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है

1 इसमें राज्य या सरकार के प्रमुख द्वारा नीति निर्धारित और व्यक्त की जाती है। विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य निर्णय वही लेता है। उदाहरण के लिए सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के महत्वपूर्ण निर्णय किसी न किसी राष्ट्रपति के नाम के साथ जुड़े हुए है। इस प्रकार अनेक नीति सम्बन्धी वक्तव्यों के साथ एक राष्ट्रपति का नाम जुड जाता है जैसे मुनरो सिद्धान्त ट्रूमैन सिद्धात विल्सन के चौदह सिद्धान्त टाफ्ट का डालर राजनय रूजवेल्ट की अच्छे पड़ोसी की नीति, चार स्वतन्त्रताएँ आइजनहावर सिद्धान्त तथा ब्रेझनेव योजना आदि।

2 मुख्य कार्यपालिका द्वारा राजनयज्ञों से व्यक्तिगत पत्र व्यवहार किए जाते है। यहाँ हमारा सम्बन्ध तार शुभकामना एव शोक सदेश जैसे औपचारिक पत्र व्यवहारों से नहीं है।

1 डॉ एम पी राय वही पृ 196 197

तो हैं ही किन्तु इनके अतिरिक्त भी मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रुचि लेकर पत्र व्यवहार रती है तथा राजनय को प्रभावित करती है। दो राज्यों में संघर्ष होने की स्थिति में तीसरे ज्य की मुख्य कार्यपालिका द्वारा मध्यस्थता का कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए,)05 के रूस-जापान संघर्ष एवं मोरक्को संघर्ष के समय अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट व्यक्तिगत हस्तक्षेप किया था। अन्य अवसरों पर भी इसी प्रकार व्यक्तिगत रुचि लेकर ाष्ट्रपतियों ने दूसरी सरकारों से पत्र-व्यवहार किए। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय रूज़वेल्ट था चर्चिल के बीच 1750 समाचारों का और रूज़वेल्ट तथा स्टालिन के बीच लगभग तीन ो पत्रों का आदान प्रदान हुआ। आज के युग में पत्र-व्यवहारों की संख्या अधिक होने के ारण ही 'पत्राचार-राजनय' (Correspondence Diplomacy) शब्दों का प्रयोग किया ाता है। शिखर स्तर पर ये राजनयिक पत्राचार निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

3. व्यक्तिगत राजनयिक प्रतिनिधि : कभी-कभी मुख्य कार्यपालिका द्वारा विदेशों में पना व्यक्तिगत प्रभाव बढ़ाने तथा विभिन्न सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए विशेष राजनयिक तिनिधि नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार के शिखर राजनय की एक महत्वपूर्ण कमजोरी ह है कि इससे विदेश-मन्त्रालय, विदेश सेवा तथा नियमित राजकीय सेवा का महत्व कम ोता है। जब मुख्य कार्यपालिका इन अधिकारियों की अवहेलना कर अपने विशेष दूत नेयुक्त कर देती है तो विदेशों में इनका सम्मान कम हो जाता है। कुछ विचारक इन विशेष तिनिधियों की नियुक्ति को ही नियमित राजनयिक सेवा के दोषों का कारण मानते हैं।

4. अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएँ : शिखर राजनय के अन्तर्गत राज्य की मुख्य कार्यपालिका देशों की अनौपचारिक यात्रा एवं अन्य विशेष यात्राएँ भी करती हैं। ये आज के राजनय ा आवश्यक अंग बन गई हैं। इन यात्राओं द्वारा विदेशों से व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाए जाते ैं तथा जनमत को प्रभावित किया जाता है। जिस रूप में विदेशी मेहमानों का स्वागत एवं ादर किया जाता है उससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर्याप्त प्रभावित होते हैं। एक देश का न-जीवन विदेशी आगन्तुक से प्रभावित होता है तथा स्वयं आगन्तुक को भी प्रभावित रता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय यात्राओं से विदेश-सम्बन्धों का रूप निर्धारित होता है।

5. शिखर-सम्मेलन : मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तिगत राजनय का एक विकसित रूप शेखर-सम्मेलन है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से दो या अधिक राज्यों या सरकारों के अध्यक्षों का एकत्रित होना एक साधारण बात हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए अनेक सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जिनमें राज्यों की मुख्य कार्यपालिकाएँ भाग लेती हैं।

शिखर राजनय के लाभ या समर्थन में तर्क
(Advantages of Summit Diplomacy)

शिखर राजनय के लाभों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1. इससे राज्याध्यक्षों, प्रधानमन्त्रियों अथवा सर्वोच्च अधिकारियों के व्यक्तिगत सम्बन्ध घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण बनते हैं, फलस्वरूप दो देशों की सरकारों और जनता के आपसी सम्बन्धों में मधुरता आती है।

2 किसी समस्या पर राज्याध्यक्ष तुरन्त आपसी विचार विमर्श करके समस्या का समाधान निकालने का प्रयास कर सकते है । तुरन्त निर्णय लिए जा सकते हैं क्योंकि चोटी के नेता उपस्थित रहते है जिनके हाथ मे निर्णायक शक्ति भी होती है ।

3 शिखर राजनय द्वारा सिद्धान्त रूप मे समझौता कर लिया जाता है और विस्तार सम्बन्धी कार्य नीचे राजनयिक स्तर पर छोड दिया जाता है ।

4 यदि परम्परागत राजनयिक तरीकों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो उसका समाधान शिखर राजनय द्वारा शीघ्रतापूर्वक किया जाता है ।

5 शिखर राजनय की ओर सारे संसार का ध्यान आकर्षित रहता है तथा उसकी गतिविधियो एव उपलब्धियो का विश्व राजनीति पर त्वरित प्रभाव पडता है ।

6 शिखर राजनेता अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों को पत्राचार द्वारा और भी बढा सकते हैं जिससे भविष्य मे समस्याएँ पैदा ही न हों अथवा गम्भीर न बने ।

शिखर राजनय के विरोधी सिसले हेडलेस्टन ने भी यह स्वीकार किया है कि शिखर राजनय मे अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान की लगन प्रतीत होती है और उसके द्वारा इस दिशा में आवश्यक जन समर्थन अर्जित करने का आभास मिलता है । शेयर का मत है कि समस्याओ की जटिलताएँ और बढती हुई बहुपक्षीय समझौते की आवश्यकताएँ शिखर राजनय द्वारा ही सुलझ सकती हैं ।

शिखर राजनय के दोष या विरोध मे तर्क
(Disadvantages of Summit Diplomacy)

प्रख्यात लेखक हेरल्ड निकल्सन का मत है कि आधुनिक प्रजातन्त्रीय राजनय का वह स्वरूप जिसमे राजनीतिज्ञ व्यक्तिगत रूप मे वार्ताओं में भाग ले राजनयिक व्यवस्था का भयकर अभ्यास है । शिखर राजनय के जो दोष हैं अथवा उसके विरोध में जो तर्क दिए जाते हैं वे मुख्यत ये हैं—

1 यदि राज्याध्यक्ष या प्रधानमन्त्री स्वय ही विदेश मन्त्री या राजकीय प्रतिनिधियों का कार्य सम्पन्न करने लगे तो इससे नियमित विदेश सेवाओं का मोरेल गिर जाता है ।

2 कभी कभी इसमें निर्णय अत्यधिक जल्दबाजी म ले लिए जाते हैं । शिखर सम्मेलन प्राय दो अथवा तीन दिन के लिए होते हैं और कभी कभी तो एक अथवा दो या कुछ घण्टों के लिए ही होते है । इतना अल्प समय तो किसी भी सामान्य समस्या के लिए ही कम है तो जटिल समस्याओं के समाधान के लिए तो निश्चित रूप से ही कम है । अत ऐसे सम्मेलनों में लिए जाने वाले निर्णयो मे परिपक्वता नहीं होती है यही कारण है कि अधिकांश शिखर सम्मेलन समस्याओं के समाधान मे असफल रहते हैं ।

3 शिखर सम्मेलनों में राज्याध्यक्षों विदेश मन्त्रियों आदि का जो अतिशय सम्मान होता है इससे उनके अहकार और घमण्ड मे वृद्धि होती है और विवेक कम होता है । उस वातावरण मे लिए गए निर्णय फलदायक कम सिद्ध होते हैं ।

4 जल्दी निर्णय लेने के कारण यह सम्भव है कि मुख्य कार्यपालिका को विचाराधीन विषय पर पूरी सूचना प्राप्त न हो सके ।

5 सन्धि वार्ता कर्ता के रूप में मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रूप से बँध जाती है तथा अन्तिम निर्णय उसे मानना ही पड़ता है।

6 इस राजनय में यह जोखिम है कि यदि मुख्य कार्यपालिका अयोग्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता के क्षेत्र में अनभिज्ञ है तो गम्भीर राष्ट्रीय अहित हो सकता है।

7 शिखर राजनय पूरी तरह से खुला नाटकीय तथा समाचार पत्रों पर आधारित होता है। फलस्वरूप मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तित्व पर कीचड उछाले जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसके विपरीत यदि इसमें गोपनीयता बरती जाए तो मुख्य कार्यपालिका की नीति स्थिति एव रियायतों के प्रति सन्देह से देखा जाता है।

8 शिखर राजनय में मुख्य कार्यपालिका के स्तर एव सम्मान की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। इसके अन्तर्गत बडे राज्य के अध्यक्ष को एक ऐसे साधारण राज्य के ऐसे पदाधिकारी से मिलना पडता है जो मुख्य कार्यपालिका होते हुए भी उसकी अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में उतना सम्मान एव प्रतिष्ठा नहीं होती है।

9 शिखर राजनय का सबसे गम्भीर दोष यह है कि यह गलत आशाओं एव आकाँक्षाओं को उभारता है। जब देश की मुख्य कार्यपालिका राजनय में सक्रिय हो जाती है तो महत्वपूर्ण तथा निर्णायक परिणामों की आशा की जाती है। ऐसा न होने पर जनता की आशाओं और महत्वाकाँक्षाओं को गम्भीर आघात पहुँचता है। विरोधी दल इसका राजनीतिक लाभ उठाते हैं तथा उचित समझौतों के मार्ग में भी बाधक बन जाते हैं।

शिखर राजनय की कुछ अन्य कमियों की ओर डॉ राय ने इस प्रकार सकेत किया है—

10 राष्ट्राध्यक्ष प्रधानमन्त्री आदि शिखर राजनय का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढाने एव अपना विश्वव्यापी स्थान बनाने के लिए करते हैं न कि सहयोग और समस्याओं के समाधान के लिए। इस राजनय का उपयोग प्रचार के लिए भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में शिखर सम्मेलन एक महत्वाकाँक्षी नेता के हाथों में विजय प्राप्त करने का साधन बन जाता है न कि न्यायोचित समझौते का आधार। शिखर राजनय का उपयोग मतभेदों को अधिक प्रकट कर देता है। इन्हें बुलाने से जो आशाएँ जाग्रत होती हैं वे शायद ही पूरी हो पाती हैं।

11 कभी कभी एक पक्ष इस डर से कि कहीं वह शिखर सम्मेलन की असफलता के लिए बदनाम न हो जाए, ऐसी छूट व सुविधाएँ दे देता है जो ठण्डे दिमाग से सोचने पर वह कभी नहीं देता। इसमें समय व धन दोनों का ही अपव्यय होता है। डीन रस्क के मत में "यह शिखर सम्मेलन समय तथा शक्ति को उस सही बिन्दु से हटा देती है जिसे हम बिल्कुल ही नहीं छोड सकते।" कभी कभी नेता अपनी प्रतिष्ठा के जाने के भय के कारण अपने रुख में कठोर हो जाते हैं और शिखर राजनय इस कारण असफल रहता है। प्राय यह देखा गया है कि सम्मेलनों में निर्णय तो ले लिए जाते हैं परन्तु समय की कमी के कारण उनके विस्तृत वर्णन का कार्य अधीनस्थ अधिकारियों पर छोड दिया जाता है जो अधिकाँशत. एकमत नहीं हो पाते हैं।

12 शिखर अधिकारियों की अनुपस्थिति में राज्य में लिए जाने वाले निर्णयों में देरी होती है। अनुमानत. यह कहा जा सकता है कि अधिक समय तक विदेश मन्त्री की

अनुपस्थिति उसके विभाग को उसके योग्य नेतृत्व से वंचित रखेगी, परिणामत निर्णय प्रक्रिया में देरी लगेगी। संकट के समय तुरन्त निर्णय लेने के स्थान पर विदेश मन्त्री के लौटने का इन्तजार करना पड़ेगा।

13 यह मान्यता कि शिखर राजनय के माध्यम से राज्याध्यक्ष आदि एक दूसरे के मित्र हो जाते हैं, ठीक नहीं है। क्या दो या तीन दिन का सम्मेलन इन्हें एक-दूसरे के इतने निकट ला सकता है कि इनमे मित्रता स्थापित हो जाए? यह तर्क कि इस प्रकार से शिखर सम्मेलनों में जाने से राज्याध्यक्ष आदि उस देश के उसके नागरिकों को जान लेता है ठीक प्रतीत नहीं होता है।

14 शिखर सम्मेलन के पूर्व उसकी सफलता के लिए कभी-कभी छोटे सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जिनमें निम्न स्तर के अधिकारी भाग लेते हैं। ये महीनों चलते हैं परन्तु फिर भी कोई निर्णय नहीं ले पाते और अन्त मे इन्हें बर्खास्त करना पड़ता है। इनकी असफलता मूल सम्मेलन को भी स्थगित कर देती है। निकलसन व्यक्तिगत स्तर पर वार्ता का विरोधी था। उसने वर्साय की सन्धि वार्ता को निकट से देखा था और वह उस सबसे असन्तुष्ट था। हैटर (Sir William Hayter) भी शिखर सम्मेलन का विरोधी था। उसका मत था कि यदि समस्या के सुलझाने की किसी पक्ष की इच्छा होती तो वार्ता बेकार है, यदि यह इच्छा नहीं है तो वार्ता व्यर्थ है। हैडलेस्टन तो शिखर वार्ता का कट्टर विरोधी था। इसने तो अपनी पुस्तक में एक अध्ययन का शीर्षक ही आत्मीय और घनिष्ठ उच्चस्तरीय सम्मेलनों का जोखिम *(The Menace of Intimate Top Level Conferences)* रखा था। उसका तो निर्णायक मत था कि शिखर सम्मेलन कभी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते हैं।

शिखर राजनय की सफलता के लिए सुझाव

शिखर राजनय की आलोचनाओं मे वजन है लेकिन इसकी उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता। यदि कुछ बातों का विशेष ध्यान रखा जाए और आवश्यक पूर्व तैयारी की जाए तो शिखर राजनय के बहुत ही उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि अनेक अवसरों पर शिखर राजनय के कारण संकट के बादल छटे हैं। सोवियत रूस और अमेरिका के बीच जो "हाट लाईन" जुड़ी थी वह शिखर राजनय का ही परिणाम थी और उसके फलस्वरूप किसी भी विश्वव्यापी संकट अथवा युद्ध की सम्भावना के समय दोनों देशों के सर्वोच्च नेता परस्पर अविलम्ब सम्पर्क स्थापित कर आवश्यक निदान ढूँढ सकते है या सहमति का क्षेत्र खोज सकते थे। सन् 1991 में सोवियतसंघ के अवसान के बाद स्थिति में मौलिक परिवर्तन आ गया है। वर्तमान मे संयुक्तराज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है और शीतयुद्ध समाप्त हो गया है।

शिखर वार्ताओं की सफलता के लिए निम्नलिखित आवश्यक शर्तों का होना आवश्यक माना जाता है

(1) इसकी सावधानी और सतर्कता के साथ पूर्व तैयारी अपेक्षित है। पूरी तैयारी के बाद संपन्न होने वाली वार्ताओं की असफलता की गुंजायश बहुत कम रहती है।

(2) शिखर वार्ता की सफलता के लिए राष्ट्राध्यक्षों के वांछित धैर्य और सहनशीलता की भी अपेक्षा रहती है। अगर राष्ट्राध्यक्षों के स्वभाव में उतावलापन अथवा तुनुकमिजाजी है तो सम्मेलन असफल हो जायेगा। अत: राष्ट्राध्यक्षों में विवेक और परिपक्वता की स्थिति ही किसी शिखर सम्मेलन को सफल बना सकती है।

(3) राष्ट्राध्यक्षों को उन्हीं विषयों पर शिखर वार्ताएँ सम्पादित करनी चाहिए जिन पर शिखर वार्ता से पूर्व ही व्यापक सहमति हो गई हो अथवा उस पर सहमति होने की सम्भावना हो। अगर इस मानसिकता के विपरीत कार्य किया गया तो शिखर सम्मेलन असफल हो जायेगा।

(4) शिखर सम्मेलन में पारित किये जाने वाले प्रस्तावों और उसके बाद जारी की जाने वाली संयुक्त विज्ञप्ति पर विशेषज्ञों की राय को महत्व दिया जाना चाहिए।

(5) विशेषज्ञों की राय लेकर तैयार किये गये प्रस्तावों को शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले दूसरे राज्य को भेजे जाने चाहिए ताकि उस विषय पर पर्याप्त विचार विमर्श हो सके, और उस पर उठने वाली आपत्तियों का निराकरण किया जा सके। इससे शिखर वार्ता की सफलता की सम्भावना बढ़ जाती है।

(6) शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए विशेषज्ञ राजनयिकों की सेवा लेना भी अपरिहार्य बन जाता है। ये विशेषज्ञ राजनयिक राष्ट्राध्यक्षों को सही राय दे सकते हैं। अत: शिखर सम्मेलन की सफलता में अनुभवी और विशेषज्ञ राजनयिकों की सेवा का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(7) शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक बन जाता है कि यह शांत स्थान और सद्भावनपूर्ण वातावरण में आयोजित किये जाएँ।

(8) राष्ट्राध्यक्षों के शिखर सम्मेलन से पूर्व सचिव और मंत्री स्तर पर वार्ताएँ आयोजित कर लेनी चाहिए, जिससे कि इसकी सफलता के लिए ठोस आधार तैयार हो जाता है।

(9) शिखर सम्मेलनों का आयोजन करना अत्यन्त जोखिमभरा होता है। इसकी असफलता पर समस्या और भी जटिल हो जाती है, और राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों में और भी कटुता आ जाती है। अत: अत्यन्त अपवाद वाली परिस्थिति में ही इसका आयोजन किया जाना चाहिए।

सम्मेलनीय राजनय
(Conference Diplomacy)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जन अभिरुचि के विकास के साथ ही सम्मेलनीय राजनय का प्रादुर्भाव हुआ। 'सम्मेलनीय राजनय' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1920 ई. में ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायर्ड जार्ज के मंत्रिमण्डल के सदस्य लार्ड हैन्की (Lord Hanky) द्वारा अपने भाषण में किया गया जिसका शीर्षक ही 'सम्मेलन द्वारा राजनय' (Diplomacy by Conference) था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सम्मेलनों द्वारा राजनयिक व्यवहार का संचालन एक आम बात हो चुकी। वर्तमान में लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क और जेनेवा में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के मुख्यालय स्थित हैं।

सम्मेलन राजनय : अर्थ एवं महत्व
(Meaning and Importance of Conference Diplomacy)

सम्मेलन राजनय को बहुपक्षीय राजनय (Multilateral Diplomacy) कहा जाता है। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों के संचालन में इस राजनय का महत्व निरन्तर बढता ही जा रहा है। आधुनिक युग 'सम्मेलन द्वारा राजनय' का युग है। यह राजनय की मुख्य प्रक्रिया बन गया है।

सम्मेलनीय राजनय द्विपक्षीय राजनय के परम्परागत तरीकों से स्पष्टतः भिन्न है। राबर्टो रेगेला के कथनानुसार, "सम्मेलनीय राजनय राजनयिक सन्धि वार्ताओं की एक तकनीक है तथा राजनय के अन्य सभी पहलुओं की भाँति प्रक्रिया के असख्य जटिल नियमों से आबद्ध रहती है।"[1] सम्मेलनीय राजनय की मूलभूत विशेषताएँ यद्यपि इतिहास मे पहले से ही प्रचलित रही हैं किन्तु जैसा कि निकल्सन का कहना है, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह अनुमान किया जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक कार्य प्रवृत्ति गोल मेज सभाओं द्वारा सम्पन्न की जाए।[2] लॉर्ड हैन्की ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उनके मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद महाशक्तियों के मन्त्रियों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता प्रारम्भ हुई जो आज न केवल प्रमुख शक्तियों के बीच है वरन् छोटे राज्यों के बीच भी उसी प्रकार प्रचलित है।

राजनय का सामान्य मार्ग विदेश विभाग तथा उनके द्वारा नियुक्त राजदूत है। इस सरल सामान्य और सीधे मार्ग को न अपनाकर राज्य इन्हें पीछे छोड़कर सम्मेलनों द्वारा राजनय का मार्ग अपनाते हैं। सामान्यतः राज्यों के मध्य सम्बन्ध नोट्स के आदान प्रदान से चलते हैं, जिन्हें राजदूतों के माध्यम से भेजा जाता है। उस समय और उन परिस्थितियों में जब नोट्स के आदान प्रदान में देरी हो, जब जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए व्यक्तिगत वार्ता आवश्यक हो, जहाँ मोल तोल व लेन देन के आधार पर कई प्रश्नों पर विचार विमर्श हो, वहाँ नोट्स के स्थान पर सम्मेलनों की सहायता ली जाती है।

सम्मेलनीय राजनय से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र की वृद्धि हो सकती है। जैसाकि हैन्की के शब्दों मे "सम्मेलन द्वारा राजनय के विवेकपूर्ण विकास से युद्ध की रोकथाम की सर्वोत्तम आशा की जा सकती है।" इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव डीन एचीसन का मत था कि युद्धोत्तर काल मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बहुत हद तक टकराव को समाप्त करने के साधन के रूप में नहीं रहकर उसे चालू रखने के साधन के रूप मे रह गए हैं।

अनेक क्षेत्रीय तथा अन्य प्रकार के समूह जैसे नाटो (NATO) अमेरिकी राज्यों का संगठन (OAS) तथा यूरोपीय एकता आन्दोलन असंलग्न राष्ट्रों के आन्दोलन आदि को भी सम्मेलन के राजनय के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब से जनता रुचि लेने लगी है, तब से सम्मेलन का राजनय अधिक लोकप्रिय बन गया है। अब संयुक्तराज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति और अन्य बड़े

1 "Diplomacy by conference is a technique of diplomatic negotiations and like all aspects of diplomacy is surrounded by numerous and complicated rules of procedure." —*Roberto Regala*

2 "*It was felt after the world war of 1914-18 that diplomatic intercourse would hence forward be conducted almost entirely by round table conference.*" —*Harold Nicolson*

राष्ट्र भी छोटे राज्यों की आवाज को महत्व देने लगे हैं और इनके समर्थन की आवश्यकता महसूस करने लगे हैं। सम्मेलन का राजनय संयुक्त नियोजन एवं क्रिया का प्रयोग करके विशेष क्षेत्रों के बीच सहयोग में वृद्धि करता है। उदाहरण के लिए, नाटो की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने शान्तिकालीन सैनिक सहयोग का विकास किया है।

सम्मेलन के राजनय का एक दूसरा विकास समाज की मान्यता का विकास है। यह यूरोपीय आर्थिक समाज तथा इससे सम्बद्ध निकायों की रचना द्वारा प्रोत्साहित किया गया है। सम्मेलन के राजनय ने ही संसदीय राजनय को जन्म दिया [redacted] जो आज के राजनयिक क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

सम्मेलन का राजनय हमेशा खुला राजनय होता है। जिस प्रकार खुले समझौते खुले में ही प्रदर्शित किए जाते हैं। इसमें यह सम्भावना रहती है कि सम्बन्धित दोनों पक्षों के हितों का नुकसान हो और उस सम्मेलन या संगठन का नुकसान हो जिसमें कि वे किए गए हैं। कभी कभी वाद विवाद और असहमति को जनता की आँखों से ओझल रखना अच्छा समझा जाता है क्योंकि इससे समस्या स्पष्ट होती है और विवादपूर्ण समस्या पर विचार विमर्श अच्छी तरह किया जा सकता है। सम्मेलन के राजनय को कभी कभी प्रचार के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रवृत्ति खतरनाक है क्योंकि इसमें हर देश अपनी शक्ति बढ़ाने और अन्य की शक्ति को कम करने का प्रयास करता है।

सम्मेलन के राजनय की अनेक सीमाएँ हैं। राजनय के इस रूप का समर्थन इसलिए किया जाता है क्योंकि यह एक ऐसी प्रक्रिया दिखाई देती है जैसी किसी राज्य की व्यवस्थापिका के अधिवेशन में रहती है। किन्तु व्यवहार में किसी व्यवस्थापिका के अधिवेशन तथा सम्प्रभु राज्यों के सम्मेलनों में पर्याप्त अन्तर रहता है। दूसरे इन राज्यों के प्रतिनिधि स्वतन्त्र एजेण्ट नहीं होते अपितु अपनी सरकारों के निर्देशनों से बँधे रहते हैं और उनका काम होता है कि वे अपने राज्य के हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि करें।

सम्मेलनीय राजनय का ऐतिहासिक विकास
(The Historical Development of Conference Diplomacy)

यद्यपि प्राचीन काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सम्मेलनों की सहायता से मधुर और मैत्रीपूर्ण बनाया जाता रहा है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के रूप में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही इसका प्रयोग सामान्य हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम बड़ा सम्मेलन तीस वर्षीय युद्ध को समाप्त करने के लिए हुआ था और इसके परिणामस्वरूप 1648 ई० की वेस्टफेलिया सन्धि सम्पन्न हुई थी। वेस्टफेलिया काँग्रेस (The Congress of Westphalia) में विभिन्न देशों के सैकड़ों राजनयज्ञ सम्मिलित हुए थे जो यूरोप के प्रत्येक राजनीतिक हित का प्रतिनिधित्व करते थे। इस काँग्रेस के निर्णय परस्पर विचार विमर्श के बाद लिए गए। किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा कमजोर राष्ट्रों पर इनको लादा नहीं गया। वेस्टफेलिया काँग्रेस ने "स्वतन्त्र वार्ता द्वारा दो महान् बहुपक्षीय सन्धियाँ सम्पादित कीं जिन्होंने यूरोपीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की नई व्यवस्था को वैधानिक मान्यता दी।" 18वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ ही विश्व के राज्यों की दूरी कम होने लगी तथा उनके बीच इन सम्बन्धों पर नियमन करने के लिए सन्धि समझौते

सम्मेलन आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। सम्मेलन व्यवस्था जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सम्भवत बहुत ही विशिष्ट और लोकप्रिय लक्षण है इस अवधि मे पर्याप्त विकसित हुई।

सम्मेलनीय राजनय का वास्तविक प्रारम्भ 1815 की वियना कॉंग्रेस से माना जाता है। वियना कॉंग्रेस (The Congress of Vienna) नेपोलियन के पराभव के बाद युद्धो को रोकने और यूरोप की राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आयोजित की गई थी। यूरोप के शासक पुरातन व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के प्रयत्नों मे आँशिक और अस्थायी रूप से ही सफल हुए। अपने कार्यों से जाने अनजाने उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आधारशिला रख दी जो लगभग एक शताब्दी तक विश्व मामलों का मार्ग निर्देशन करती रही। कॉंग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध मे भी अनेक सुझाव दिए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे सभ्य राज्यों मे परस्पर लागू होने वाले नियमों और रीति रिवाजो का सकलन किया गया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में विभिन्न राज्यों के जहाजों के आवागमन समुद्रों के उपयोग राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार आदि का नियमन करने का प्रयास किया गया। अन्त में कॉंग्रेस ने भावी यूरोपीय शान्ति को कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की जिसे यूरोपीय व्यवस्था कहते हैं। वियना कॉंग्रेस द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था (The Concert of Europe) को यथार्थत प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहा जा सकता है जिसकी आधारशिला पर ही कालान्तर में राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ।

प्रथम महायुद्ध से पहले जो प्रमुख सम्मेलन हुए उनमे 1899 तथा 1907 के हेग सम्मेलन विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रथम हैग सम्मेलन (1899) के सदस्य राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए पच निर्णय पद्धति पर अधिक बल दिया और उसे सामान्य सहमति का आधार बनाना चाहा। फलस्वरूप हेग में विवाचन के स्थायी न्यायालय की स्थापना हुई। द्वितीय हेग सम्मेलन (1907) मे युद्ध के नियमों के निर्धारण पर गम्भीर विचार विमर्श किया गया और राज्यों से यह अपेक्षा की गई कि वे युद्ध से बचने के लिए तीसरे पक्ष की मध्यस्थता स्वीकार करे। क्लाडे के अनुसार विभिन्न कमियो के बावजूद हेग व्यवस्था मे सर्वव्यापकता की प्रवृत्ति निहित थी। द्वितीय सम्मेलन मे 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए जिनमे लेटिन अमेरिकी गणराज्यों के प्रतिनिधि भी थे। इस प्रकार 1907 मे विश्व को एक प्रकार से प्रथम महासभा की प्राप्ति हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के प्रसार की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था। हेग सम्मेलन में छोटे और बड़े सभी राष्ट्र सम्मिलित हुए। यह व्यवस्था इस दृष्टि से शक्तिशाली बनी कि प्रमुख कूटनीतिक सभाओं मे छोटे राज्यों और बड़ी शक्तियो का समान स्तर पर सम्मिलित होना न केवल आवश्यक वरन् विशेष उपयोगी भी है। हेग सम्मेलनों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था मे स्थायी सामान्य सुधार के उद्देश्य से सामूहिक कार्य एव दायित्व (Collective Activity) के विकास की दिशा में उल्लेखनीय योगदान दिया। हेग व्यवस्था यूरोप की सयुक्त व्यवस्था से कहीं अधिक मात्रा मे परोक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्धित थी। अनेक मतभेदों के बावजूद हेग सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण विकास तथा संहिताकरण विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए स्थायी प्रणाली के निर्माण तथा

विवादग्रस्त या संघर्षरत राष्ट्रों द्वारा अपने झगड़ों का शान्तिपूर्ण समाधान के लिए सिद्धान्त के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस व्यवस्था ने युद्ध के परित्याग की आवश्यकता की ओर तथा बहुराष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सहयोगीय दशाओं के विकास की ओर संकेत किया। इन सम्मेलनों की प्रगति सुव्यवस्था की ओर रही। वेदरलैन कमेटियों, रोलकाल आदि का प्रयोगात्मक उपयोग हुआ। सन् 1907 में हेग-सम्मेलनों का यह प्रस्ताव भी महत्वपूर्ण था कि एक प्रारम्भिक समिति (Preparatory Committee) की स्थापना की जाए जो भावी सम्मेलनों के लिए सूचनाएँ एकत्र करे, कार्यक्रम तैयार करने के लिए विभिन्न बातों का अध्ययन करे तथा तृतीय हेग सम्मेलन की स्वीकृति के लिए संगठन और प्रणाली की एक व्यवस्था सुझाए।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद सबसे बड़ा और जटिल प्रश्न शान्ति की स्थायी व्यवस्था करने का था। युद्ध के बाद शान्ति की व्यवस्था स्थापित करने के प्रश्न की जटिलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ युद्ध सवा चार वर्ष में समाप्त हो गया था, वहाँ विभिन्न दलों के साथ शान्ति-सन्धियाँ करने में पाँच वर्ष का समय लगा। मित्र और सह राष्ट्रों ने 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि, 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेंटजर्मेन की सन्धि, 27 नवम्बर, 1919 को बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि, 4 जून 1920 को हंगरी के साथ ट्रियनो की सन्धि, 10 अगस्त 1920 को टर्की के साथ सेव्र की सन्धि तथा 23 जुलाई, 1923 को लोसाने की सन्धि सम्पन्न की। ये सन्धियाँ 6 अगस्त, 1924 को लागू हुईं। इसके बाद ही सारे संसार में युद्ध विधिवत् शान्ति स्थापित हो सकी। इसी बीच प्रशान्त-महासागर में रुचि रखने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन 1921-22 के शीतकाल में वाशिंगटन में हो चुका था। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों ने सुदूरपूर्व में शान्ति स्थापित रखने के लिए कुछ सन्धियाँ कीं। 1919 में की गई वर्साय की सन्धि से लेकर बाद में की गई उपर्युक्त सभी सन्धियाँ अपने संयुक्त रूप में 'शान्ति-समझौता' (Peace Settlement) कहलाती है। सन् 1919 के बाद 20 वर्ष तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ काल तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में जितनी भी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं, उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन शान्ति सन्धियों के साथ गहरा सम्बन्ध था।

शान्ति सम्मेलन (Peace Conference, 1919) के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस को चुना गया क्योंकि फ्रांस ने युद्ध में काफी भाग लिया था और जर्मनी के आक्रमणों का प्रतिरोध करने में बहुत अधिक धैर्य प्रदर्शित किया था। इस शान्ति-सम्मेलन में केवल मित्र-राष्ट्रों को ही आमन्त्रित किया गया। जो राष्ट्र इस युद्ध में पराजित हुए थे, उन्हें नहीं बुलाया गया। उनकी केवल उसी समय आवश्यकता समझी गई जब शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर करने का अवसर आया। सोवियत रूस पूर्णतया साम्यवादी हो चुका था और धुरी राष्ट्रों से उसने समझौता भी किया था, अतः उसको प्रतिनिधित्व करने का अवसर नहीं दिया गया। सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन (Plenary Session) 18 जनवरी, 1919 को प्रारम्भ हुआ। इसमें भाग लेने के लिए 32 राष्ट्रों के 70 प्रमुख प्रतिनिधि आए जिनमें विश्व के विशिष्ट राजनीतिज्ञ तो थे ही, साथ ही स्वयं अमेरिकन राष्ट्रपति, 11 प्रधान मन्त्री और 12 विदेश मन्त्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ अनेक सचिव,

सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। अनेक प्रतिनिधि मण्डलों के सदस्यों की संख्या सैकड़ों थी जिनमे विद्वान् कूटनीतिज्ञ सैनिक नौसैनिक नागरिक प्रशासनकर्ता विधि विशेषज्ञ वित्त और अर्थ विशेषज्ञ श्रमिक नेता राज्य मन्त्री संसद् सदस्य और सभी प्रकार के पत्रकार तथा प्रचारक थे। शान्ति सम्मेलन का कार्य जब प्रारम्भ हुआ तो उसके समक्ष समस्याओं का अम्बार लगा था। शान्ति निर्माणकर्ता पेरिस में केवल शान्ति निर्माण के लिए ही एकत्रित नहीं हुए थे बल्कि उनका उद्देश्य शान्ति को स्थिरता प्रदान करना विभिन्न समस्याओं को सुलझाना विश्व को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना और संसार के परतन्त्र राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार देना था। डॉ लैंगसम के शब्दों में शान्ति सम्मेलन में उस समय के महान राजनयिज्ञों और राजनीतिज्ञों ने भाग लिया। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ब्रिटिश के प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज फ्रौंस के प्रधान मन्त्री क्लेमेन्शो तथा इटली के प्रधान मन्त्री आरलेण्डो के अतिरिक्त अमेरिका से लेनसिंग तथा कर्नल हाउस इंग्लैण्ड से बालफोर और बोनरला फ्रौंस से पिशोन और काम्बो इटली से सौन्नियो बेल्जियम से हारमैन्स दक्षिण अफ्रीका से जनरल स्मटस व बोथा तथा पोलैण्ड से दमोवस्की और पादरेवस्की भी शामिल हुए थे।

युद्ध के बाद शान्ति और शान्ति के बाद युद्ध—यह मनुष्य के विकास क्रम का इतिहास रहा है। 1919 के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ के प्रारूप को स्वीकार किया गया और 10 जनवरी 1920 से इसे क्रियान्वित किया गया और राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया। लगभग 20 वर्षों की शान्ति के बाद द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल मे विभिन्न महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए जिन्होंने केवल युद्धकालीन घटनाओं को अपितु युद्धोत्तर विश्व को भी प्रभावित किया। 25 अप्रैल 1945 से 25 जून 1945 तक सान फ्रौंसिस्को सम्मेलन हुआ जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से सम्बन्धित था। इसमें विश्व के 46 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। ई पी चैज ने इस सम्मेलन को सबसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कहा है—जैसा न तो कभी हुआ था और न ही भविष्य मे होने की सम्भावना थी। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों अथवा सम्मेलनीय राजनय अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया और आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बड़ा भाग राजनय के इस स्वरूप पर ही आधारित है। समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए निम्नलिखित महत्वपूर्ण सम्मेलन आयोजित किये गये हैं—

जेनेवा सम्मेलन (1954) पेरिस सम्मेलन (1960) आदिस अबाबा सम्मेलन (1963) कैरेकस सम्मेलन (1974) हेलसिन्की सम्मेलन (1975) कोलम्बो सम्मेलन (1976) हवाना सम्मेलन (1979) नई दिल्ली सम्मेलन (1981) मेलबोर्न सम्मेलन (1981) मैड्रिड सम्मेलन (1991) और काराकस सम्मेलन (1991)।

सम्मेलनों का संगठन अथवा सम्मेलनों का आयोजन और अन्त

राजनयिक सम्मेलनों का आयोजन किस प्रकार होता है उनकी कार्य प्रणाली किस प्रकार तय की जाती है और सम्मेलनों की समाप्ति कैसे होती है तथा विश्व को सम्मेलन के निर्णयों या दृष्टिकोण की जानकारी कैसे हो पाती है इस पर डॉ राय ने अपना सुगठित अध्ययन अग्रवत् प्रस्तुत किया है—

"राज्यों के मध्य मतभेदो को दूर करने अथवा समस्याओं के समाधान के लिए कोई भी राज्य इन पर विचार हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकता है। इससे पूर्व कि आयोजक राज्य निमन्त्रण भेजे निमन्त्रित राज्य की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उक्त सम्मेलन के लिए सहमति लेना आवश्यक है। साथ ही सम्मेलन मे विचार किए जाने वाले विषयों पर भी सहमति ले ली जाती है। निमन्त्रण पत्र राष्ट्राध्यक्ष, विदेश मन्त्री आदि के नाम से भेजा जाता है। इसमे सम्मेलन के बुलाए जाने के कारण, उसके उद्देश्य तथा कार्यक्रम का विवरण होता है। कभी कभी निमन्त्रण पत्र मेजबान राज्य के स्थान पर अन्य राज्य भी भेजते हैं। *विषय और उसके महत्व के आधार पर ही राज्य तय करते हैं कि वे सम्मेलन में भाग लें* अथवा नहीं। राज्य निमन्त्रण को अस्वीकार कर सम्मेलन में भाग लेने से मना भी कर सकते हैं। सम्मेलन मे अनुपस्थित होने के बाद भी राज्य इसके निर्णयों की सस्तुति कर सकते हैं। सम्मेलन मे भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को अधिकार पत्र अथवा प्रत्यय पत्र सम्मेलन के अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इन्हें वे सभी राजनयिक अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जो राजदूतों को प्राप्त हैं। सम्मेलन की प्रथम सभा में एक सभापति तथा एक सचिव चुना जाता है। यह प्राय आयोजक राज्य का ही होता है। यह केवल एक परम्परा है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं है। अग्रत्व आदि की व्यवस्था प्राय. वर्णानुक्रमिक ही होती है। सम्मेलन की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में पहले से ही तय कर लिया जाता है। यह एक मान्य नियम है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रत्येक राज्य का एक मत होता है भले ही प्रतिनिधि मण्डल में कितने ही सदस्य क्यों न हों। उदाहरणार्थ सयुक्त राष्ट्र की आम सभा में प्रत्येक सदस्य राज्य के पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि होते हैं किन्तु वे मत एक ही दे सकते हैं। सम्मेलन के स्थान का चयन तीन आधारों पर किया जाता है। प्रथम समस्याग्रस्त स्थान के निकट जैसे मोरक्को सकट के निराकरणार्थ 1906 का अलजीसिरास सम्मेलन। द्वितीय,महाशक्ति के आधार पर जैसे 1908-1909 का लन्दन नाविक सम्मेलन अथवा वाशिंगटन का 1921-1922 का सम्मेलन। तृतीय एक तटस्थ स्थान पर जैसे जेनेवा में हुए कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन।"[1]

"सम्मेलन के प्रारम्भिक काल में भाषा प्राय: फ्रेंच ही हुआ करती थी। बीसवीं शताब्दी की भाषा अंग्रेजी बन गई है। सम्मेलन के आयोजन के पूर्व ही यह तय कर लिया जाता है कि सम्मेलन में किस भाषा का प्रयोग होगा। सयुक्त राष्ट्र में पाँच भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी चीनी व स्पेनिश—को मान्यता दी गई है। किसी भी सदस्य को इन सम्मेलनों में स्वीकृत पाँच भाषाओं में से किसी भी एक भाषा में भाषण देने व सुनने का अधिकार है। जटिल समस्याओं पर विचारार्थ सम्मेलनों के कार्य को सुविधापूर्वक चलाने के लिए तथा समस्याओं पर विचार हेतु सम्मेलनों का कार्य कई समितियों में विभाजित कर दिया जाता है, जो कार्य समाप्ति पर अपना प्रतिवेदन मूल सम्मेलन के सचिव के पास भेज देती हैं।

इन्हीं के प्रतिविदनों पर मूल सम्मेलन विचार करता है। सम्मेलन में पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात् विभिन्न प्रस्तावों को बहुमत के आधार पर स्वीकार करके कुछ निर्णय ले लिए जाते हैं। ये निर्णय सम्मेलन के अन्त में अन्तिम प्रपत्र (acte finale) के रूप में प्रकाशित किए जाते हैं। सम्मेलन के पूर्व की पूरी तैयारी आयोजक राज्य के कनिष्ठ अधिकारियों

1 डॉ एम पी राय वही, पृष्ठ 187 88

द्वारा की जाती है। सम्मेलन की सफलता अथवा असफलता इस पूर्व तैयारी पर ही निर्भर करती है। विख्यात ब्रिटिश राजदूत विक्टर वेलेजली का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को बुलाने के पूर्व उसकी तैयारी अति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत ह्यूम गिब्सन ने एक बार कहा था कि "यह वाँछनीय है कि अधिकाधिक तैयारी का कार्य सम्मेलन के बुलाने के पूर्व सीधी तथा निजी वार्ता द्वारा पूरा किया जाए ताकि उसका (सम्मेलन) कार्य सीमित न होकर छोटी मोटी कठिनाइयों में तालमेल बैठाने तथा समझौते की शर्तों का मसौदा तय करने तक ही सीमित रह जाए। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञप्ति जारी की जाती है जिस पर पहले से ही पूर्ण विचार कर निर्णय ले लिया जाता है तथा जिसमें सम्मेलन के विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोणों का समावेश किया जाता है।"[1] उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्मेलनीय राजनय को सफल बनाने के लिए अथक प्रयास करने पड़ते हैं।

सम्मेलनीय राजनय के गुण
(Merits of Conference Diplomacy)

सम्मेलनीय राजनय को युद्ध रोकने का महत्वपूर्ण उपाय माना गया है। लॉर्ड हैंकी तथा अन्य ने सम्मेलनीय राजनय के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया है—

1 इसमें भाग लेने वालों की संख्या कम होने के कारण अनौपचारिकता का निर्वाह किया जाता है। यह भी देखा गया है कि सम्मेलनों में सदस्य राष्ट्रीय स्वार्थों को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की ओर उन्मुख होते हैं।

2 सम्मेलनीय राजनय की प्रक्रिया में लचीलापन होता है। विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों को परस्पर विचार विमर्श का अच्छा अवसर मिलता है। गत्यावरोधों को आमने-सामने बैठकर सुलझा लिया जाता है।

3 सभी सम्मेलनों में विदेश मन्त्रियों या राज्याध्यक्षों या प्रधान मन्त्रियों का व्यक्तिगत रूप से भाग लेना सम्भव नहीं हो पाता अतः कभी कभी राजदूत ही अपने देश के प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में भाग लेते हैं। उच्च स्तरीय अधिकारी के नेतृत्व में विशेषज्ञ भी सम्मेलन में भाग लेते हैं। विभिन्न राज्यों के एक ही विषय के विशेषज्ञों के सामूहिक विचार-विमर्श से विश्वास और भ्रातृत्व की भावना पनपती है और सटीक निर्णय लेने की सम्भावनाएँ बढ़ती हैं।

4 सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य प्रायः एक दूसरे से परिचित रहते हैं। प्रमुख सदस्यों के बीच व्यक्तिगत मित्रता रहती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की उचित पृष्ठभूमि बन जाती है। निकल्सन भी इसी विचारधारा का समर्थक था। उसका मत था कि बहुत से राष्ट्राध्यक्ष न केवल एक दूसरे को जान जाते हैं वरन् वे एक दूसरे के मित्र व विश्वासपात्र भी बन जाते हैं। रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य विश्वास व मित्रता सम्मेलनों में व्यक्तिगत सम्पर्क का ही परिणाम था। वे जटिल समस्याएँ जो वर्षों साधारण राजनयिक माध्यम से नहीं सुलझ पातीं, कभी कभी सम्मेलनों द्वारा सुलझ जाती है।

5 सम्मेलनों की कार्यवाही गोपनीय रहती है तथा इसके परिणामों को ही प्रकाशित किया जाता है।

1 डॉ एन पी राय वही, पृष्ठ 1[illegible] 88

6 सम्मेलनों में बार बार मिलने से परस्पर स्थायी विश्वास और सहयोग की वृद्धि होती है।

7 सम्मेलनों में विभिन्न विरोधी के बीच सामञ्जस्य का प्रयास किया जाता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

8 सम्मेलनीय राजनय से समय की भी बचत होती है। आज दूतावासों के कार्य इतने अधिक बढ गए हैं कि यदि वार्ताओं का कार्य भी इन पर छोड दिया जाए तो इन पर कार्य का बोझ और भी बढ जाएगा तथा शीघ्र निर्णय लेने के मार्ग में अवरोध आएगा। राष्ट्राध्यक्षों के बीच होने वाले ये सम्मेलन कम समय के लिए होते हैं अत इसमें शीघ्र निर्णय लिये जा सकते हैं।

9 जिन राज्यों के तत्वावधान में ये सम्मेलन होते हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने का मौका मिलता है। सम्मेलनीय राजनय प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अनुरूप है। इसमें छोटे राज्यों को भी बड़े राज्यों की भाँति समानता के स्तर पर विचार प्रकट करने का एक अच्छा अवसर मिलता है। इस प्रकार सम्मेलनीय राजनीति का स्वरूप प्रजातान्त्रिक है।

10 सम्मेलनीय राजनय खुले राजनय को सम्भव बनाता है अत. खुले राजनय के अनेक गुणों का इसमें समावेश है।

11 वर्तमान परिस्थितियों में सम्मेलनीय राजनय एक वास्तविकता बन गया है।

सम्मेलनीय राजनय के दोष
(Demerits of Conference Diplomacy)

सम्मेलनीय राजनय के दोषों को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

1 सम्मेलनीय राजनय में गोपनीयता का वातावरण रहता है। इससे सदस्य राज्यों के मन में अविश्वास की भावना पनपती है तथा सन्धि वार्ता का मार्ग दुर्गम बन जाता है।

2. सम्मेलनीय राजनय में अनेक गुप्त बातें समय से पहले ही खुल जाती हैं जिससे सन्धियों एवं समझौतों की कार्यान्विति के मार्ग में बाधा आती है।

3 राजनयिक समझौतों में शीघ्र निर्णय ले लिया जाता है। जिस समस्या को राजनयिक समझौता वार्ता के माध्यम से दस वर्ष तक भी नहीं सुलझाया जा सकता उसे राज्याध्यक्षों के मिलने पर एक ही दिन में सुलझा लिया जाता है फलत. व्यावसायिक राजनयज्ञों का महत्व घट जाता है।

4 सम्मेलनों में बार बार मिलने पर राजनयज्ञों में परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्य बढने की सम्भावना अधिक रहती है। छोटी छोटी व्यक्तिगत नाराजगियाँ अनेक बार राष्ट्रीय हित के लिए घातक बन जाती हैं।

5 सम्मेलनों में जब विभिन्न प्रधानमन्त्रियों एवं विदेश मन्त्रियों के बीच मैत्री एवं सौहार्द की भावनाएँ बढ जाती हैं तो वे आपस में ऐसे वायदे तथा सन्धियाँ कर लेते हैं जिनको वे व्यवहार में पूरा नहीं कर पाते, फलत. सम्मेलनीय राजनय का महत्व कम हो जाता है।

6 सम्मेलनों में की गई सन्धियों की कार्यान्विति में अनिश्चितता रहती है क्योंकि वे जनमत की सही परीक्षा किए बिना ही सम्पादित कर ली जाती हैं। यदि उनको जनता

अस्वीकार कर देती है तो वे निरर्थक बन जाती हैं। वर्साय की सन्धि को अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन द्वारा स्वीकार किया गया था किन्तु वहाँ की काँग्रेस ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप संयुक्तराज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका था।

7 सम्मेलनों में दो राज्यों का मनमुटाव या खिंचाव घटने की अपेक्षा अधिक बढ जाता है। वे इस अवसर का प्रयोग एक दूसरे पर कीचड़ उछालने मे करते हैं। फलत अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनापूर्ण वातावरण को हानि पहुँचती है।

8 सम्मेलनों में भाग लेने वाले प्रतिनिधि अपने व्यस्त कार्यक्रम में से थोड़ा ही समय विचार विमर्श के लिए दे पाते हैं तथा सन्धियों की गहराई के बारे मे सन्तुलित ढग से नहीं सोच पाते। प्रो निकल्सन के मतानुसार शान्तिकाल में विचार विमर्श की शीघ्रता लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिप्रद बन जाती है।

9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे गुटबन्दी होने के बाद सम्मेलनीय राजनय का कोई उपयोग नहीं रह गया है। विचारधारा अर्थव्यवस्था एव राष्ट्रीय हितों का विरोध और अनेक पूर्वाग्रह होने के कारण सम्मेलनों मे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचारों का स्वस्थ आदान प्रदान सम्भव नहीं हो पाता है। प्रत्येक पक्ष सम्मेलन का दुरुपयोग अपने राजनीतिक प्रचार के लिए करने लगता है।[1]

सफलता की शर्तें (Conditions for Success)

सम्मेलनीय राजनय की उक्त आलोचनाओं मे पर्याप्त सत्यता होते हुए भी अब पुरानी व्यवस्था की ओर लौटना सम्भव नहीं है। अत आवश्यकता इस बात की है सम्मेलनीय राजनय को सफल बनाने के लिए उचित परिस्थितियाँ अपनाई जाएं। इसके सफल संचालन के लिए विचारकों द्वारा निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं—

1 सम्मेलन की सफलता के लिए यह उपयुक्त है कि सभी प्रतिनिधि मूल बातों के सम्बन्ध मे पहले से ही सहमत हो जाएँ तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को भली प्रकार समझ लें। इस स्वर्णिम नियम को ध्यान मे रखकर किए गए सम्मेलन प्राय सफल हो जाते हैं।

2 सम्मेलन मे भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के बीच परस्पर आदर एव मित्रता की भावना का विकास होना चाहिए। मानवीय सम्बन्ध के पहलू हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं।

3 सम्मेलन मे भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए। कम प्रतिनिधि भली प्रकार विचार विमर्श कर सकते हैं तथा अनावश्यक विरोध पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती।

4 सन्धि वार्ताओं में आवश्यक गोपनीयता का निर्वाह किया जाना चाहिए। समय से पूर्व तथा अनुचित रूप से किसी बात का प्रकाशन होने से वह हानिकारक बन जाती है।

5 सम्मेलन मे भाग लेने वालों को स्वय की भाषा मे ही विचार प्रकट करने चाहिए ताकि स्पष्ट रूप से वे प्रत्येक बात को समझा सकें। अच्छे दुभाषियों की व्यवस्था रहनी चाहिए ताकि अन्य भाषा भाषी लोग उसे सही अर्थ मे समझ सकें।

1 "Yet it should be incorrect to suppose that these meetings are intended to serve the purpose of negotiation; they are exercised in foreign propaganda and do not even purport to be experiments in diplomatic method —Harold Nicolson

सम्मेलनीय राजनय का प्रचलन और प्रभाव हमेशा एक-सा नहीं रहता है वरन् परिस्थितियों के अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

व्यक्तिगत राजनय
(Personal Diplomacy)

वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान करने में व्यक्तिगत राजनय का महत्व भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। व्यक्तिगत राजनय उसे कहते हैं जब राजनयिक सन्धि वार्ताओं में एक राज्य के विदेशमन्त्री, प्रधानमन्त्री तथा राज्याध्यक्ष प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। राजनय का यह रूप बहुत समय से प्रचलित है किन्तु आजकल इसका प्रचलन बढ़ गया है। अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर देश के उत्तरदायी नेताओं द्वारा निर्णय लिए जाते हैं। जेनेवा सम्मेलन, बान्डुंग सम्मेलन, अल्जीयर्स सम्मेलन तथा अन्य अनेक शिखर सम्मेलन व्यक्तिगत राजनय के उदाहरण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके पश्चात् विभिन्न देशों के विदेशमन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए मिलते रहते हैं। भारत ने बंगलादेश एवं शरणार्थियों की समस्या के सन्दर्भ में विभिन्न ख्यातिप्राप्त नेताओं तथा प्रतिनिधि मण्डलों को अन्य राज्यों में भेजा था, जो देश का प्रभावशाली तरीके से पक्ष प्रस्तुत करते हैं। इससे राष्ट्रों के आपसी सबंध मधुर बन जाते हैं।

व्यक्तिगत राजनय में आवश्यकतानुसार दूसरे प्रतिनिधियों का भी सहयोग लिया जा सकता है। ऐसा करने से प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री का कार्य हल्का हो जाता है और समय की बचत होती है। व्यक्तिगत राजनय के समर्थकों का विचार है कि इसके द्वारा ऐसी समस्याओं का समाधान किया जाता है जो राजनयज्ञों द्वारा सामान्य साधनों से नहीं सुलझायी जा सकती हैं। यह कहा जाता है कि ससदात्मक प्रजातन्त्र के युग में मध्यस्थों पर निर्भर रहना उचित नहीं है। विश्व से शीतयुद्ध की समाप्ति में अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और जार्ज बुश तथा सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच के व्यक्तिगत राजनय का प्रमुख हाथ रहा।

आलोचकों ने व्यक्तिगत राजनय को बुरा बताया है। इनका कहना है कि प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री आदि उच्चस्तरीय नेताओं का कार्य नीति बनाना है, समझौते करना नहीं। यह कार्य राजनयज्ञ विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। उच्च नेता प्रायः स्थिति को विषयगत होकर देखते हैं और इसलिए उनके द्वारा की गई सन्धियाँ राष्ट्रहित को पूरा नहीं कर पातीं। प्रो. निकल्सन ने व्यक्तिगत राजनय का विरोध किया है।

सर्वाधिकारवादी राजनय
(Totalitarian Diplomacy)

20वीं शताब्दी में राजनय के इस नए रूप का विकास हुआ। इसमें प्रजातान्त्रिक तरीके के स्थान पर तानाशाही तरीके अपनाए जाते हैं। देश के राजनय का संचालन उच्चस्तर के कुछ गणमान्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। ये नेता प्रचार और प्रसार के माध्यम से अपनी महत्वाकाँक्षाओं और वास्तविक लक्ष्यों को जनता से छिपाए रखते हैं। इस प्रकार के राजनय की कुछ प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

(क) इस राजनय में विचारधारा[1] को आधार बनाया जाता है और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय बड़प्पन भौतिकवाद एवं सैनिकवाद आदि का सहारा लिया जाता है।

(ख) सर्वाधिकारवादी राजनय का लक्ष्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करना नहीं होता वरन् अपनी विचारधारा (Ideology) का प्रसार करना होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विदेशों में विशेष दलों का निर्माण पोषण एवं समर्थन किया जाता है।

(ग) सर्वाधिकारवादी राजनयज्ञ राजनय के सामान्य नियमों का पालन केवल तभी तक करते हैं जब तक कि उनके स्वामियों की योजना से मेल खाते हों।

(घ) ये खुले रूप में घोषणा करते हैं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को इच्छानुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

(ङ) इन राजनयज्ञों द्वारा प्रचार किया जाता है कि साम्यवादी राज्यों तथा पूँजीवादी राज्यों के बीच संघर्ष सदैव रहने वाला तथा कभी न मिटने वाला है।

(च) अन्य देशों के मित्रतापूर्ण व्यवहार को ये देश उनकी कमजोरी मानते हैं और विश्व संस्था को अपने प्रचार का केन्द्र बना लेते हैं।

सर्वाधिकारवादी राजनय के पीछे विचारधारा और सेना की शक्ति रहती है। विचारकों का मत है कि एक रूप में इन राज्यों में राजनय का प्रभाव रहता है। इनका कहना है कि राजनय का आचरण केवल तभी सम्भव है जब दो राज्यों के बीच कुछ बातों पर मेल अथवा सहमति हो। शीतयुद्ध के वातावरण में राजनयिक सम्बन्धों का निर्वाह नहीं हो पाता।

खुला राजनय और गुप्त राजनय
(Open and Secret Diplomacy)

आधुनिक युग में यद्यपि गुप्त और खुले दोनों ही राजनय का उपयोग होता है तथापि राजनय का इतिहास गुप्त रूप से खुले राजनय की ओर रहा है।

खुला राजनय (Open Diplomacy)

वर्तमान में खुला राजनय की प्रवृत्ति प्रचलित है। आज राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो सन्धियाँ और समझौते तथा राजनयिक व्यवहार किया जाता है उसकी जानकारी जनसाधारण को प्राप्त होती है। प्राय सभी प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों द्वारा खुले राजनय का सहारा लिया जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस और भारत जैसे लोकतान्त्रिक राष्ट्रों ने अपने प्रजातन्त्रीय संविधान के आधार पर खुले राजनय को अपनाया है।

खुले राजनय से तात्पर्य है राजनय का जन आकांक्षाओं से प्रभावित और संचालित होना। नैतिक और आदर्शात्मक आधार पर ही इसका समर्थन किया जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही इस प्रकार के राजनय का समर्थन किया जाने लगा है। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के चौदह सिद्धान्तों में पहला यही था कि सभी शान्तिपूर्ण समझौते खुले रूप में किए जाने चाहिए तथा राजनय का संचालन जनतान्त्रिक

1 जैसे साम्यवादी विचारधारा को आधार बनाकर सोवियत संघ तथा लाल चीन आदि में राजनय संचालित किया जाता है। सन् 1991 में सोवियत संघ का पतन हो गया।

तरीके से बहुमत की राय के अनुसार किया जाए। श्री विल्सन ने खुली वार्ताओं तथा विदेश सम्बन्धों पर प्रजातन्त्रीय नियन्त्रण पर बल दिया। इस विलसोनियन राजनय (Wilsonian Diplomacy) का अर्थ था वार्ताओं का खुला स्वरूप और शक्ति संघर्ष के स्थान पर सामूहिक सुरक्षा, जो प्रजातन्त्रीय व्यवस्था से नियन्त्रित हो।[1]

रूसी लेखक अनातोलीव (K Anatoliev) ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राजनय' (Modern Diplomacy) मे यह दावा किया है कि सोवियत सरकार ने शान्ति के आदेश (Decree on Peace) में 'प्रकट रूप से किए गए प्रकट समझौते' के सिद्धान्त को सबसे प्रथम प्रतिपादित किया था। उसी ने ही समस्त वार्ता को खुला और आम जनता के समक्ष रखने का दृढ़ उद्देश्य घोषित किया था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ज़ार तथा रूस की अस्थायी सरकार द्वारा की गई सभी सन्धि व समझौते प्रकाशित कर दिए गए थे। सरदार के एम पणिक्कर ने 1956 ई मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'राजनय का सिद्धान्त और व्यवहार' मे अनजाने ही अनाटोलीव के इस मत की पुष्टि की है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से ही वार्ताएँ खुले रूप मे होने लगी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का विदेश मन्त्री जेम्स ब्रायँ तो 'मत्स्य कटोरे के राजनय' में विश्वास करता था अर्थात् जिस प्रकार से कमरे के मध्य मेज पर रखे गोल काँच के बर्तन में तैरती हुई मछली को सभी देखते हैं ठीक इसी प्रकार राजनयिक वार्ताएँ भी सभी को दिखती व मालूम होती रहती हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पत्रकारों, रेडियो व टेलीविजन प्रतिनिधियों को आने की छूट है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव डॉ हेनरी किसिंजर ने एक बार कहा था कि वे तथा राष्ट्रपति निक्सन काँग्रेस के साथ सहयोग की नीति अपनाएँगे तथा विदेश सम्बन्ध जहाँ तक सम्भव हो खुले में ही किए जाएँगे।[2]

खुले राजनय के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. आवश्यकता के समय जनता द्वारा धन और जीवन का बलिदान किया जाता है इसलिए सरकार द्वारा उन्हें सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों एव समझौतों से अवगत रखना चाहिए।

2 प्रजातन्त्रात्मक सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए जनता को तथ्यों से अवगत रखना अनिवार्य है।

3 यदि राजनयिक कार्यों पर जनता का संरक्षण एव नियन्त्रण रहेगा तो राजनीतिज्ञ विनाशकारी युद्धों का वातावरण नहीं बना सकेंगे तथा जनता को जबरदस्ती युद्ध में नहीं झोंका जा सकेगा।

4 खुले राजनय की व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण विषयों पर व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श किया जा सकता है और समझौता हो जाने के बाद उसे जनता की जानकारी हेतु प्रकाशित किया जा सकता है।

गुप्त राजनय (Secret Diplomacy)

गुप्त राजनय के अन्तर्गत किए जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सन्धियाँ गुप्त रखी जाती हैं। उनको सामान्य जनता के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया जाता। राजनय का

1 2. डॉ एम पी राय वही, पृष्ठ 175 76.

यह रूप प्राय तानाशाही देशों मे अपनाया जाता है किन्तु यह वहीं तक सीमित नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय मित्र राष्ट्रों ने इटली तथा अन्य राज्यों से गुप्त सन्धियों मे अनेक वादे किए ताकि उनको तटस्थ रखा जा सके या अपने पक्ष में कार्यरत किया जा सके। इन गुप्त सन्धियों के कारण पेरिस का शान्ति सम्मेलन सफल न हो सका। मित्रता एव सहयोग के लिए की जाने वाली अनेक सन्धियों मे गुप्त प्रावधानों का समावेश होता है। मई 1939 का इटली जर्मनी का समझौता अगस्त 1939 की रूस जर्मनी की सन्धि गुप्त राजनय के ही परिणाम थे। सन् 1945 के याल्टा समझौते मे गुप्त प्रावधानों की जानकारी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय असन्तोष का सूत्रपात हुआ।

गुप्त राजनय के पक्ष में प्राय निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1 एक सफल राजनय का गुप्त रहना अनिवार्य है।

2 गुप्त रूप से किए गए समझौतों मे सौदेबाजी अधिक खुलकर की जा सकती है तथा राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए अधिक उपयोगी निर्णय लिए जा सकते हैं। खुले राजनय में जनता की आलोचना के भय से राजनयज्ञ निर्णय लेने मे भी हिचकिचाहट दिखाते हैं।

3 यदि गुप्त राजनय का आचरण न किया जाए तो राजनयज्ञों को प्रचार मे रुचि लेनी होगी तथा वे अपने कर्तव्य मार्ग से हट जाएँगे। उनको जनता के क्षणिक दुराग्रहों से भी प्रभावित होना पड़ेगा।

4 खुले राजनय की समस्याओं का निवारण गुप्त राजनय मे ही है। खुले राजनय के अन्तर्गत पत्रकारों सांसदों व प्रमुख अधिकारियों द्वारा समय समय पर दी जाने वाली सूचनाएँ रहस्योद्घाटन करने वाली होती हैं। ये सूचनाएँ राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को कटु बना देती हैं जैसा कि पेन्टागान पेपर्स (पत्रकार जैक एण्डरसन द्वारा प्रकाशित पेन्टागान पेपर्स) के कारण भारत अमेरिका के अथवा अमेरिकी वाईस एडमिरल के वक्तव्य के कारण जापान अमेरिका के सम्बन्ध कटु हो गए थे। गुप्त राजनय मे इस प्रकार का भय नहीं रहता।

गुप्त राजनय बनाम खुला राजनय
(Secret Diplomacy v/s Open Diplomacy)

"गुप्त राजनय बनाम खुला राजनय" का विवाद आज भी बना हुआ है। गुप्त राजनय के समर्थकों का मत है कि खुले राजनय मे वार्ताकार लचीले नहीं होते। एक बार एक आधार बिन्दु बनाकर वार्ताकार पीछे नहीं हट पाते हैं क्योंकि उनकी प्रत्येक कार्यवाही विश्व नाट्यशाला के रगमच की तेज बिजली के प्रकाश मे होती है अत प्राय वार्ताएँ असफल रहती हैं किन्तु इस मत के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी गुप्त वार्ताएँ सफल होती हैं? साम्यवादी और पश्चिमी देशों की वार्ताओं के गुप्त होते हुए भी उन्हे प्राय असफलता ही मिली है। वह समय अब नहीं रहा जब गुप्त वार्ताएँ पूर्णत सफल होती थीं। आज जनता जागरूक है। यह किसी भी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं करती जो उसे मान्य न हो। आज राजदूत कोई ऐसी रियायत नहीं दे सकता जो जनता के विरुद्ध हो क्योंकि वे जानते हैं कि जनता इसका विरोध करेगी। कोई सरकार एक अलोकप्रिय नीति अथवा समझौते को तब तक क्रियान्वित नहीं कर सकती जब तक कि जनता को धीरे धीरे

निर्णय में न लिए जाएं, विरोधी पक्ष से परामर्श न लिए जाएं तथा सार्वजनिक समझौतों को यह अनुमान न करने दिए जाएं कि वे भी निर्णय लेने में सहायक हैं। केवल तभी समझौते सफल हो सकते हैं। आज जनता निर्णय रूप से देश की आन्तरिक व बाह्य नीति के निर्माण में सहयोग देती है तथा प्रत्येक सरकार को इनके सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि राजनयज्ञ आजकल गुप्त राजनय का उपयोग करते हैं परन्तु राजनयज्ञ भी जनता को समय-समय पर विदेश नीति की गतिविधियों से सूचित करते रहते हैं तथा विरोधी पक्ष पर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व डालकर, जनता को प्रचार के माध्यम से गुमराह करते रहते हैं। परन्तु इस सबका अर्थ यह नहीं है कि गुप्त वार्ताओं का काल समाप्त हो गया है। आज भी वार्ताएँ गुप्त होती हैं। न केवल राज्य वरन् क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी अपनी प्रारम्भिक वार्ताएँ गुप्त ही रखती हैं जब तक कि वे एक निश्चित स्तर तक न हो जाएँ अथवा एक निश्चित निर्णय तक न पहुँच जाएँ। यह सत्य है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण समझौते के पीछे परोक्ष में की गई वार्ताएँ ही होती हैं। खुला राजनय वार्ता की गुप्तता को समाप्त नहीं करता है। वास्तविक राजनयिक अभिप्राय खुले राजनय का विरोधी है। इसका मत है कि खुले राजनय से जो प्रचार होगा, उससे वार्तालाप में वार्ता असम्भव हो जाएगी। अतः इनके विचार में हमें गुप्त व खुले राजनय के मध्य का मार्ग—गुप्तता से किए गए खुले समझौते *('Open Covenants secretly arrived at')* अपनाना चाहिए।

खुले राजनय एवं गुप्त राजनय दोनों के पक्ष में विचारकों ने तर्क दिए हैं, किन्तु दोनों की ही अपनी सीमाएँ हैं। खुले राजनय के समर्थन में दिए जाने वाले तर्क आकर्षक प्रतीत होते हुए भी एकपक्षीय होते हैं। एक और अन्य स्थान में हैमरशोल्ड ने कहा था कि "सब अनुभव यह बताता है कि खुले में वार्ता सफल नहीं रहती।"

आज भी बहुत से विचारकों का यह स्पष्ट मत है कि प्रजातन्त्रात्मक राजनय का खुला होना न तो आवश्यक है और न ही उपयोगी। पामर तथा पर्किन्स के अनुसार जनता का भला इसमें है कि समझौते के परिणामों एवं उद्देश्यों के लिए नेताओं को उत्तरदायी ठहराया जाए, न कि इसमें कि समझौते ही टेलीविज़न के पर्दे पर किए जाएँ।

दुकानदार जैसा राजनय बनाम यौद्धिक राजनय
(Shop-keeper Diplomacy v's Warrior Diplomacy)

ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनाए गए राजनय को दुकानदार जैसा राजनय कहा जाता है। प्रो. निकल्सन के अनुसार यहाँ के राजनय में वे सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो व्यापार के लिए उपयोगी होती हैं।[1] ब्रिटिश राजनय विवेकपूर्ण समझौते करने के लिए तैयार रहता है, दूसरे राज्यों के साथ प्रेम सम्बन्ध बढ़ाता है तथा अनेक प्रकार की सन्धियों द्वारा शान्ति के प्रयत्नों में योगदान करता है। दुकानदार जैसे राजनय का समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि राजनय के दूसरे रूपों की अपेक्षा यह अधिक नैतिक है तथा इसमें सफलता के अवसर अधिक रहते हैं। दुकानदार जैसे राजनय के आलोचकों का कहना है कि ब्रिटिश राजनय अपूर्ण, चालाक तथा अव्यवस्थित होता है। ब्रिटिश राजनय की सफलता का रहस्य यह नहीं है कि वह दुकानदार जैसा है वरन् यह है कि उसके पीछे शक्ति है। सन् 1956

1 *Harold Nicolson* Diplomacy p. 132

के स्वेज नहर के विवाद में ग्रेट ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ पीछे हटानी पड़ी क्योंकि अब वह सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य नहीं था। उसे संयुक्तराज्य की बात मानने के लिए बाध्य होना पड़ा। संयुक्तराज्य की आवाज का प्रभाव केवल इसलिए होता है क्योंकि वह शक्तिशाली है। सन् 1991 में संयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व में 28 देशों की बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक को निर्णायक रूप से पराजित किया था। संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी सर्वोच्च सैनिक शक्ति से ही इस खाड़ी युद्ध में विजयी हुआ था।

राजनय का अन्य रूप यौद्धिक (Warrior) है। यह समझौते में विश्वास नहीं करता तथा युद्ध के वातावरण को अधिकाधिक उत्तेजित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। कुछ विचारकों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकार के राजनय का समर्थक राज्य अन्त में स्वय नष्ट हो जाता है। उसे कोई सन्तोषजनक सफलता प्राप्त नहीं हो पाती है।

दुकानदार जैसे तथा यौद्धिक राजनय के बीच अनेक भिन्नताएँ हैं एव परस्पर विरोधी विशेषताएँ हैं। प्राय यह देखा जाता है कि शक्तिशाली देश यथास्थिति के समर्थक होते हैं और दुकानदार जैसे राजनय को अपनाते हैं किन्तु कम-शक्ति-सम्पन्न राज्य यथास्थिति व्यवस्था को चुनौती देते हैं तथा उसे बदलने का प्रयास करते हैं। ये यौद्धिक राजनय का समर्थन करते हैं। यह नियम पूरी कठोरता के साथ लागू नहीं होता क्योंकि अनेक शक्तिशाली राज्य यौद्धिक राजनय का आचरण करते हैं तथा अनेक कमजोर राज्य दुकानदार जैसा राजनय अपनाते हैं।

राजनय के इन दोनों रूपों का आधार तत्कालीन परिस्थितियाँ राज्य का स्वरूप एव उसकी विचारधारा होती है। दोनों रूपों की सफलता किसी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तथा उसकी शक्ति पर निर्भर होती है। राजनय के इन दोनों रूपों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

(क) दुकानदार जैसा राजनय बुद्धिपूर्ण समझौते करता है जबकि यौद्धिक राजनय का समझौते में विश्वास नहीं होता क्योंकि इससे यथास्थिति को बदला नहीं जा सकता।

(ख) प्रभुत्वपूर्ण राज्य यथास्थित व्यवस्था से सन्तुष्ट रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति-प्रयोग को पसन्द नहीं करते। वे दुकानदार की तरह प्रत्येक विवाद को बातचीत द्वारा सुलझाना चाहते हैं। इसके विपरीत यौद्धिक पराजय के समर्थकों के मतानुसार शक्ति-प्रयोग के बिना उनके लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।

(ग) दुकानदार जैसे राजनय में अस्पष्टता पाई जाती है। उसके समझौतों का कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता। युद्धप्रिय राज्य प्रत्येक बात को प्राय स्पष्ट रूप से कहते हैं।

(घ) दुकानदार जैसे राजनय के समर्थक राज्य यथास्थित विश्व व्यवस्था से सतुष्ट रहते हैं। वे स्पष्टत यह नहीं जान पाते कि उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं। दूसरी ओर यौद्धिक राजनय के समर्थकों के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं। वे वर्तमान व्यवस्था को बदल कर अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं ताकि अपने हितों को प्राप्त कर सकें।

(ङ) यौद्धिक राजनय अपनाने वाले देश प्राय गरीब शक्तिहीन एव असन्तुष्ट होते हैं। शक्ति के अभाव में उनको राजनयिक सफलताएँ कम प्राप्त हो पाती हैं। विश्व-समाज में उसका स्तर अधिक ऊँचा नहीं रहता। यही कारण है कि वे यथास्थिति को बदलने के लिए

युद्ध और संघर्ष का सहारा लेते हैं तथा अवैद्धिक समझौतों द्वारा आगे बढ़ते हैं। दुकानदार जैसे राजनय के समर्थक राज्यों का स्वभाव एवं कार्य इसके विपरीत होता है।

प्रचार द्वारा राजनय
(Diplomacy by Propaganda)

आजकल राजनय में प्रचार का पर्याप्त महत्व बढ़ गया है। राजनयिक निर्णयों को अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार तकनीक का प्रयोग करता है। रेडियो टेलीविजन प्रेस आदि साधनों द्वारा एक विशेष नीति के पक्ष में वातावरण बनाया जाता है। जॉर्ज वी. एलन की मान्यता है कि प्रचार राजनय का एक सजग हथियार (Conscious Weapon) है। बिस्मार्क ने इस हथियार का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया था। बाद में यह व्यवस्था सामान्य बन गई तथा अनेक देश इसे अपनाने लगे। प्रचार और प्रकाशन राजनय के लिए दो रूपों में उपयोगी होता है। एक इसके द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है और दूसरे, समझौता वार्ता के समय उसे अपने हित की दृष्टि से मोड़ने का प्रयास किया जाता है।

प्रचार एवं प्रकाशन द्वारा राजनय को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाई जाती है। के.एम. पनिक्कर ने समझौता वार्ता को मूलतः एक गुप्त प्रणाली माना है। समझौता-वार्ता के दौरान उसका प्रकाशन अत्यन्त खतरनाक माना जाता है। प्रचार द्वारा जनता में अनेक प्रकार मिथ्या-विश्वास एवं भ्रम उत्पन्न किए जाते हैं, किन्तु आज की परिस्थितियों में ये अपरिहार्य बन गए हैं। वैसे तो प्रायः सभी राज्य प्रचार और प्रकाशन द्वारा राजनय का संचालन करते हैं किन्तु साम्यवादी राज्यों में इनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता रहा। शान्ति एवं संघर्ष दोनों अवसरों पर प्रचार के साधनों की उपयोगिता होती है। आज इस साधन को अपनाने वाले राज्य केवल साम्यवादी ही नहीं है अपितु प्रायः सभी राज्यों द्वारा इनका सहारा लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के नाम पर प्रचार के साधनों का उपयोग करता है।

संयुक्त या सहमिलन राजनय
(Coalition Diplomacy)

सहमिलन का सामान्य अर्थ है—किसी उद्देश्य के लिए दूसरों के साथ मिलकर एकता कायम कर लेना। भारत में संयुक्त अथवा सहमिलन अथवा संविद सरकारें विगत वर्षों से राज्यों में बनती आ रही हैं और जुलाई, 1979 में देसाई सरकार के पतन के बाद चौधरी चरणसिंह की जो सरकार बनी वह संयुक्त अथवा सहमिलन सरकार (Coalition Government) का उदाहरण था। वर्तमान में भी राजस्थान, केरल, और पश्चिमी बंगाल में संविद सरकारें कार्य कर रही हैं। राष्ट्रों में सहमिलन की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं राष्ट्र। किसी सामान्य शत्रु से रक्षा करने अथवा युद्ध में विजय प्राप्त करने अथवा सामान्य आर्थिक लाभ उठाने जैसे उद्देश्यों से प्रेरित होकर राष्ट्रों में सहमिलन की प्रक्रिया होती रही है। नेपोलियन बोनापार्ट का मुकाबला करने के लिए पृथ्वीराज चौहान ने विभिन्न राजपूत राष्ट्रों से सहायता ली थी। शक्ति सन्तुलन के लिए भी राष्ट्रों में सहमिलन होता रहा। हस तथा थ्रिंपिंग ने लिखा है—"नीति निर्धारक जब यह अनुभव करते हैं कि अपने

लक्ष्यों को वह अकेला पूरा नहीं कर सकता तो शक्ति समर्थन के लिए वे दूसरों से सहायता लेते हैं। इस प्रकार दूसरों के साथ मिलकर एक निश्चित् अथवा समान उद्देश्य के लिए वे एकता कायम कर लेते हैं।" राजनीति शास्त्र की भाषा में इस तकनीक अथवा मिलन को 'संयुक्त होना या सहम्मिलन (Coalition) की संज्ञा दी जाती है। 20वीं शताब्दी में और विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनयिक गतिविधियाँ अकेले-अकेले राष्ट्र की न होकर सामूहिक गुटों में संगठित राष्ट्रों की हो गई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में एकाकी राजनयिक क्रियाओं का अब विशेष महत्व नहीं रहा है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय हित-सवर्धन के लिए दूसरे राज्यों को अपने पक्ष में लेना होता है अथवा उन राज्यों के साथ मिलकर काम करना होता है। संयुक्त राष्ट्र महासभा में सहमिलन राजनय संसदीय राजनय गुप्त राजनय आदि के दावपेच चलते ही रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा संस्थाओं के विकास ने स्वतन्त्र एकाकी एवं पृथक् राजनयिक क्रिया को लगभग अर्थ की बना दिया है। संयुक्तराज्य अमेरिका या भारत यदि संयुक्त राष्ट्र महासभा में कोई प्रस्ताव रखते हैं तो वह तब तक अर्थहीन होगा जब तक कि उसके मत का समर्थन करने के लिए कुछ और देश आगे न आएँ। अन्य देशों को अपने समर्थन के लिए तैयार करना होता है जिससे सहम्मिलन के राजनय को प्रोत्साहन मिलता है।

सामूहिक सुरक्षा की खोज (Quest for Collective Security) ने भी राष्ट्रों को इस बात के लिए प्रेरित किया है कि वे सहमिलन के राजनय को अधिकाधिक प्रोत्साहन दें। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध अपनी भावी सुरक्षा की खोज में सहमिलन राजनयिक प्रयत्नों को बहुत तेज कर दिया था और संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर ने सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी जो व्यवस्था है उसका प्रभावी क्रियान्वयन तभी सम्भव है जबकि सहमिलन का राजनय प्रभावशील होता हो। सुरक्षा के अतिरिक्त विश्व राजनीति का स्वरूप भी आज ऐसा हो गया है कि बिना मित्रों के सहयोग के एक राष्ट्र अपने को सबसे अलग-थलग पड़ा पाएगा। इससे भी सहमिलन के राजनय को प्रोत्साहन मिला है। सन् 1971 में भारत और सोवियत संघ के बीच जो 20 वर्षीय मित्रता और सहयोग की सन्धि हुई वह सहमिलन राजनय की एक विशेष उपलब्धि मानी जा सकती है। युद्ध के समय पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों ने जो क्षेत्रीय संगठन बनाए—उनमें सम्मिलित होना सहमिलन के राजनय का ही स्वरूप माना जाएगा। सहमिलन के राजनय से बहुपक्षीय राजनय का और बहुपक्षीय राजनय से सहमिलन के राजनय का विकास हुआ है अर्थात् दोनों एक-दूसरे के पूरक अथवा सहयोगी हैं। आज इस बात से इन्कार करना कठिन है कि राजनय संगठनात्मक रूप लेता जा रहा है—एकाकी राजनय का महत्व घट रहा है और सभी समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय उलझनें बन गई हैं जिनके समाधान के लिए सम्मेलनीय राजनय बहुपक्षीय राजनय सहमिलन राजनय शिखर राजनय आदि का विकसित होना स्वाभाविक है। क्षेत्रीय संगठनों के अन्तर्गत सक्रिय राजनय को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रायः सहमिलन का राजनय (Coalition Diplomacy) कहा जाता है। राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) में सक्रिय राजनय सहमिलन राजनय ही है। राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों के अध्यक्षों ने स्वीकार किया है कि "आपसी परामर्श राष्ट्रमण्डल का जीवन रक्त है" (Consultation is the life-blood of the Commonwealth)। अरब लीग यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन यूरोपीय संसद नाटो

सीटो यूरोपीय साझा बाजार और खाडी परिषद् आदि के अन्तर्गत जो राजनयिक क्रियाएँ चलती रहती हैं वे सहमिलन राजनय की प्रतीक हैं।

सहमिलन राजनय का मूल्यांकन

सहमिलन राजनय की तकनीकी इस बात को सम्भव बनती है कि विश्व के देश आपसी समस्याओं का समाधान आपसी परामर्श से करें। पारस्परिक विचार विमर्श के माध्यम से क्षेत्र विशेष के देश अथवा विश्व के विभिन्न देश किन्हीं समस्याओं के सम्बन्ध में एक सामान्य दृष्टिकोण का विकास करते हैं जिससे व्यापक हित के लिए सामान्य चेतना जाग्रत होती है और अन्तर्राष्ट्रीय विवेक को प्रोत्साहन मिलता है। सहमिलन राजनय के फलस्वरूप हम राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर अधिराष्ट्रवाद (Supra national) की ओर बढ़ें। सहमिलन के राजनय ने विश्व में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने में मदद की है। सहमिलन के राजनय के विकसित होने के फलस्वरूप विकास-सचनों में वृद्धि हुई है और छोटे छोटे राष्ट्र अपने क्षेत्रीय आर्थिक सगठन बनाकर अपने त्वरित आर्थिक विकास को प्रयत्नशील हैं। पश्चिमी यूरोप का बहुत ही अल्पकाल में जो युद्धोत्तर पुनर्निर्माण हो सका उसके मूल में सहमिलन राजनय ही उत्तरदायी रहा है। सहमिलन राजनय के माध्यम से न केवल क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान में बल्कि विश्व समस्याओं के समाधान में सामान्य दृष्टिकोण पनपने लगा है। निःशस्त्रीकरण कैसे किया जाए, इसकी सीमा क्या हो, इसके स्तर क्या हों—इन बातों पर मतभेद हो सकते हैं लेकिन सहमिलन राजनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस बात पर सभी देश सहमत हैं कि निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। जो मतभेद हैं उन्हें भी सहमिलन के राजनय द्वारा कम किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसघ सहमिलन के राजनय का उदाहरण प्रस्तुत करता है और हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस विश्व सस्था के माध्यम से राजनयिक क्रियाओं का सस्थाकरण (Institutionalisation) हो गया। सहमिलन के राजनय के माध्यम से हम अन्तर्राष्ट्रीय बन्धक तथा एकीकरण की दशा में आगे बढे। यूरोप ने इसके लिए उन्नमानस तेजी से तैयार हो गया है जिसका एक प्रमाण यूरोपीय ससद की स्थापना है। यूरोप एकीकरण की दिशा में बढ चुका है। सहमिलन के राजनय में कतिपय दोष भी हैं। ये दोष उसी प्रकार के हैं जैसे ससदीय राजनय के हैं। गुटबन्दियों के कारण विश्व शान्ति की समस्या उलझती जा रही है। क्षेत्रीय सहमिलन के राजनय ने शीत युद्ध को सहारा दिया है और क्षेत्रीय स्वार्थों को आगे बढाया है। विश्व के विभिन्न रूप परस्पर सहमिलन के राजनय में सलग्न रहते हैं। इस प्रकार अलग-अलग गुटों में अलग अलग सहमिलन के राजनय ने एक दूसरे के प्रति तनाव और अविश्वास को बढावा दिया है। सहमिलन के राजनय का उपयोग उसी सावधानी से करना चाहिए जिस सावधानी से ससदीय राजनय या अथवा राजनय के किसी अन्य स्वरूप का।

पुराना राजनय
(The Old Diplomacy)

सामान्य अर्थ में राजनय उतना ही पुराना है जितना राज्य का विकास है, किन्तु राज्यों के बीच स्थापित प्रक्रिया एव स्वीकृत तरीकों से शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह अधिक पुराना नहीं है। यूरोप में यह 15वीं शताब्दी के अन्त में विकसित राज्य व्यवस्था की देन है। इस

प्रकार राजनय का इतिहास 500 वर्षों का इतिहास है। प्रारम्भ मे इसका विकास यूरोप महाद्वीप की परिधि मे सीमित रहा किन्तु 1914 के बाद इसके क्षेत्र और प्रकार मे नवीनता का सूत्रपात हुआ। पुराने राजनय काल (1500 1914) मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनय मुख्य रूप से अपने मित्र बनाने और दूसरों के मित्र तोडने का कार्य करता था। इतने पर भी यूरोपीय राज्य परस्पर मित्रता और घनिष्ठापूर्ण व्यवहार करते थे। तत्कालीन राजतन्त्रीय एव कुलीनतन्त्री व्यवस्थाएँ पश्चिमी यूरोप की एकता की भावना से प्रभावित थीं। श्री के एम पनिक्कर के कथनानुसार "पुराना राजनय मित्रतापूर्ण मानवीय तथा विनम्र कला थी। यह पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर सचालित किया जाता था।"[1]

पुराने राजनय की प्रक्रिया सभ्य राज्यों के सम्बन्धों के सचालन के लिए श्रेष्ठ थी। यह सहृदयतापूर्ण एव सम्मानजनक तथा निरन्तर एव क्रमिक थी। इसमे ज्ञान और अनुभव को महत्व दिया जाता था तथा सद्‌विश्वास सक्षिप्तता एव स्पष्टता को सन्धि वार्ता का आवश्यक गुण माना जाता था। पुराने राजनय की जो बुराइयाँ बताई जाती हैं वे वास्तव में गलत विदेश नीति की बुराइयाँ हैं। पुराने राजनय मे सन्धि वार्ता की प्रणाली दोषपूर्ण नहीं थी। प्रो निकल्सन की मान्यता है कि यह आधुनिक प्रणाली की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल थी।[2]

पुराने राजनय की विशेषताएँ
(Characteristics of the Old Diplomacy)

प्रो हैरल्ड निकल्सन ने पुराने राजनय की पाच विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये क्रमश निम्नलिखित हैं—

1 **यूरोप की प्रभुता** पुराने राजनय काल मे यूरोप को सभी महाद्वीपों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस काल मे एशिया तथा अफ्रीका को साम्राज्यवाद व्यापार एव धर्म प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र माना जाता था। अमेरिका 1897 तक अपने महाद्वीप मे सीमित रहा और पृथकतावादी अथवा अलगाववादी नीतियाँ अपनाता रहा। इस काल मे कोई भी युद्ध उस समय तक बडा युद्ध नहीं माना जाता था जब तक कि 5 यूरोपीय महाशक्तियों मे से कोई एक भाग न ले। यूरोपीय राज्यों द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय किया जाता था।

2 **महाशक्तियों और छोटी शक्तियों मे भेद** पुराने राजनय के अनुसार यह माना जाता था कि महाशक्तियों के हित और दायित्व व्यापक होते हैं। उनके पास अधिक आर्थिक और सैनिक शक्ति होती है इसलिए वे छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। छोटे राज्यों का महत्व उनके सैनिक साधनों युद्ध स्थिति बाजार मूल्यों और कच्चे माल के स्रोतों के आधार पर निश्चित किया जाता था। छोटे राज्यों का अन्तर स्थायी न" ी। पुराने राजनय काल मे छोटी शक्तियों के हित मत एव समर्थन महाशक्तियों के निर्णय को कदाचित् ही बदल पाते थे।

3 **महाशक्तियों का दायित्व** इस काल मे महाशक्तियों का यह उत्तरदायित्व था कि छोटी शक्तियों के आचरण का निरीक्षण करे और उनमें शान्ति स्थापित करे।[1] छोटी शक्तियों

1 "Hence old d plomacy was a friendly human and pol te art, carried on with much fineness and a great deal of mutual toleration" —K M Panikkar

2 *Harold Nicolson* The Evolution of Diplomat c Method p 73 76

के बीच संघर्ष होने पर महाशक्तियाँ हस्तक्षेप करती थीं। इस संघर्ष को महाशक्तियों का संघर्ष बनने से रोकने का पूरा प्रयास किया जाता था।

4 व्यावसायिक राजनयिक सेवा पुराने राजनय की एक अन्य विशेषता यह थी कि प्रत्येक यूरोपीय देश ने बहुत कुछ एक जैसी व्यावसायिक राजनयिक सेवा स्थापित की गई थी। ये राजनय अधिकारी विदेशी राजधानियों में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते थे। इनकी शिक्षा अनुभव तथा लक्ष्यों में पर्याप्त समानता रहती थी। इनका एक विशेष वर्ग बन जाता था। उनकी सरकार का लक्ष्य चाहे कुछ भी हो किन्तु वे राजनय का उद्देश्य शान्ति की रक्षा मानते थे। सन्धि वार्ताओं में ये व्यावसायिक राजनयज्ञ पर्याप्त लाभकारी सिद्ध हुए। इनके व्यावसायिक आचरण का एक ऊँचा मापदण्ड होता था तथा ये यथासम्भव आपसी संघर्ष को टालना चाहते थे।

5 निरन्तर एवं गोपनीय सन्धि वार्ता पुराने राजनय की पाँचवीं मुख्य विशेषता यह थी कि इससे सन्धि वार्ताओं में निरन्तरता तथा गोपनीयता को मान्यता दी जाती थी। इसके लिए सार्वजनिक सम्मेलन आयोजित नहीं किए जाते थे। सन्धिकर्ता राजदूत को वार्ताकर्ता राज्य की जनता की पूरी जानकारी रहती थी वह उनकी शक्ति एवं कमजोरियों का पहले से ही अनुमान लगा सकता था। उसे स्थानीय हितों दुराग्रहों एवं महत्वाकांक्षाओं की जानकारी रहती थी। वहाँ के विदेश मन्त्री से बार बार मिलने पर भी जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता था। वार्तालाप गोपनीय रहने के कारण बुद्धिपूर्ण और सम्मानजनक सन्धियाँ की जा सकती थीं। सन्धि वार्ता के दौरान जनता की महत्वाकांक्षाएँ नहीं बढ़ पाती थीं। दो राज्यों की सन्धि में प्रत्येक पक्ष को थोड़ा अवश्य झुकना पड़ता है। यदि जनता को यह बात पहले से ही ज्ञात हो जाए तो विरोधी आन्दोलन भड़कने के अवसर पैदा हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सन्धि वार्ता असफल हो जाती है। पुराने राजनय में गोपनीयता और विश्वसनीयता रहने के कारण ऐसी आशंका नहीं रहती थी।

पुराने राजनय के तरीकों के अनुसार सन्धि वार्ता करने वाले राजनयज्ञ को समय की कमी नहीं रहती थी। इस काल में दोनों पक्षों की सरकारें सन्धि पर अपना मत व्यक्त कर देती थीं। यदि सन्धि वार्ता में कोई गतिरोध पैदा हो जाता था तो वार्ता को कुछ समय के लिए रोक दिया जाता था। अन्त में जो समझौता होता था वह जल्दबाजी का परिणाम न होकर पर्याप्त सोच विचार एवं गम्भीर विचार विमर्श का परिणाम होता था। उदाहरण के लिए, 1907 का आंग्ल रूसी अभिसमय एक वर्ष तीन माह के विचार विमर्श का परिणाम था।

पुराने राजनय के दोष (Defects of Old Diplomacy)

पुराने राजनय में गम्भीरता बुद्धिमत्ता गोपनीयता परिष्कार आदि गुण के साथ कुछ दोष भी थे। इस व्यवस्था ने अनेक बुराइयों को प्रोत्साहित किया। इसकी प्रमुख आलोचना यह की जाती है कि इसने गुप्त सन्धियों को प्रोत्साहित किया। सन्धि वार्ता को विश्वसनीय बनाने के प्रयास में गोपनीयता की प्रवृत्ति विकसित हो गई। उच्च पदाधिकारी तथा आदरणीय व्यक्ति भी ऐसी गुप्त सन्धियों में उलझ जाते [redacted] जिनका वे उल्लंघन नहीं कर सकते। हैरल्ड

निकल्सन के कथनानुसार "गुप्त वायदों को प्रोत्साहित करने वाली विश्वसनीय सन्धि वार्ताएँ आज खुले राजनय से भी बुरी होती थी।"[1]

पुराने राजनय मे व्यावसायिक राजनयज्ञों मे कुछ कार्यात्मक दोष (Functional defects) भी घर कर लेते थे। उनको अपने जीवन काल मे अनेक परिस्थितियों मे मानवीय मूर्खता या अहकार से युक्त कार्य देखने का अवसर प्राप्त होता था। फलत वे गम्भीर भावनाओं को तात्कालिक उद्वेग मानने की गलती कर बैठते थे। वे उन गहन भावनाओं का मूल्य भी कम आँकते थे जो सारे राष्ट्र के पतन का कारण बन जाती थीं। ये इस बात की ओर ध्यान नहीं देते थे कि वैदेशिक सम्बन्धों के तथ्यों की जानकारी केवल कुछ लोगों को ही होती है तथा अन्य लोग अनभिज्ञ रहते हैं और अन्तिम निर्णय इन्हीं का होना है। इन राजनयज्ञों की कुछ गलत धारणाएँ बन जाती थी जैसे—समय के साथ स्वत ही समझौता हो जाता है महत्वहीन बातों की परवाह नहीं करनी चाहिए तथा महत्त्वपूर्ण बाते स्वत ही सुलझ जाती है गलती नहीं की जानी चाहिए और इसलिए यह उपयुक्त है कि कोई कार्य ही न किया जाए। इस प्रकार पुराना राजनयज्ञ एक आत्मतुष्ट व्यक्ति होता था। उसके कार्य अनुभव और चरित्र की कमजोरियाँ अनेक बार राजनयिक असफलता के कारण बन जाती थी।

पुराने राजनय से नवीन मे सक्रमण
(Transaction from Old to the New)

पुराने राजनय का काल कब समाप्त हुआ तथा नया राजनय कब प्रारम्भ हुआ इस सम्बन्ध मे निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं था। इसके अतिरिक्त पुराने तथा नवीन राजनय के सिद्धान्तों और तरीकों मे कोई स्पष्ट एव मान्य भेद नहीं किया जा सकता। पुराने राजनय से नवीन राजनय के बीच के सक्रमण काल की मुख्य बात यह थी कि इस समय सन्धि वार्ता की कला मे बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप सुधार अथवा समायोजन हुआ।[2] राजनय के विकास पर मुख्य रूप से तीन तत्वों ने प्रभाव डाला है—(i) औपनिवेशिक प्रसार की इच्छा (ii) तीव्र व्यापारिक प्रतियोगिता तथा (iii) सचार साधनों की गति मे वृद्धि। इन तीनों तत्वो ने राजनय के रूप को बदलने मे उल्लेखनीय योगदान किया है। सक्रमणकाल मे प्रचलित राजनय के कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित है—

1 तानाशाही राजनय जब यूरोप तथा एशिया के देशो मे निरकुश राजतन्त्र था तो सारा राज्य एव उसके निवासी सम्राट की निजी सम्पत्ति माने जाते थे। शासन के अन्य मामलों की भाँति विदेश नीति एव राजनय पर भी उसी की इच्छा सर्वोपरि रहती थी। फ्रांस के लुई चौदहवे रूस की साम्राज्ञी कैथरीन तथा भारत के मुगल सम्राट् अपने देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वय सचालन करते थे। इन देशो मे आने वाले विदेशी राजदूतों के लिए यह अनिवार्य था कि वे राजा के विश्वासपात्र कृपा भाजन एव स्नेहभाजन बने।

1 "Confidential negotiations that lead to secret pledges are worse even than the televised diplomacy that we enjoy to-day. —*Harold Nicolson*

2 " art of negotiation has gradually adjusted itself to changes in political conditions —*Harold Nicolson*

इसके लिए वे अथक प्रयास करते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने राष्ट्रीय हितों की साधना के लिए कई प्रकार के उचित और अनुचित कार्य भी करते थे जैसे—राजकीय कागजों को चुरा लेना, राजा के निकटस्थ या उच्च अधिकारियों को रिश्वत देना, अपने विरोधी अधिकारियों को हटवा देना या प्रतिकूल राजा को हटाने या हत्या करने के षड्यन्त्र में सहायक बनना तथा अपने अनुकूल व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठाना आदि। इस प्रकार के राजनय को बूडा राजनय (Boudoir Diplomacy) कहा जाता है।

फ्रैंसीसी भाषा के शब्द 'बुडा' का अर्थ सम्भ्रान्त महिला का निजी कमरा होता है। इस प्रकार बूडा राजनय का आशय उस राजनय से है जिसकी सभी चालें सम्राज्ञी के निजी कक्ष में चली जाती थीं। सभी सन्धि वार्ताएँ एवं निर्णय यहीं लिए जाते थे, किन्तु सभी राजदूतों का यहाँ तक पहुँचना सरल नहीं था। शासन के मुगल सम्राट से अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अंग्रेजी सन्देशवाहक अनुनय विनय से काम लेते थे। साथ ही वे मौका देखकर छल, कपट, विश्वासघात, झूठ तथा षड्यन्त्रों का भी खुलकर सहारा लेते थे।

2. संवैधानिक राजनय—सन् 1815 ई. के बाद निरंकुश सम्राटों का प्रभुत्व क्षीण होना प्रारम्भ हो गया। उनके अधिकार संसद एवं कार्यकारिणी को सौंप दिए गए तो मन्त्रिमण्डल के अनुसार इसका प्रयोग करती थी। ये संसदें राजा द्वारा लिए गए निर्णयों को भी अवैध घोषित कर सकती थीं। सन् 1905 में जर्मनी के विलियम द्वितीय तथा रूस के जार ने फिनलैण्ड में एक गुप्त मैत्री सन्धि कर ली। जब वे अपनी राजधानियों को वापस आए तो उनके विदेश मन्त्रियों ने इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया। फलतः दोनों सम्राटों को नीचा देखना पड़ा। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही यह माना जाने लगा था कि किसी एक व्यक्ति के विचार एवं भावनाओं द्वारा उसके देश की विदेश नीति का निर्धारण अनुचित है।[1]

यह सच है कि 1914 तक विश्व के राजाओं की विदेश नीति एवं राजनय पर उनके राजाओं का प्रभाव रहा। इंग्लैण्ड के एडवर्ड सप्तम तथा महारानी विक्टोरिया ने अपने देश की विदेश नीति तथा राजनय पर अपनी छाप लगा रखी थी। इसी प्रकार हेनरी सप्तम भी विदेश नीति और राजनय पर अपना नियन्त्रण रखता था। इन उदाहरणों के होते हुए भी राजनय की मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन शुरू हो गया था। इस पर अब कार्यकारिणी और संसद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

पुराना राजनय उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों, विचारों और आदर्शों से प्रभावित रहता था। जब इन राजनैतिक पद्धतियों में परिवर्तन होने थे तो कुछ समय बाद राजनय का रूप भी बदल जाता था। कारण यह है कि कोई भी राजनय तब तक ही प्रभावशाली रहता है जब तक उसे देश की सम्पूर्ण शक्ति का विश्वास और सहारा प्राप्त होता है। 19वीं और 20वीं शताब्दियों में जब राज्य व्यवस्था तेजी से बदल रही थी तो राजनय में भी परिवर्तन आने लगे।[2]

1. "In the earlier years of nineteenth century it was still considered enticing that the whims emotions or affections of individuals should determine the policy of their countries." —Harold Nicolson

2. "Thus when during the course of the 12th century the old theories of diplomacy appeared to be adopting new shapes, it were in fact not the diplomatists who were undergoing a change of heart but the political systems which they represented." —Harold Nicolson

नवीन राजनय
(The New Diplomacy)

प्रथम विश्वयुद्ध को नवीन राजनय के श्रीगणेश का युग माना जा सकता है। इस नए युग में पुराने राजनय की समस्त विशेषताएँ गौण बन गईं। पुराने राजनय की समाप्ति का मुख्य कारण यह है कि पूर्व और पश्चिम के बीच अन्तर बहुत बढ़ गए हैं। उनकी राजनीतिक मान्यताएँ, आर्थिक विश्वास और जीवन का रहन सहन पूर्णतः भिन्न है।

नए राजनय के दो भाग
(Two Categories of New Diplomacy)

आधुनिक राजनय को विचारकों ने काल की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में *19वीं शताब्दी* तक का राजनय और द्वितीय भाग में *1914* के बाद के राजनय का समावेश किया गया है।

19वीं शताब्दी तक का राजनय 19वीं शताब्दी में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए और इनके साथ ही राजनय के स्वरूप तथा क्षेत्र में भी परिवर्तन होते रहे। इस काल में राजनय का मुख्य केन्द्र यूरोप ही रहा। इस समय विश्व के अधिकांश देश प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर हो रहे थे इसलिए राजनय में भी नई दिशाएँ खोजी जाने लगीं। इस काल के राजनय को जिन तत्त्वों ने *प्रभावित किया वे मुख्यतः निम्नलिखित थे*

1 अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भावना विश्व के राज्यों में सामान्य संकट का मुकाबला करने के लिए एकता की भावनाएँ विकसित होती हैं। पर्शिया के भय ने ग्रीक राज्यों को संगठित किया था। उसी प्रकार फ्रांस के नेपोलियन बोनापार्ट की महत्त्वाकांक्षाओं का मुकाबला करने के लिए यूरोप के अन्य राज्य आपस में संगठित हो गए। बाद में इन राज्यों ने कन्सर्ट ऑफ यूरोप (Concert of Europe) की रचना की। इस संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय *समाज की भावनाओं के विकास में योगदान किया। अब बड़ी शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों* में आत्म गौरव, मानवता तथा पारस्परिक विश्वास जैसे कुछ सामान्य नियमों का सम्मान किया जाने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर यह संविदा समाप्त हो गई। युद्ध समाप्ति के बाद राष्ट्रसंघ तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भावना के प्रतीक थे।

2 जनमत का प्रभाव जनमत की भावना के विकास के साथ साथ जनमत ने देशों की *विदेश नीतियों को प्रभावित करना* प्रारम्भ किया। राजनय पर जनमत का प्रभाव पड़ने लगा। निकल्सन के कथनानुसार, नए तथा पुराने राजनय के संक्रमण काल के बीच जनमत एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है।[1] राजनय पर जनमत के प्रभाव को कैनिंग तथा पामर्सटन ने स्वीकार किया। पामर्सटन का कहना था कि जनमत सेनाओं से भी अधिक शक्तिशाली होता है। यह संगीनों और गोलियों से भी अधिक शक्ति प्रदान कर सकता है। जनमत का प्रभाव बढ़ने का कारण यह तथ्य है कि *राजनयज्ञ जन भावनाओं की उपेक्षा करके सन्धि करते हैं* तो वह सन्धि निरर्थक हो जाती है। उदाहरण के लिए 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में

1 "Public opinion became an ever increasing factor in the transition between the old diplomacy and the new" —*Harold Nicolson*

अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने जो सन्धियाँ की थीं उनको अमेरिकी कांग्रेस ने मान्यता नहीं दी। कारण यह था कि सन्धि करते समय राष्ट्रपति ने जन भावनाओं का समुचित ध्यान नहीं रखा। फल यह हुआ कि राष्ट्रसंघ के जन्मदाता विल्सन का देश राष्ट्रसंघ का सदस्य ही नहीं बना।

3 यातायात के साधनों में सुधार : आधुनिक युग में यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास ने राजनय को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। हैरल्ड निकलसन के कथनानुसार भाप के इंजिन बेतार के तार, वायुयान तथा दूरभाष ने पुराने राजनय के व्यवहार को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। पहले यातायात एवं संचार के आधुनिक साधन न होने के कारण राजनयज्ञों को अपनी बुद्धि के अनुसार ही निर्णय लेने होते थे और प्रत्येक कार्य के लिए वही उत्तरदायी होते थे। वर्तमान परिस्थितियों में वे आवश्यकता के समय अपनी सरकार से शीघ्र सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। आजकल दूतों की योग्यता और कुशलता का पुराने समय जैसा महत्व नहीं है। इसके बावजूद भी राजदूत के अनुभव, स्वभाव, बुद्धिमता, सदाचरण आदि की उपयोगिता है।

बीसवीं शताब्दी का राजनय : अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राज्यों की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण बन गई है। अमेरिका और जापान ने अब अपनी पृथकतावादी नीति त्याग कर विश्व राजनीति में सक्रिय रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया है। राजनय के पुराने रूप में इस परिवर्तन के पाँच कारण हैं—

1 संयुक्तराज्य अमेरिका का विश्व की महाशक्ति के रूप में अभ्युदय हुआ तथा लेटिन अमेरिकी राज्यों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया है। फलतः अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा राजनय का केन्द्र यूरोप से हटकर अन्य महाद्वीपों में बिखर गया है।

2 एशिया तथा अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथा वे भी अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का एक अनिवार्य अंग मानने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जापान के अतिरिक्त किसी एशियाई देश का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नाम नहीं था। विश्व रंगमंच पर न तो उनकी कोई स्थिति थी और न ही उनकी आवाज को कोई महत्व दिया जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन आया तथा राष्ट्रवादी चीन, अफगानिस्तान, ईरान और ईराक आदि एशियाई देश राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया के अनेक देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। ये संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनकी आवाज का महत्व बढ़ गया। प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नाल्ड टायनबी का कथन है कि 1919 से पहले केवल 16 छोटे राज्य गम्भीरतापूर्वक विश्व राजनीति में भाग लेते थे। इनमें से 15 यूरोपीय देश थे। सन् 1919 के बाद यह संख्या बढ़कर 47 हो गई। इनमें से केवल 22 ही यूरोपीय रहे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इस नए वातावरण में एशिया के देश यूरोपीय अथवा अमेरिकी राजनयिक दाँव पेचों के अखाड़े मात्र नहीं रह गए और न अब राजनय पर यूरोप का एकाधिकार ही रहा।

3 नवीन राजनय के उदय का तीसरा कारण पुराने शक्ति सन्तुलन का नष्ट होना था। शक्ति सन्तुलन में परिवर्तन आने के कारण राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन

हुआ। हिटलर तथा उसके सहयोगियों की पराजय के बाद संसार स्पष्ट रूप से दो सैद्धान्तिक गुटों में विभाजित हो गया। पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन का उदय हुआ। इन नए परिवर्तनों से युक्त विश्व के राजनय का स्वरूप बदलना भी स्वाभाविक था।

4. सोवियत रूस में होने वाली महान् क्रान्ति के बाद लेनिन तथा उसके साथियों ने रूसी राज्याभिलेखागारों के गुप्त अभिलेखों को प्रकाशित किया। इस प्रकार गोपनीय सन्धि वार्ता का प्रकाशन करके एक नए राजनय का सूत्रपात किया गया। अनेक देशों ने जारशाही रूस के साथ जो सन्धियाँ की थीं वे उनकी जनता के सामने प्रकट हो गईं। अतः गुप्त सन्धियों के प्रति विभिन्न देशों की सरकारें एवं जनता चौकन्नी रहने लगीं।

5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाले शीतयुद्ध ने संसार को स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित कर दिया। इनमें से प्रत्येक शिविर दो प्रकार के राजनय का प्रयोग करता था—एक शिविर के साथ राज्यों के साथी तथा दूसरे शिविर के साथ विरोधी राज्य। इस परिवर्तित सन्दर्भ में पुराना राजनय समयातीत बन गया। सन् 1991 ई. में सोवियतसंघ के अवसान के साथ ही संयुक्तराज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है और शीतयुद्ध की समाप्ति हो गई। इससे भी राजनय के स्वरूप में परिवर्तन आना अपरिहार्य है।

नवीन राजनय की विशेषताएँ
(Characteristics of New Diplomacy)

श्री के. एम. पनिक्कर ने नए राजनय की पाँच मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) नवीन राजनय के अन्तर्गत एक देश अपनी बात को समझाने के लिए अन्य देश के शासकों से ही नहीं वरन् वहाँ की जनता से भी अपील करता है।

(2) विरोधी राज्य की सरकार को बदनाम करने के लिए उसके लक्ष्यों को तोड़ मरोड़ कर रखा जाता है तथा दोषारोपण किया जाता है।

(3) अपने राज्य की जनता का विरोधी राज्य की जनता से सम्पर्क तोड़ दिया जाता है। केवल अधिकारी स्तर पर ही राजनयिक सम्बन्ध कायम रखे जाते हैं। साम्यवादी चीन तथा तानाशाही पाकिस्तान द्वारा भारत के प्रसंग में इसी प्रकार की नीति अपनाई गई है।

(4) विरोधी राज्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्कों को कम से कम कर दिया जाता है तथा किसी भी समझौते के साथ आक्रमणकारी भाषा में अधिक से अधिक शर्तें लगाई जाती हैं।

(5) प्रत्येक राज्य अपने विरोधी पक्ष को आतंकित करने की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्रों पर बहुत सा धन खर्च करता है तथा हड़तालों, सम्मेलनों और आन्दोलनों का आयोजन करता है।

स्पष्ट है कि आधुनिक राजनय का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती राजनय से पर्याप्त भिन्न है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई पद्धति का विकास हो रहा है।

पुराने और नए राजनय में अन्तर
(Difference Between Old and New Diplomacy)

पुराने और नए राजनय के बीच लक्ष्य एवं प्रक्रिया की दृष्टि से कुछ अग्रलिखित अन्तर हैं—

(1) लक्ष्य की दृष्टि से : पुराने राजनय (1500 से 1914 तक) का मुख्य उद्देश्य मित्र बनाना और दूसरे के मित्रों को तोड़ना था। नए राजनय का लक्ष्य इसके साथ साथ राज्य की प्रादेशिक, राजनैतिक तथा आर्थिक अखण्डता की सुरक्षा करना है। आधुनिक राजनय में यह माना जाता है कि राज्य की सुरक्षा के लिए केवल विदेशी सेनाओं से खतरा नहीं रहता वरन् आर्थिक और राजनैतिक मोर्चों पर भी खतरा हो सकता है। अतः एक राज्य सदैव दूसरे राज्य की राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर नजर रखता है तथा उनको निष्फल बनाने का प्रयास करता है। आजकल राजनय का मुख्य दायित्व देश के व्यापारिक हितों की रक्षा करना है। व्यावसायिक राजनय आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सक्रिय अंग बन गया है। इस आधुनिक राजनय का लक्ष्य राजनैतिक होने के साथ साथ आर्थिक भी है।

(2) सद्व्यवहार की दृष्टि से : पुराने राजनय में पत्र व्यवहार तथा दूसरे विचार विमर्श में सभ्य तथा शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक राज्य अपना दृष्टिकोण तथा लक्ष्य इस प्रकार प्रकट करता था ताकि दूसरे राज्य को बुरा प्रतीत न हो। के एम पनिक्कर के मतानुसार "पुराना राजनय एक मैत्रीपूर्ण उदार तथा शिष्ट कला थी जिसकी रचना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और उसमें पारस्परिक सहिष्णुता बरती जाती थी।" इसके विपरीत नया राजनय अपने विरोध को कटु रूप में प्रदर्शित करता है तथा समय-समय पर अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी करता है। आज शिष्टाचार की भाषा का युग नहीं रहा। विरोधी के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार को सामान्य जनता विश्वासघात समझती है। आज अनौपचारिक मेलजोल का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

(3) क्षेत्र की दृष्टि से : पुराने राजनय का क्षेत्र सीमित था। यह केवल यूरोपीय राज्यों, संयुक्तराज्य अमेरिका व जापान तक ही सीमित था। आज इसका विस्तार विश्व के छोटे से छोटे राज्य तक है। विश्व-राजनीति में लिए जाने वाले निर्णय महाशक्तियों की इच्छा से नहीं, वरन् छोटे राज्यों की इच्छानुसार लिए जाते हैं। इस प्रकार नए राजनय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है।

(4) तरीके की दृष्टि से : पुराने राजनय का व्यवहार रूढ़िवादी और पुराने तरीके से संचालित होता था। अब यह सिद्धान्त और तरीके पुराने और बेकार हो चुके हैं। आज के राजनयज्ञों के सम्पर्कों की नई पद्धतियों का विकास हो गया है।

(5) गोपनीयता की दृष्टि से : पुराने राजनय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते गुप्त हुआ करते थे। प्रशासकों द्वारा गुप्त रूप से पूरे देश को कुछ शर्तों से बँध दिया जाता था। सोवियत संघ में साम्यवाद का उदय होने के बाद गुप्त सन्धियों का युग समाप्त हो गया और इसके स्थान पर खुली सन्धियाँ होने लगीं। संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों ने खुले ढंग से किए गए खुले करारों का समर्थन किया तथा विश्व के राज्यों ने इसे मान्यता दी।

(6) जन सम्पर्क की दृष्टि से : पुराने राजनय में मुख्य कार्यकर्ता राज्यों की सरकारें होती थीं किन्तु नए राजनय में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। जन-सम्पर्क के लिए रेडियो, समाचार पत्र, सांस्कृतिक-संगठन आदि का सहारा लिया जाता है। आजकल प्रेस तथा सूचना विभाग राजदूत के कार्यालय का एक आवश्यक अंग बन गया है। कुछ राजदूतों में सांस्कृतिक सहचारी भी रखे जाते हैं।

(7) व्यक्ति उत्तरदायित्व की दृष्टि से पुराने राजनय में राजदूतों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अधिक होता था। उस समय तक यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हो पाया था अतः वे अपनी सरकार से पथ प्रदर्शन प्राप्त किए बिना ही व्यक्तिगत सूझबूझ तथा योग्यता के आधार पर कार्य करते थे। आजकल यातायात एवं संचार के द्रुतगामी साधनों ने यह सम्भव कर दिया है कि राजदूत किसी भी समय अपनी सरकार का निर्देशन एवं पथ प्रदर्शन प्राप्त कर सके। इसलिये आज के राजनयज्ञ अपने कार्यों के लिए पूर्ववत् व्यक्तिगत उत्तरदायित्व वहन नहीं करते

साँस्कृतिक राजनय
(Cultural Diplomacy)

अति प्राचीन काल से ही विश्व के सभी देश साँस्कृतिक राजनय का सहारा लेते रहे हैं। साँस्कृतिक राजनय एक उच्च कोटि की कला है। सभी देशों की विदेश नीति में साँस्कृतिक सम्बन्धों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय साँस्कृतिक परिषद् जो विदेश मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण के अधीन काम करती है अन्य देशों के साथ भारत के साँस्कृतिक सम्बन्ध विकसित करने के लिये एक प्रमुख एजेन्सी के रूप में कार्य करती है।

अणु युग की राजनीतिक व सैनिक जटिलताओं के काल में साँस्कृतिक राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नये आयाम को जन्म देता है। जो अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध व सहयोग को बढ़ाने में सहायक है। सशक्त और कमजोर तथा अमीर और गरीब सभी राष्ट्रों की अपनी संस्कृति व सभ्यता होती है। कुछ कमजोर और गरीब राष्ट्रों की संस्कृति शक्तिशाली और अमीर राज्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। भारत जैसे राष्ट्र साँस्कृतिक राजनय के क्षेत्र में अन्य राज्यों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद अफ्रीका एशिया और लैटिन अमेरिका के नये विकासशील राज्यों को प्रभावित कर उनकी मित्रता प्राप्ति के प्रयत्न सभी राज्यों द्वारा चल रहे हैं। इन प्रयत्नों का उद्देश्य अन्य लोगों के समक्ष अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना तथा विरोधी की प्रतिष्ठा को गिराना है। इस प्रभाव को बढ़ाने के लिये पुस्तक पुस्तिकाओं का निःशुल्क अथवा कम मूल्य पर वितरण रेडियो टेलीविजन द्वारा अपनी संस्कृति की बातों का प्रसारण पर्यटकों विद्यार्थियों अथवा राज्यों के शिष्टमण्डलों की अदला बदली आदि कार्य किये जाते हैं। विद्वानों वैज्ञानिकों खिलाड़ियों चिकित्सकों ... संगीतज्ञों आदि का आदान प्रदान अपनी संस्कृति के प्रभाव को बढ़ाने के लिए आज सामान्यतः किया जाता है। इस सबके परिणामस्वरूप स्थापित सम्पर्क अन्य देशों के नागरिकों के मन में सम्मान व स्थान बनाने में सफल रहते हैं। रूस व चीन आज अपनी संस्कृति के माध्यम से ही एशिया और अफ्रीका में सम्माननीय स्थान अर्जित किये हुए हैं।[1]

रेडियो मास्को रेडियो पीकिंग बी बी सी वॉयस ऑफ अमेरिका वॉयस ऑफ जर्मनी तथा आल इण्डिया रेडियो आदि के माध्यम से राज्य अपने अपने देश की संस्कृति का खूब खुलकर प्रचार करते हैं। वार्षिक फिल्म समारोह संगीत व नृत्य मण्डलियों का भेजा जाना साँस्कृतिक राजनय का ही एक अंग है। आवागमन पर्यटक व्यापारी व विद्यार्थी भी अपने देश की एक विशेष प्रतिमा स्थापित करने में सहायक होते हैं। ये नवीन दूत का कार्य

1 डॉ एम पी राय वही पृ 210

करते हैं। फ्रांस व अमेरिका के मध्य बढते हुए कटु सम्बन्धों को कम करने के लिए ही डीगाल ने सॉस्कृतिक राजनय का सहारा लिया था। 1963 में राष्ट्रपति कैनेडी व उनके परिवार की इच्छा पर 'मोनालिसा' के चित्र को अमेरिका भेजा गया था। इससे प्रेरित होकर जेम्स रेस्टन ने न्यूयार्क टाइम्स में नवीन राजनय के साधनों पर एक लेख में लिखा था कि "ललित कला आज नवीन राजनय का एक शस्त्र बन गया है।" इस प्रकार सॉस्कृतिक राजनय आज सभी देशों की विदेश नीति का अभिन्न अंग है।[1] 'खिलाडी भी सॉस्कृतिक राजदूत' का कार्य करते हैं, और अपने देश के लिए सद्भावना अर्जित करते हैं।

युद्धपोत राजनय
(Gunboat Diplomacy)

अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति, राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ अथवा अपने प्रभाव व शक्ति की मर्देच्यता को बनाये रखने के लिये जब एक राज्य दूसरे राज्य को प्रभावित करने के सभी प्रयासों में असफल हो जाता है, तो युद्ध का उद्देश्य नहीं होते हुए भी वह अन्तिम साधन के रूप में शक्ति प्रदर्शन का उपयोग करता है, यही युद्धपोत का राजनय है। वार्ता के पीछे सैनिक शक्ति अवश्य रहनी चाहिए, जिससे कि आवश्यकता पडने पर राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ अथवा सक्रिय नीति लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह प्रयोग में लाई जा सके। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में 'शक्ति के आधार पर वार्ता' (Negotiation from *Strength*) करने का प्रयास किया जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विदेश सम्बन्धों के क्षेत्र में राजनयिक सफलता प्रायः सैनिक शक्ति से प्रभावित होती है। एक सामान्य राजदूत भी अपने राज्य की सैनिक शक्ति के कारण बडी सफलतायें प्राप्त करता है। डॉ. हेनरी किसिंजर की अपनी योग्यता होते हुए भी, राजनय में उनकी सफलता का आधार संयुक्त राज्य अमेरिका की सैनिक शक्ति ही थी।

युद्धपोत राजनय के कुछ उदाहरण

(1) सन् 1875 में जब फ्रांस ने अपनी सैनिक शक्ति को पुनर्गठित करने का प्रयास किया तो जर्मनी के बिस्मार्क ने अपने प्रधान सेनापति वोन मोटके के परामर्श पर 'निवारक युद्ध' (*Preventive War*) का वातावरण बनाकर फ्रांस को युद्ध न करने देने में सफलता प्राप्त की।

(2) सन् 1911 के आगादीर संकट के समय युद्धपोत राजनय का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। जर्मनी नहीं चाहता था कि फ्रांस मोरक्को में अपना प्रभाव बढाए। अतः जर्मन सम्राट विलियम कैसर ने अपने नौसैनिक जहाज 'पेन्थर' को आगादीर में लंगर डालने का आदेश दिया ताकि फ्रांस पर सैनिक दबाव डालकर फ्रांसीसी कांगो प्राप्त कर लिया जाये। यद्यपि कैसर को अपने उद्देश्य में पूरी सफलता नहीं मिली, लेकिन इस युद्धपोत राजनय के कारण ही उसे केमरून तथा कांगो को जोडने वाला गलियारा अवश्य मिल गया।

(3) सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना सातवाँ नौसैनिक बेडा तथा उसका एकमात्र परमाणु शक्ति चालित विमान वाहक 'इन्टरप्राइज' बंगाल की खाडी में इसलिये भेजा ताकि भारत को अमेरिकी सैन्य शक्ति से भयभीत कर दिया जाए।

1 डॉ. एन. पी. दत्त पूर्वो. पृ. 211

अमेरिका के इस कार्य के पीछे राष्ट्रपति निक्सन का उद्देश्य भारत में मनोवैज्ञानिक भय पैदा कर, अपनी शक्ति का डर दिखाकर *पाकिस्तान के साथ युद्ध को बन्द करवाना था* क्योंकि उसका मित्र युद्ध में हार रहा था। विख्यात पत्रकार जेक एन्डरसन (Jack Anderson) द्वारा प्रकाशित दस्तावेजों के अध्ययन से पता चलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका एक ओर तो भारतीय नौ सैनिक गतिविधियों की नाकेबन्दी करना चाहता था तथा दूसरी ओर भारत व रूस को यह बता देना चाहता था कि आवश्यकता पड़ने पर अमेरिका अपनी सैनिक शक्ति का भी उपयोग कर सकता है। वाशिंगटन स्थित भारतीय राजदूत लक्ष्मीकान्त झा के कड़े विरोध भारत मे देशव्यापी अमेरिकी विरोधी प्रदर्शनों और रूसी नाविक बेड़े की बगाल की खाड़ी में उपस्थिति के परिणामस्वरूप अमेरिका को अपने नाविक बेड़े को हटाना पड़ा। यह अमेरिका के युद्धपोत राजनय की शर्मनाक पराजय थी।

(4) सन् 1991 ई दे खाड़ी युद्ध मे भी अमेरिकी नौ सैनिक बेड़े की अहम् भूमिका रही।

ये उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि अनेक राज्य युद्ध का उद्देश्य न होते हुए भी दबाव के लिए शक्ति प्रदर्शन का उपयोग करते हैं और इस प्रकार युद्धपोत राजनय का आश्रय लेते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक युद्धपोत राजनय काफी बदनाम हो चुका था और प्रथम महायुद्ध के अन्त तक लुप्तप्राय हो गया था पर द्वितीय महायुद्ध के बाद के युग मे इसका प्रयोग पुन बढ गया है।

राजनय मे नई तकनीके और नए विकास
(New Techniques and Recent Developments in Diplomacy)

राजनय पर एक युग की राजनीतिक समस्याओं मान्यताओं एव अन्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और तदनुसार राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर आ जाता है। आज राजनय पर जनमत का नियन्त्रण है। यह वित्त एव अर्थव्यवस्था से प्रभावित होता है तथा विज्ञान के नए आविष्कारों ने इसकी तकनीकों मे परिवर्तन किए हैं। राजनयिक आधार की दृष्टि से महत्वपूर्ण विकास एव तकनीके निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय सगठन राजनय का व्यवहार पहले व्यक्तिगत स्तर पर होता था किन्तु आज सामूहिक रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय मच पर भी सम्भव है क्योंकि 1920 के बाद स्थापित राष्ट्रसघ सयुक्त राष्ट्रसघ एव राष्ट्रमण्डल जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं ने विश्व के विभिन्न राज्यों को एक जगह बैठकर विचार विमर्श करने का अवसर दिया है।

(2) प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण प्रजातान्त्रिक देशों मे यह माँग की जाती है कि विदेश नीति एव सन्धि वार्ता पर जनता के प्रतिनिधियों का नियन्त्रण रहना चाहिए। राजनयज्ञ विदेश मन्त्री *तथा राजनय के अन्य अभिकर्ता जन प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी बनाए जाएँ* तथा उन्हीं के नियन्त्रण मे रह कर कार्य करे।

(3) वाणिज्य का महत्व आधुनिक राजनय मे वाणिज्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है वैसे व्यापारिक हितों का राजनय पर कुछ प्रभाव तो प्रारम्भ से ही रहा है। साम्राज्यवादी देशों ने व्यापारिक हितों की सिद्धि के लिए ही अपने उपनिवेश बसाये थे। 19वीं शताब्दी के कुछ राज्य वाणिज्य सहचरी (Commercial Attache) नियुक्त करने लगे तथा राजनयिक

सम्पर्कों मे व्यापारिक हितों का भी ध्यान रखा जाने लगा। आजकल वाणिज्य दूतीय सेवा (Consular Service) अधिक सगठित एव विधिवत् रूप से सचालित है। विभिन्न राज्यों द्वारा अन्य राज्यों की राजधानियों तथा प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में अपने वाणिज्य दूत नियुक्त किए जाते हैं। इनका कार्य अपने देश तथा देशवासियों के व्यापारिक हितों की रक्षा तथा अभिवृद्धि करना होता है। पद के अनुसार इन वाणिज्य दूतों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) महावाणिज्य दूत (Consul General)

(ii) वाणिज्य दूत (Consul)

(iii) उपवाणिज्य दूत (Vice Consul)

(iv) वाणिज्य अभिकर्त्ता (Consular Agents)

(4) मुद्रा और वित्त का महत्व : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विस्तृत हो जाने के कारण मुद्रा और वित्त की समस्या प्रमुख बन गई है। इसके सम्बन्ध में विभिन्न देशों ने अपने राजदूतावासों में वित्त सहचारियों (Financial Attache) की नियुक्ति की है। वित्तीय मामलों के विशेषज्ञों को ही इन पदों पर नियुक्त किया जाता है।

(5) समाचार-पत्रों का महत्व : आधुनिक युग के नारद, समाचार-पत्र एक देश की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का दर्पण होते हैं। इसलिए राजदूत को अपने स्वागतकर्त्ता देश के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों का अध्ययन और विवेचन करना चाहिए। प्रकाशन के कार्य में सहायता के लिए राजदूतावास के साथ एक सूचना विभाग की स्थापना और पत्र-सहचारी की नियुक्ति की जाती है। पत्र-सहचारी से यह आशा की जाती है कि वह स्थानीय पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को पढे मनन करे और अनुवाद करे।

(6) प्रचार के अन्य साधनों का महत्व : नए राजनय में प्रचार का महत्व बहुत बढ गया है। प्रचार द्वारा एक देश अपने किसी प्रश्न पर पहले से ही अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार कर लेता है अथवा सन्धि-वार्ता के समय दूसरे पक्ष पर दबाव डालने का प्रयास करता है। विभिन्न राज्यों ने सयुक्त राष्ट्रसघ को अपने प्रचार का माध्यम बनाया है। आजकल महासभा और सुरक्षा परिषद् की बैठकों में दिए गए भाषणों का उद्देश्य शान्ति की स्थापना न होकर अपना प्रचार तथा विरोधी पक्ष की आलोचना करना होता है।

रेडियो और टेलीविजन द्वारा प्रभावशाली प्रचार किया जाता है।

आधुनिक राजनय में प्रचार का एक नया तरीका यह अपनाया जाता है कि सरकार स्वय ही अपने कार्यों की आलोचना और टीका टिप्पणियाँ समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराती है ताकि उस सम्बन्ध में जनता के रुख का अध्ययन कर सके। इस तरीके को राजनयिक पतगबाजी कहा जाता है।

(7) अटकलबाजियाँ : नए राजनय में अटकलबाजियों का भी महत्व है। साधारणत. अटकलबाजी समाचार-पत्रों के माध्यम से की जाती है, परन्तु इसका उद्देश्य दूसरे के मत को प्रभावित करना न होकर परखना होता है। यदि जनमत उस बात को स्वीकार न करे तो विदेश मन्त्री या राजदूत सारी जिम्मेदारी से बचते हुए यह घोषणा कर देते हैं कि उन्हें इस विषय में कुछ पता नहीं है। यदि लोग इन अकालों की सराहना करें तो विदेश मन्त्री आगे बढकर उस दिशा में कदम उठा सकता है।

राजनय पर प्रभाव डालने वाले कुछ नए विकास
(New Developments Responsible for Changing Role of Diplomacy)

आज राजनय द्वारा विश्व राजनीति में उस कार्य का सम्पादन नहीं किया जा रहा है जो विश्व युद्धों के पूर्व होता था। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनय अपना महत्व खो चुका है। इसके कार्य अब जितने कम रह गए हैं उतने राज्य व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।" राजनय का महत्व घटाने के लिए उन्होंने पाँच कारणों को उत्तरदायी ठहराया है। ये निम्न प्रकार हैं—

1. संचार साधनों का विकास (Development of Communications)
2. राजनय का अवमूल्यन (Depreciation of Diplomacy)
3. संसदात्मक प्रक्रिया द्वारा राजनय (Diplomacy by Parliamentary Procedure)
4. सर्वोच्च शक्तियाँ राजनय में नवागन्तुक (The Super Powers Newcomers in Diplomacy)
5. वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप (Nature of Contemporary World Politics)

उपर्युक्त कारणों से राजनय का व्यवहार कठिन और दुरूह बन गया है।

एक ओर तो विभिन्न कारणों के फलस्वरूप राजनय का व्यवहार आज के युग में दुरूह बन गया है और दूसरी ओर उसकी आवश्यकता जितनी आज के अणुयुग में है उतनी शायद ही किसी युग में रही होगी। विश्व में शक्ति के लिए सदैव संघर्ष होता रहता है इस संघर्ष को सीमित एवं सन्तुलित बनाकर राजनय विश्व में शान्ति स्थापना का एक प्रमुख साधन बनाता है। राजनय के अभाव का अर्थ होगा युद्ध और युद्ध का अर्थ होगा प्रलय तथा मानव-सभ्यता और संस्कृति का विनाश। इस खतरे को टालने के लिए उन तत्वों की खोज करना आवश्यक है जो वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में भी राजनय को सम्भव बना सके। राजनय को पुनः स्थापित करने के लिए पहले तो उन सभी तत्वों को मिटाना होगा जो कि पुराने राजनय के ह्रास के कारण माने जाते हैं। हेरोल्ड निकोल्सन (Harold Nicolson) के मतानुसार तीन ऐसे विकास हैं जिन्होंने राजनय के सिद्धान्त एवं व्यवहार को प्रभावित किया है—

1. राष्ट्रीय समुदाय के प्रति बढ़ती हुई चेतना (Growing Sense of the Community of Nations)
2. लोकमत का बढ़ता हुआ महत्व (Increasing appreciation of the Importance of Public Opinion)
3. संचार साधनों का द्रुत विकास (Rapid Increase in Communications)

मॉर्गेन्थो के मतानुसार आज की परिस्थितियों में एक देश को राजनय के सफल कार्यान्वयन के लिए नौ नियमों का पालन करना चाहिए। इनमें चार मौलिक नियम निम्न प्रकार हैं—

1. राजनय को आन्दोलनकारी विचारधारा से पृथक रखा जाए। इस नियम का उल्लंघन करने पर युद्ध का खतरा बढ़ जाता है।

2 *विदेश-नीति को राष्ट्रीय हित के शब्दों में परिभाषित किया जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय शक्ति द्वारा उसे समाप्त किया जाना चाहिए।*

3 राजनय के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक घटना-चक्र को दूसरे देशों के दृष्टिकोण से देखा जाए।

4 एक राष्ट्र को उन सभी विषयों पर समझौता करने को तैयार रहना चाहिए जो *उसके लिए अधिक महत्व के नहीं हैं।*

समझौतों के सफल होने के लिए पाँच अन्य नियमों का पालन करना चाहिए जो इस प्रकार हैं—

1 समझौता करते समय कानून की तरफ ध्यान न देकर जनता के हितों का ही ध्यान रखना चाहिए।

■ ऐसी स्थिति में कभी मत रहो जहाँ पीछे हटने के लिए तुम्हें अपमानित होना पड़े तथा आगे बढ़ने के लिए गम्भीर सकट का सामना करना पड़े।

3 कमजोर मित्र राष्ट्र को अपने लिए निर्णायक बनने का अवसर न दो।

4 सशस्त्र सेना विदेश-नीति का साधन होती है, उसका स्वामी नहीं। एक विदेश-नीति जो सैनिकों द्वारा सैनिक कला के नियमों के अनुसार सचालित होती है हमेशा युद्ध का ही कारण बनती है क्योंकि जैसा बीज बोया जाता है वैसे ही फल भी चखने को मिलते हैं।

5 *सरकार जनमत का नेतृत्व करती है न कि गुलामी का। लोकमत के पीछे भागने* वाले राजनय में सफल नहीं हो पाते क्योंकि लोकमत विवेकपूर्ण की अपेक्षा भावनात्मक अधिक होता है।

5

राजनय का दंगल : असंलग्नता का राजनय, सहायता का राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय, राष्ट्रमण्डलीय राजनय

(The Arena of Diplomacy of Non-alignment, Diplomacy of Aid, Diplomacy at the International Organisations, Commonwealth Diplomacy)

राजनय का रूप देश की स्थिति दृष्टिकोण लक्ष्य एव विश्व राजनीति में सक्रियता के अनुसार निर्धारित होता है। असलग्नता की नीति अपनाने वाले राज्य का राजनय विश्व की सभी महाशक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयास करता है जबकि सैनिक गठबन्धन में बँधा हुआ राज्य केवल अपने पक्ष के राज्यों के साथ ही निकट सहयोग स्थापित कर पाता है। महाशक्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के लिए अथवा विरोधी के प्रसार पर रोक लगाने के लिए जरूरतमद राज्य को सहायता देने की नीति अपनायी जाती है। आज वे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन सयुक्त राष्ट्रसघ में सभी राज्य जिस प्रकार राजनयिक आचरण करते हैं वह व्यक्तिगत राजनय से कुछ भिन्न है। राष्ट्रमण्डलीय देशों के राजनयिक सम्बन्धों में व्यापारिक हितों की रक्षा एक मुख्य लक्ष्य होता है। इन सभी को हम राजनय के विशिष्ट रूप कह सकते हैं तथा इस अध्याय मे क्रमश इनका विवेचन किया जाएगा। ये हैं—

(1) असलग्नता का राजनय
(2) सहायता का राजनय
(3) अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का राजनय
(4) राष्ट्रीयमण्डलीय राजनय

असलग्नता का राजनय
(Diplomacy of Non alignment)

असलग्नता की नीति द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का विकास है। पश्चिमी गुट तथा साम्यवादी गुट के बीच शीतयुद्ध छिड़ने की स्थिति में कुछ राज्यों ने किसी भी गुट से सलग्न न रहने का निर्णय लिया तथा भारत के नेतृत्व मे गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी। किसी राज्य के साथ सैनिक गठबन्धन में न बँधकर असलग्न राज्य दोनों ही गुटों से अपना सहयोग

बनाए रखना चाहते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर बिना किसी पूर्वाग्रह के औचित्य एवं राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से विचार प्रकट करते हैं।[1]

असलग्नता एक सक्रिय तटस्थता है। यह उस निष्क्रिय तटस्था से भिन्न है जिसे अपनाने वाला राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के समय किसी भी पक्ष के साथ नहीं मिलता तथा अपनी ही सीमाओं में सिमट कर रह जाता है। वह चाहता है कि न तो स्वयं आग को बुझाए और न आग ही उसे प्रभावित करे। इसके विपरीत असलग्न राज्य वे हैं जो पहले से ही किसी पक्ष के साथ नहीं बँधते (Uncommitted) वरन् अन्तर्राष्ट्रीय समस्या उत्पन्न होने पर न्याय का पक्ष लेने की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हैं। सक्रिय तटस्थता या असलग्नता की नीति का अनुसरण भारत एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों द्वारा किया जा रहा है। प्रारम्भ में इस नीति को साम्यवादी और पूँजीवादी दोनों ही गुटों ने गलत बताया था। स्टालिन का कहना था कि "जो हमारा मित्र नहीं है वह दुश्मन है।" ऐसा ही मत संयुक्तराज्य का था। अमेरिकी विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस ने यह मत प्रकट किया कि तटस्थता अनैतिक है।[2] बाद के अनुभव से दोनों गुटों को सही स्थिति का ज्ञान हो गया। यहाँ हम असलग्न राजनय का विवेचन भारत के सन्दर्भ में करेंगे।

असंलग्न राजनय का औचित्य
(Justification of Non-aligned Diplomacy)

भारत ने असलग्न राजनय का अनुशीलन निम्नलिखित कारणों से किया है—

1. भारत विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। यदि वह किसी गुट में शामिल होता है तो अकारण ही विश्व में तनाव की स्थिति को बढ़ावा मिलेगा।

2. गुट निरपेक्ष रहकर ही भारत युद्ध को टालने में अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकता है। किसी गुट में शामिल होने के बाद उसका यह प्रभाव समाप्त हो जाएगा।

3. असलग्न राजनय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारों की स्वतन्त्रता का द्योतक है। प नेहरू के शब्दों में "किसी भी गुट में शामिल हो जाना अपनी राय को बलिदान करने के समान है।"

4 भारतीय राजनय पर यहाँ की भौगोलिक, ऐतिहासिक, परम्परागत एवं संस्कार विषयक परिस्थितियों का प्रभाव है। अपनी संस्कृति एवं अतीत की परम्पराओं के कारण यह दूसरे के दृष्टिकोण को समझना, निष्पक्ष विचार और साहस, आत्मसम्मान, निर्भीकता एवं सहिष्णुता आदि गुणों से प्रेरित है। असलग्न राजनय इसी का प्रतिफल है।

5 असलग्न राजनय भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुकूल है। भारत को अपने आर्थिक विकास की योजनाओं को सफल बनाने के लिए विदेशी सहयोग की आवश्यकता है। यह सहयोग असलग्नता की नीति अपनाने पर पर्याप्त और सरलता से मिल सकता है। इसके लिए किसी एक देश या गुट पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता नहीं है जिसके कारण आत्म-सम्मान को भी धक्का लगता है।

1 "A wise neutral goes with neither, but uses both, as his honest interest leads him."
—William Penn

2 Thomas A. Bailey The Art of Diplomacy

6 भौगोलिक स्थिति के कारण भी भारत इस नीति को अपनाने के लिए प्रेरित हुआ है। यह यदि पश्चिमी गुट के साथ सन्धियाँ करना चाहे तो रूस तथा चीन की भौगोलिक निकटता के कारण ऐसा नहीं कर सकता और साम्यवादी देशों के साथ उसकी सैनिक सन्धियाँ इसलिए नहीं हो सकती थी क्योंकि धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार वह हिंसात्मक एवं दमनकारी नीतियों का विरोधी रहा है।

अरातग्न राजनय की उपयोगिता
(Utility of Non aligned Diplomacy)

ऊपर वर्णित असलग्न राजनय का औचित्य उसकी उपयोगिता का भी परिचायक है। इस राजनय का अनुशीलन कर एक राज्य न केवल अपने राष्ट्रीय हित की सिद्धि करता है वरन् विश्व शान्ति में भी योगदान करता है। इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1 असलग्न राजनय ने दोनों विरोधी किन्तु शक्तिशाली गुटों को निकट लाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका यह मानता था कि जो साम्यवाद का विरोध करने में उसका साथ नहीं देता वह उसका शत्रु है। किन्तु शीघ्र ही उसे यह ज्ञात हो गया कि अधिक मित्र बनाने पर अधिक जटिलताएँ उपस्थित हो जाती हैं। किसी विवादग्रस्त क्षेत्र या राज्य को यदि तटस्थ बना दिया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पर्याप्त घट जाता है। ऐसे क्षेत्र जहाँ किसी के मित्र नहीं होते वहाँ किसी के शत्रु भी नहीं होते। शीतयुद्ध को समाप्त करने में असलग्नता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

2 गुटनिरपेक्षता की नीति एक व्यावहारिक विकल्प है। इसे त्यागने का अर्थ है किसी सैनिक गठबन्धन में शामिल होना। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उचित यही है कि किसी गुट के साथ न बँधा जाए और तटस्थ रहकर अवसर के अनुकूल आचरण किया जाए।

3 असलग्न राजनय के दोहरे लाभ हैं। एक ओर तो युद्धप्रवृत्त राज्यों द्वारा तटस्थ राज्यों के अधिकारों का सम्मान किया जाता है और दूसरी ओर तटस्थ राज्यों का यह दायित्व हो जाता है कि वह युद्धप्रवृत्त राज्यों के प्रति तटस्थ नीति अपनाए।

4 असलग्न राजनय प्रायः कमजोर राज्यों के लिए श्रेष्ठ माना जाता है। इन राज्यों की शक्ति एवं साधन स्रोत इतने नहीं होते कि किसी पक्ष के साथ संघर्ष में उलझ सकें। स्पेन, स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड दोनों महायुद्धों के समय तटस्थ रहे। इनकी दूरदर्शिता, कुशल राजनीति, भौगोलिक स्थिति तथा सौभाग्य के कारण महायुद्धों की लपटें इनको नहीं छू सकीं। इनको दोनों पक्षों का सहयोग तथा सहायता प्राप्त होती रही तथा मित्र बने बिना ही इनको मित्र राज्यों के लाभ प्राप्त हो गए।

असलग्न राजनय की समस्याएँ
(Problems of Non aligned Diplomacy)

असलग्न राजनय की कुछ समस्याएँ भी हैं जिनका निराकरण करना अति आवश्यक है। कभी कभी तो इनके कारण एक राज्य असलग्न राजनय को छोड़ने का निर्णय ले भी लेता है। समस्याएँ अग्रलिखित हैं—

1 असलग्न राजनय दोनों पक्षों की मित्रता प्राप्त करने के प्रयास में दोनों की ही मित्रता से वंचित हो जाता है। दोनों पक्ष असलग्न राज्य को विरोधी का प्रच्छन्न सहयोगी मानने लगते हैं। यही कारण है कि वे आवश्यकता के समय उसकी सहायता करने में सकोच करते हैं।

2. असलग्न राजनय को प्राय अनैतिक माना जाता है क्योंकि ऐसे राज्य की कोई निश्चित विचारधारा नहीं होती उसके निश्चित मित्र और शत्रु नहीं होते। वह अवसरवादी बन जाता है तथा अतीत के सम्बन्धों को भुला देता है।

3 युद्धकाल में यदि ऐसा राज्य तटस्थ बना रहे तो इसमें आततायी को सहायता मिलेगी, उसका पक्ष दृढ होगा। जब असलग्न राज्य दोनों पक्षों मे ही एक जैसा सम्बन्ध रखना चाहते हैं तो वे प्राय एक पक्ष की कीमत पर दूसरे पक्षों को अनजाने में सहायता पहुँचाते हैं।

4 असलग्न राजनय की एक अन्य समस्या यह [redacted] कि विचारों में तटस्थता रखना असम्भव है। आज के प्रजातान्त्रिक राज्यों को विश्व की गतिविधियों से उदासीन नहीं रखा जा सकता। सन् 1939 में हिटलर का आक्रमण प्रारम्भ होने पर अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने कहा था कि "यह राष्ट्र तटस्थ भी तथ्यों को ध्यान में रखता है। तटस्थ को अपना मस्तिष्क और चेतना बन्द करने के लिए कहा जा सकता है।"[1]

5 असलग्न राज्य आवश्यकता के समय युद्ध के लिए तैयार नहीं हो पाता। वहाँ की जनता के मानस में यह बात पक्के रूप में जम जाती है कि उन्हें शान्ति की नीति अपनानी है युद्ध में नहीं पडना है तथा किसी भी सन्धि सगठन के साथ मिलना राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति में समस्या तब उत्पन्न होती है जब ऐसा राज्य स्वय सशस्त्र आक्रमण में फँस जाए।

6 सन् 1991 में सोवियत सघ के विघटन के बाद शीतयुद्ध समाप्त हो गया, और सयुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है। अत असलग्न राजनय की प्रासगिकता के आगे भी प्रश्न सूचक चिन्ह लग गया है।

सहायता का राजनय
(Diplomacy of Aid)

काफी लम्बे समय से राज्य आर्थिक साधनों को, राजनीति के एक अग के रूप में अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग कर रहे हैं। राजनय के आर्थिक साधनों का उपयोग कोई नई बात नहीं है। फ्रॉस तथा रूस के मध्य सन्धि को सम्भव करने के लिए फ्रॉस सरकार ने रूस को बैंकों से रुपया उधार दिलवाया था। इसी प्रकार फ्रॉस सरकार ने 'लिटिल एन्तान' देशों में भी आर्थिक सहायता दी थी, जिसका उद्देश्य 'एन्तान' देशों पर फ्रॉसीसी प्रभाव बढाना था। किसी भी राष्ट्र के उद्देश्यों में राष्ट्रीय आर्थिक विकास को अधिकाधिक महत्व दिया जाता है अत किसी भी देश की विदेश नीति सशक्त आर्थिक चेष्टाओं से निर्धारित होती है। यूजीन ब्लैक ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक विकास का राजनय' (The Diplomacy of Economic Development) में बताया है कि आर्थिक राजनय दिन पर दिन महत्वपूर्ण

1 The Public Papers and Addresses of Franklin D Roosevelt, 1939 p. 463

बनता जा रहा है। यह निर्विवाद है कि किसी भी देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उसकी अपनी आवश्यकताओं से प्रभावित रहते हैं। इस प्रकार बड़े स्तर पर राज्यों को सहायता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अभिन्न अग बना हुआ है। यही कारण है कि आज आर्थिक तथा व्यापारिक राजनय पर अधिकाधिक जोर दिया जाता है।[1]

जब एक राज्य अपने मित्र बनाने के लिए अथवा शत्रुओं के प्रसार को रोकने के लिए दूसरे राज्यों को धन, अन्न मशीन शस्त्र आदि की सहायता देता है तो इसे सहायता के राजनय की सज्ञा दी जाती है। सहायता के राजनय अथवा आर्थिक राजनय का वास्तविक प्रथम प्रयोग, द्वितीय महायुद्ध के कारण यूरोप में जो विनाश हुआ उसको दूर करने के लिए आरम्भ हुआ था और कुछ ही वर्षों में यह शीतयुद्ध का अग बन गया। सहायता के राजनय का अथवा आर्थिक राजनय का प्रयोग सयुक्त राज्य अमेरिका ने इतने बड़े पैमाने पर इतने विविध रूप में और इतने सशक्त रूप में किया है कि उसके विरुद्ध 'डालर साम्राज्यवाद' ('Dollar Imperialism') और 'डॉलर राजनय' ('Dollar Diplomacy') का आरोप लगाया जाता है। 'डॉलर राजनय' ('Dollar Diplomacy') शब्द का प्रारम्भ राष्ट्रपति टैफ्टि के काल (1909-1913) में हुआ था।[2]

सरकारी लोकोपकारी कार्यों का प्रारम्भ प्राय अपने ही देश में होता है परन्तु बाह्य देशों में परोपकार, राजनय का एक स्वरूप है। द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ यह कि यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण विकास और एकीकरण करने के लिए पश्चिमी शक्तियों द्वारा जो प्रस्ताव किए गए उन्हें विभिन्न कारणों से सोवियत रूस तथा उसके साथी राष्ट्रों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। फलस्वरूप ऐसा कोई सामान्य कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया जा सका। जिसके द्वारा यूरोप के सभी राष्ट्रों का आर्थिक विकास हो सके। अत दोनों ही पक्ष अपने-अपने गुट के देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अलग अलग योजनाएँ बनाने लगे। परिणामस्वरूप यूरोपीय महाद्वीप विभाजित हो गया तथा क्षेत्रीय आधार पर क्षतिपूर्ति के प्रयास किए गए। सयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के विरुद्ध ऐसे सगठनों को आत्मरक्षा के लिए बड़ा उपयोगी समझता था। अत 1951 के पारस्परिक सुरक्षा कानून (The Mutual Security Act) में यूरोप का आर्थिक और राजनीतिक सघ बनाने के लिए अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई।

सर्वप्रथम 1947 में मार्शल योजना (Marshall Plan) के सामने आई। इस योजना का उद्देश्य युद्ध-ध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार कर उसको साम्यवाद से बचाना था। पश्चिमी देशों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों-इग्लैण्ड फ्राँस आस्ट्रेलिया बेल्जियम डेनमार्क ग्रीस आयरलैण्ड इटली नार्वे लक्जमबर्ग स्वीडन स्विट्जरलैण्ड पुर्तगाल नीदरलैण्ड और टर्की के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Cooperation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया। यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने सयुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट अर्पित की। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—"मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका

1 2. डॉ एम पी राय वही पृ 214

उन 16 राज्यों को, जो हमारी ही तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ़ संकल्प हैं, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्व-शान्ति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करें।" मार्शल योजना को जो अधिकृत रूप से 'यूरोपीय रिलीफ प्रोग्राम' (European Relief Programme) के नाम से प्रसिद्ध हुई, काँग्रेस ने स्वीकृत कर दिया। 3 अप्रेल 1948 को काँग्रेस ने 'विदेशी सहायता अधिनियम' पारित कर मार्शल योजना को मूर्त रूप प्रदान किया और इसको क्रियान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organisation for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई। मार्शल योजना सम्भवतः कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक दिलचस्प और युग-प्रवर्तक घटनाओं में से एक थी, जिससे सोवियत रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1952) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के कारण एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोपीय देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई थी कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन करेंगे। मार्शल योजना एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी जिसने ट्रूमैन सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोध की नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—(i) जहाँ ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता की व्यवस्था की गई। (ii) मार्शल योजना ने 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्व को भली प्रकार स्पष्ट कर दिया। (iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकी आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

पश्चिमी यूरोप में मार्शल योजना के द्वारा बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव को देखते हुए रूस भी पूर्वी यूरोप के लिए 'मोलोटोव योजना' बनाने के लिए मजबूर हुआ और 1949 में मास्को में 'पारस्परिक आर्थिक सहायता-परिषद्' की स्थापना की गई। उस समय निश्चय ही सोवियत रूस अपने पिछलग्गू राष्ट्रों को कुछ मदद तो नहीं दे सका, लेकिन वह जो शोषण कर रहा था उसमें कुछ कमी जरूर हुई। पुरानी अव्यवस्थित अर्थव्यवस्था के स्थान पर पूर्वी यूरोप के राज्यों में एक अर्द्ध-राजकीय नियोजन किया गया, लेकिन इससे पश्चिमी यूरोप के आर्थिक सहयोग का मुकाबला नहीं हो सका।

पश्चिमी यूरोप के अपेक्षाकृत सीमित दायरे में सोवियत रूस द्वारा अवरोधक-कार्यवाहियों के बावजूद मार्शल योजना को विशेष सफलता प्राप्त हुई। इस योजना के कारण पश्चिमी यूरोप में आर्थिक पुनर्निर्माण के नये युग का सूत्रपात हुआ, और राष्ट्रों में आपसी सहयोग और एकता की भावना का उदय हुआ। दूसरी तरफ पूर्वी यूरोप और पश्चिमी यूरोप के बीच विरोध की खाई बढ़ती गई। यूरोप की एकता के पुराने आदर्श का स्थान एक नई वास्तविकता ले रही थी—उत्तरी अटलान्टिक समुदाय की वास्तविकता।

ट्रूमैन सरकार ने चार-सूत्री कार्यक्रम (Four Point Programme) के माध्यम से भी 'सहायता के राजनय' को आगे बढ़ाया। चीन में साम्यवाद की विजय से अमेरिका को यह आभास हो गया कि विश्व के अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रभाव के उर्वर क्षेत्र सिद्ध हो

सकते हैं। अत ऐसे प्रदेशों में साम्यवाद के अवरोध लिए 20 जनवरी 1949 को ट्रूमैन ने 'चार सूत्री कार्यक्रम (Programme) की घोषणा की—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन

(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य चालू रखना

(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना एवं

(iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक सहायता देना।

अमेरिकी काँग्रेस ने 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिंस के शब्दों में "यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थीं तथा इसके द्वारा अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की साधना होती थी।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने सहायता के राजनय द्वारा द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद, साम्यवाद के प्रसार को रोकने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद के काल में यदि कई राज्य साम्यवादी नहीं बने तो इसका श्रेय अमेरिकी सहायता को था। विदेश सचिव डलेस ने एक बार कहा था कि यदि हम यह सहायता नहीं देते तो निश्चित ही हम चारों ओर से साम्यवादियों से घिर जाते और हमें जीवित रहने के लिए भी प्रयास करने पड़ते।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सहायता के राजनय ने इस प्रकार अपने पैर जमा लिए। इसमें साम्यवादी राज्यों ने अपने प्रसार के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न राज्यों की सरकारों अथवा विद्रोहियों को सहायता दी। इसी प्रकार पूँजीवादी राज्यों ने अपने आदर्शों की रक्षा के लिए तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए राज्यों को सहायता प्रदान की। दोनों गुटों के विदेश सहायता कार्यक्रम प्रतिस्पर्धा के साथ संचालित किए जाने लगे। यह ठीक ही कहा गया है कि 'सहायता का राजनय' लोगों के उदर के माध्यम से उनके मस्तिष्क पर अधिकार करने का प्रयास है। यह सजग स्वार्थ (Enlightened Self interest) का श्रेष्ठ उदाहरण है। सहायता देने वाले राज्य अपने राष्ट्रीय हित की सिद्धि के लिए ऐसा करते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी ने 1963 में काँग्रेस के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "यह बात पूर्णत संदेहरहित है कि हमारे सहायता कार्यक्रम हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुकूल हैं तथा हमारे राष्ट्रीय हित की पूर्ति करते हैं।"[1]

भारत जैसे अर्द्धविकसित अथवा विकासशील देश विदेशी पूँजी अथवा विदेशी सहायता के माध्यम से अपने आर्थिक विकास को तीव्र करने का प्रयत्न करते हैं लेकिन इस स्रोत पर अधिक निर्भरता के आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही खतरे हैं। विदेशी पूँजी देश में राजनीतिक हस्तक्षेप को साथ लाती है। भारी मात्रा में आर्थिक सहायता देने वाला देश 'आर्थिक प्रभुत्व' के साथ साथ 'राजनीतिक प्रभुत्व' को भी बढ़ाने का प्रयत्न करता है। विदेशी सहायता के कारण कण्ड की योजना नीति प्रभावित होती है। उसे विदेशी दबाव

1 Public Papers of the President of the United States—John F Kennedy, 1963 (1964) p 25

के कारण संशोधित करना पड़ता है। विदेशी सहायता देश की सुरक्षा के लिए संकट पैदा कर सकती है। जब संकटकाल में अचानक विदेशी सहायता बन्द कर दी जाती है और विदेशी पूँजी वापस लौटने लगती है तो देश की सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है। विदेशी पूँजी के अत्यधिक आयात से देश के आर्थिक दिवालियेपन का खतरा पैदा हो जाता है क्योंकि ब्याज और लाभ के भुगतान के रूप में भारी मात्रा में राशि विदेशों को चली जाती है। इससे देश में आवश्यक पूँजी-निर्माण सम्भव नहीं हो पाता और आर्थिक विकास की योजनाएँ ठप्प होने लगती हैं। भारी मात्रा में विदेशी मशीनों और उपकरणों को निरन्तर काम में लेने से इनके सम्बन्ध में देश की निर्भरता बढ़ जाती है। यद्यपि भारत मशीनरी के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ रहा है, तथापि आधारभूत उद्योगों के लिए आवश्यक स्टील और भारी मशीनों की खातिर विदेशों पर उसकी निर्भरता काफी बढ़ी हुई है। यह स्थिति देश के लिए गम्भीर चुनौती है। विदेशी पूँजी के साथ-साथ जो विदेशी लोग देश में घुस जाते हैं उनके कारण गोपनीयता कायम नहीं रह पाती। कभी कभी अवांछित विदेशी तत्व देश के हितों को बड़ा नुकसान पहुँचा देते हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश का शोषण करने लगती हैं।

कई अर्थों में खाद्यान्नों की सहायता विदेशी सहायता का सबसे प्रमुख व महत्त्वपूर्ण अस्त्र बन गया है। यह जनता के स्तर पर प्रचार का एक अच्छा माध्यम है क्योंकि यह 'जन-जन का राजनय' (People to Diplomacy) है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1954 में 'शान्ति के लिए खाद्यान्न योजना' (Food for Peace Programme) आरम्भ किया था। अकाल पीड़ित देशों को खाद्यान्न उनकी अपनी स्थानीय मुद्रा में बेचे अथवा दान में दिये जाते थे। प्रायः राज्य राजनीतिक उद्देश्य प्राप्ति के लिए खाद्यान्न देते हैं।

विदेशी सहायता के लक्ष्य
(The Objects of Foreign Aid)

एक राज्य द्वारा विदेशी सहायता के राजनय का अनुशीलन कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्दर्भ में ये लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

1. **राष्ट्रीय हित की पूर्ति :** संयुक्त राज्य द्वारा अन्य राज्यों को इसलिए सहायता दी जाती है ताकि वहाँ संयुक्त राज्य के आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य हित सुरक्षित रहें। जिस राज्य में करोड़ों डॉलर व्यय किए जाते हैं उससे यह आशा करना स्वाभाविक है कि विश्व-राजनीति में वह सहयोगपूर्ण नीति अपनाएगा। संयुक्तराज्य यह चाहता है कि उसकी सहायता प्राप्त करने वाला राज्य उसके शत्रु पक्ष को किसी प्रकार प्रोत्साहन न दे।

2. **साम्यवादी प्रसार रोकना :** साम्यवादी प्रसार के लिए अनुकूल भूमि गरीबी, अशिक्षा, असन्तोष तथा पिछड़ापन है। जो राज्य न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए संघर्ष कर रहा है वह साम्यवाद की ओर सुगमता से झुक जाता है अतः संयुक्तराज्य द्वारा इन कारणों से पीड़ित राज्यों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए सहायता दी जाती रही। इससे साम्यवाद का प्रसार होने से रुका और उसके विरुद्ध पश्चिमी राज्यों की मोर्चाबन्दी दृढ़ हुई। यदि सहायता न दी जाए तो संयुक्त राज्य को भय था कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन विश्व के सभी देशों पर छा जाएगा और अमेरिका को अपने विरोधियों से घिर जाने का

अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। सन् 1991 में सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था के पतन ने इस भय को समाप्त कर दिया।

3 अर्थव्यवस्था के सन्तुलन के लिए - संयुक्तराज्य अमेरिका ने औद्योगिक प्रगति द्वारा अपना पर्याप्त उत्पादन बढ़ा लिया है। इस समस्त उत्पादन की खपत देश में नहीं हो पाती अतः विदेशी बाजारों की खोज की जाती है। वह जरूरतमंद देशों को इस शर्त पर सहायता देता है कि वे अमेरिकी माल की ही खरीददारी करें ताकि संयुक्तराज्य की अर्थव्यवस्था सन्तुलित बनी रहे।

4. अन्य राज्यों की मित्रता प्राप्त करने के लिए - अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहयोग मैत्री और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण अनिवार्य है। यह मित्रता आवश्यकता के समय सहायता देने पर ही प्राप्त की जा सकती है तथा एक सन्तुष्ट राज्य ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखता है। अतः विदेशों को सहायता देकर संयुक्तराज्य अमेरिका विश्व में अपने पक्ष को सबल करने में प्रयत्नशील रहता है। उसे इस साधन से शीतयुद्ध के समय अनेक मित्र बनाने में काफी सहायता मिली है।

5 देश-रक्षा के लिए अनिवार्य वैदेशिक सहायता का राजनय संयुक्तराज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा की दृष्टि से भी उपयोगी था। सोवियत संघ के अस्तित्व के समय उसका विरोधी पक्ष पर्याप्त सशक्त था। उससे लड़ने अथवा बचाव के लिए एक कुशल राजनीति की आवश्यकता रही। संयुक्तराज्य को अपने बचाव के लिए किलेबन्दियाँ करनी पड़ीं। विदेशों को सहायता प्रदान करके एक राज्य की मित्रता जीत लेना संयुक्तराज्य की आत्मरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। सोवियतसंघ के पतन के बाद यह संकट समाप्त हो गया।

6. व्यय अधिक नहीं है : विदेश सहायता के राजनय का समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका को साम्यवादी आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए वैदेशिक सहायता की नीति अपनानी पड़ेगी। इस कार्यक्रम पर होने वाला व्यय इसकी उपयोगिता को देखते हुए अधिक नहीं था। 1963 में विदेश सहायता के लिए अतिरिक्त 600 मिलियन डॉलर की माँग करते हुए राष्ट्रपति केनेडी ने काँग्रेस में कहा था कि "विश्व के विकासशील देशों को शक्तिशाली एवं स्वतंत्र बनाने के लिए यह मात्रा उतनी भी नहीं है जितना कि यह देश लिपस्टिक, क्रीम आदि चीजों पर प्रतिवर्ष व्यय करता है।" राष्ट्रपति केनेडी के समय काँग्रेस द्वारा प्रतिरक्षा के लिए लगभग 50 मिलियन डॉलर प्रतिवर्ष स्वीकार किए जाते थे। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध साम्यवाद की रोकथाम से था। कुल भाग का केवल दसवाँ हिस्सा ही जरूरतमंद राज्यों की सहायता के लिए खर्च किया जाता था।

विदेशी सहायता का रूप (The Form of Foreign Aid)

संयुक्तराज्य द्वारा विदेशों को दी जाने वाली सहायता का रूप सम्बन्धित देश की आवश्यकता पर निर्भर करता है। प्रायः जिस प्रकार की सहायता संयुक्तराज्य देता है वह निम्नलिखित में से किसी एक रूप में या एक से अधिक रूपों में होती है—

(1) किसी राज्य को नकद मुद्रा के रूप में ऋण देना ताकि वह अपनी इच्छानुसार अमेरिकी उत्पादनों का क्रय कर सके।

(2) किसी राज्य की जनता के भरण-पोषण के लिए खाद्यान्न भेजना।

(3) साम्यवाद का मुकाबला करने के लिए एक राज्य को आवश्यक शस्त्रों से सुसज्जित करना।

(4) किसी राज्य को समर्थ और स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए वहाँ के औद्योगिक विकास में सहयोग देना तथा इस हेतु आवश्यक तकनीकी ज्ञान एवं मशीनें उपलब्ध कराना।

(5) यदि किसी राज्य में घरेलू उत्पादन की व्यवस्था न हो सके तो वहाँ निर्मित माल भेजना।

ये विदेशी सहायता के मुख्य रूप हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा संस्कृति एवं मनोरंजन आदि क्षेत्रों में भी सहायता दी जाती है।

विदेशी सहायता की समस्याएँ (The Problems of Foreign Aid)

संयुक्त राज्य द्वारा दी जाने वाली विदेशी सहायता का एक दूसरा पहलू भी है। आलोचकों द्वारा इसकी मात्रा औचित्य एवं अन्य प्रकार की आलोचनाएँ एवं समस्याएँ मुख्यत निम्नलिखित हैं—

1 आलोचकों का कहना [redacted] कि विदेश सहायता के रूप में अब तक काफी धन दिया जा चुका है किन्तु यह मुख्य रूप से अविचारपूर्ण योगदान ही माना जा सकता है। इस सहायता का अधिकाँश भाग अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करता और इसलिए राष्ट्रीय हित में नहीं है।

2 आलोचकों के मतानुसार विदेशी सहायता के रूप में दी जाने वाली राशि बहुत अधिक है। रॉबर्ट मर्फी के कथनानुसार अमेरिका जब एक बार नीति निर्धारित कर लेता है तो फिर उस पर आने वाली लागत की ओर नहीं देखता। सन् 1948 में यूगोस्लाविया तथा स्टालिन के बीच मतभेद बढ गए तो संयुक्त राज्य ने यूगोस्लाविया को सहायता देने की नीति अपनाई। उसने इतनी सहायता दी कि उसके उद्देश्यों तथा नीयत को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा।

3 आलोचकों के अनुसार विदेश सहायता का रूप गलत है। उसका लगभग एक तिहाई भाग शस्त्रों एवं लोहा इस्पात आदि के रूप में दिया जाता है ताकि साम्यवाद से लड़ा जा सके किन्तु ये हथियार अनेक अवसरों पर साम्यवादियों के हाथों में पहुँच जाते हैं। कभी कभी ये हथियार सीधे तानाशाहों को भेजे जाते हैं जो इनका प्रयोग अपनी शक्ति बढाने के लिए करते हैं। ये तानाशाह शासक अपनी जनता का दमन करने में इस सहायता का उपयोग करते रहे।

4 अमेरिकी प्रसंग में विदेश सहायता की एक अन्य आलोचना यह है कि यह गलत देशों को दी जाती है। पोलैण्ड तथा यूगोस्लाविया को पर्याप्त सहायता दी गई है जो पहले से ही साम्यवादी शासन के अधीन थे। जिन राज्यों ने पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने की शपथ ले रखी हो उन शत्रुओं के हाथ में बन्दूक सौंपने की सार्थकता पर सन्देह किया जाता है।

5 विदेश सहायता के राजनय के विरुद्ध यह कहा जाता है कि विदेशों की मित्रता खरीदी नहीं जा सकती। सन् 1945 के बाद संयुक्तराज्य ने फ्राँस को भारी सहायता दी किन्तु जनरल दगाल के नेतृत्व में फ्राँस ने संयुक्तराज्य को जानबूझ कर आघात पहुँचाया।

मिस्र के राष्ट्रपति नासिर तथा इंडोनेशिया के सुकर्ण ने भारी मात्रा में अमेरिकी सहायता ग्रहण की किन्तु अमेरिका विरोधी नीतियाँ अपनाईं और खुलकर विरोधी प्रचार किया।

6 विदेश सहायता के रूप में दिए जाने वाले हथियारों के प्रयोग पर संयुक्तराज्य नियन्त्रण नहीं रख सकता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसने सोवियत आक्रमण से रक्षा के लिए फ्रांस को भारी मात्रा में हथियार दिए। इन हथियारों का प्रयोग फ्रांसीसी सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरियाई विद्रोहों को दबाने के लिए किया। इसी प्रकार संयुक्तराज्य ने पाकिस्तान को हथियार दिए ताकि वह साम्यवादी के सम्भावित आक्रमण का विरोध कर सके किन्तु उसने इन हथियारों का प्रयोग भारत पर आक्रमण करने और सीमा पर तनाव रखने में किया है।

7 संयुक्तराज्य अमेरिका खाड़ी के देशों को इसलिए सहायता देता है ताकि इस क्षेत्र के तैल भण्डारों पर उसका नियन्त्रण रहे। सन् 1991 का खाड़ी युद्ध इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर लड़ा गया।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का राजनय
(Diplomacy of the International Organisations)

वर्तमान विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और सम्मेलनों में राजनय का महत्व बढ़ गया है। संचार साधनों के विकास, औद्योगिक क्रान्ति, व्यापारिक एवं वित्तीय सम्बन्धों के प्रसार, शान्ति की आवश्यकता और सम्पूर्ण युद्ध के खतरे के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ कई अधिक बढ़ गई हैं। इनके समाधान के लिए 19वीं शताब्दी के परम्परागत तरीके असामयिक बन गए हैं। इनको यद्यपि सीमित रूप में अपनाया जा सकता है। किन्तु ये उलझन तथा विलम्ब करने वाले हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रचलन हुआ ताकि आपसी झगड़ों पर विचार विमर्श एवं समझौता वार्ता का प्रस्ताव पारित किया जा सके। इस प्रणाली में प्रस्तावों को क्रियान्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। यह कार्य व्यक्तिगत राज्यों को ही करना पड़ता था अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता अनुभव की गई। इसके माध्यम से राज्यों के आपसी सम्बन्धों की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के रूप
(Two Forms of International Organisations)

मोटे रूप से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—सामान्य तथा विशेषकृत। सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वे होते हैं जो विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास करते हैं तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रोत्साहित करके उन्हें सुदृढ़ करते हैं। अनेक स्वप्नदृष्टाओं, आदर्शवादियों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा इनका समर्थन किया जाता है। इन संगठनों की योजनाएँ प्राचीनकाल से ही प्रस्तुत की जा रही हैं किन्तु इसे व्यावहारिक रूप आधुनिक राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के विकास के बाद ही दिया जा सका। ये सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (The General Organisations) राष्ट्रसंघ अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय हो सकते हैं अथवा अमेरिकी राज्यों के संगठन या यूरोप की परिषद् की भाँति क्षेत्रीय भी हो सकते हैं। इनका सम्बन्ध शान्ति एवं सुरक्षा की सामान्य समस्याओं से

रहता है। ये मित्रतापूर्ण तरीकों से राजनीतिक विवादों को दूर करने के साथ-साथ अनेक आर्थिक, कानूनी, सामाजिक और मानवीय समस्याओं का समाधान भी करते हैं।

राज्यों के गैर-राजनीतिक अथवा तकनीकी प्रकृति के आपसी सम्बन्धों का विवेचन करने के लिए विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की स्थापना की जाती है। इन संगठनों की गणना अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Unions) के रूप में की जाती है तथा इनको संगठन संघ ब्यूरो संस्था समाज परिषद् बोर्ड कमीशन समिति समुदाय आदि नामों से जाना जाता है। आज ये सभी विशेषीकृत अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहे जाते हैं।

राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
(National Sovereignty and International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के मार्ग में सर्वाधिक उल्लेखनीय बाधा सम्प्रभुता की अवधारणा है। सिद्धान्त रूप में इसे पूर्ण माना जाता है किन्तु व्यवहार में इस पर अनेक सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध होते हैं। जब राज्य अपनी ओर से किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण की स्थापना करते हैं तथा उसे निर्देशन, प्रबन्ध या नियमन की शक्तियाँ देते हैं तो वे उस सीमा तक अपनी सरकार की कार्य करने की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। इस प्रकार सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन परस्पर विरोधी बन गए हैं। प्रारम्भ में जिन कार्यों को विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय शक्ति के अन्तर्गत माना जाता था, वे आज अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के दायित्व बन गए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इतिहास
(History of International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इतिहास राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद से प्रारम्भ हुआ है। इसे काल क्रमानुसार निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व : 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के चार तत्वों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, प्रशासन और न्यायपालिका का विकास हो रहा था। व्यवस्थापन का कार्य प्रारम्भिक स्तर पर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रारम्भ हुआ। कार्यपालिका सम्बन्धी उत्तरदायित्व का श्रीगणेश 1815 की वियना काँग्रेस में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक संगठन द्वारा कुछ अधिक सफलताएँ प्राप्त की गईं। नेपोलियन काल के अन्त में विभिन्न प्रशासनिक अभिकरणों ने मुख्यतः यातायात के विषय में कार्य किया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक व्यापार के आधुनिक साधनों ने विश्व को नजदीक लाने का कार्य किया। फलतः अतिरिक्त प्रशासनिक अंगों का गठन किया गया। इस काल के कुछ उल्लेखनीय संगठनों ने सहकारी सेवा के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया।[1] उपलब्ध साँख्यिकी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1804 से 1864 तक केवल सात अन्तर्राष्ट्रीय संघों की स्थापना हुई किन्तु आगामी 25 वर्षों में अनेक संघ गठित किए गए।

1 कुछ उल्लेखनीय संघ ये हैं (1) International Bureau of Weights and Measures (1875), (2) International Union for the Protection of Industrial Property (1883) (3) The International Bureau for the Publication of Customs Tariffs (1890) इत्यादि।

1890 से प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक 23 संघ और स्थापित हुए तथा इस प्रकार कुल योग लगभग 50 हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक संस्थाओं का विकास 19वीं शताब्दी में सबसे बाद में हुआ। प्रारम्भ में राज्यों के आपसी विवादों को समझौता वार्ता या पंच फैसले द्वारा सुलझाने का रिवाज था और इस हेतु सिद्धान्तों/प्रक्रियाओं तथा यन्त्रों का विकास किया गया था। 19वीं शताब्दी में पंच निर्णय के आधार पर लगभग 300 सन्धियाँ की गईं। इन सभी में किसी न किसी प्रकार के पंच निर्णय का उल्लेख था। सन् 1899 में प्रथम हेग शान्ति सम्मेलन बुलाया गया। इसमें न्यायाधिकरण के स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई जिसे हेग न्यायाधिकरण के रूप में जाना जाता है। द्वितीय हेग सम्मेलन (1907) में इस न्यायाधिकरण की संरचना पर विचार किया गया तथा इसे राज्यों के विवादों को सुनने और निर्णय देने की शक्ति प्राप्त हो गई। राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद भी यह न्यायाधिकरण कार्य करता रहा। सन् 1907 में पाँच अमेरिकी राज्यों ने न्याय के केन्द्रीय न्यायालय के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की स्थापना की। यह 1914 में समाप्त हो गया क्योंकि संयुक्त राज्य ने इसके निर्णय को अमान्य कर दिया।

2 राष्ट्रसंघ (The League of Nations) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व में शान्ति स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता गम्भीर रूप से अनुभव की जाने लगी। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण युद्ध के समय भी कायम थे किन्तु उन्हें अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनाने का विचार किया गया। युद्ध के बाद पैरिस के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ की आधारशिला रखी गई। राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में एक परिषद् तथा एक सभा के लिए व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय और सचिवालय का प्रावधान भी था। संघ ने दो विश्वयुद्धों के बीच अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया किन्तु यह इसके निर्माताओं की महत्वाकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका।

राष्ट्रसंघ का महत्वपूर्ण योगदान न्याय और प्रशासन के क्षेत्र में रहा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इसका महत्वपूर्ण अंग है। इसे विश्व का प्रथम स्थायी न्यायालय माना जा सकता है। इसके संविधान पर 59 राज्यों ने हस्ताक्षर किए और अन्य 51 राज्यों ने इसे स्वीकार किया। 1922 से 1940 तक इसके 49 अधिवेशन हुए जिनमें इसने 60 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की सुनवाई की। अपने कार्यकाल में इसने 32 निर्णय 137 आदेश और 27 परामर्श दिए। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का यह विवरण न्यायालय को अद्वितीय स्थान प्रदान करता है।

प्रशासन के क्षेत्र में भी राष्ट्रसंघ की प्राप्तियाँ उल्लेखनीय थीं। एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में इसका सचिवालय सार्वभौम वस्तुगत और राष्ट्रीय स्वार्थों से अछूती संस्था बन गया। इसके कर्मचारी कार्य के आधार पर 11 से लेकर 15 अनुभागों में संगठित किए गए।

3 महायुद्धों के बीच सन्धि वार्ता और पंच निर्णय दो महायुद्धों के बीच राष्ट्रसंघ के शान्ति प्रयासों के अतिरिक्त पंच निर्णय और सन्धि वार्ता के लिए पृथक् संगठनों का भी सहयोग लिया गया। युद्ध से भयभीत संसार के विवादों के शान्ति पूर्ण समाधान हेतु विभिन्न सन्धियाँ की गईं। सन् 1922 में राष्ट्रसंघ की सभा द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए लगभग 200 सन्धियाँ की गईं। इनमें लोकार्नो सन्धि जैसी महत्वपूर्ण सन्धियाँ भी थीं। 1933 में 20 अमेरिकी राज्यों ने एक युद्ध विरोधी सन्धि की। 1928 में अमेरिकी विदेश सचिव केलॉग ने पुरानी सन्धियों के स्थान पर 27 पंच निर्णय सन्धियाँ कीं। ये मुख्य रूप से यूरोप और अमरीका के राज्यों के साथ की गई थीं।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था — राष्ट्रसंघ द्वितीय विश्वयुद्ध को रोकने में असफल रहा। इसकी आन्तरिक कमजोरियों तथा अन्य कारणों ने द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ किया। अब राजनीतिज्ञ भावी आक्रमणों को रोकने के लिए एक अधिक समर्थ तथा दोषहीन संगठन बनाने की योजना तैयार करने लगे। सन् 1944 के डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन में चार बड़े राज्यों ने सर्वसम्मति से जो निर्णय लिए उनके आधार पर संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर तैयार किया गया। याल्टा सम्मेलन में इसमें कुछ संशोधन किए गए तथा सन् 1945 के सान्फ्रांसिस्को सम्मेलन ने इसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन के राजनीतिक तथा गैर राजनीतिक दोनों ही प्रकार के अंग हैं। इसके राजनीतिक अंग महासभा और सुरक्षा परिषद् हैं। महासभा का कार्य विभिन्न अध्ययनों की पहल तथा सिफारिशें करना है। सदस्यों द्वारा विधिवत् रूप से स्वीकृत इसके प्रस्तावों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था माना जा सकता है। यह सुरक्षा सम्बन्धी विषयों पर विचार नहीं करती। यह कार्य सुरक्षा परिषद् द्वारा सम्पन्न किया जाता है। सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना है। संघ के मुख्य लक्ष्य की पूर्ति करने के कारण यह संघ का महत्वपूर्ण अंग बन गई है। इसको आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रस्ताव पारित करने तथा प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति प्राप्त है किन्तु इसे सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिका नहीं माना जा सकता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक अंगों में न्यास परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय हैं। गैर राजनीतिक प्रकृति के कार्य सम्पन्न करने के लिए विभिन्न विशेषीकृत अभिकरणों का भी गठन किया गया है। ये अभिकरण आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् से सम्बद्ध रहकर कार्य करते हैं। इनकी संख्या कई दर्जन है। इनमें से कुछ नवनिर्मित हैं—जैसे, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि, तथा कुछ पहले से ही कार्य कर रहे हैं—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि। संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice) संगठन और कार्यों में राष्ट्रसंघ के न्यायालय से थोड़ा भिन्न रहता है। इसका सामान्य क्षेत्राधिकार सीमित है तथा अनिवार्य क्षेत्राधिकार ऐच्छिक बना दिया गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सचिवालय को कई कार्यात्मक विभागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक विभाग अपने कार्यक्षेत्र का विशेषज्ञ होता है। यह महासचिव के अधीन संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य प्रशासनिक अभिकरण के रूप में कार्य करता है। महासचिव महासभा के सम्मुख संगठन के कार्यों का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी है। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए उत्पन्न खतरों को सुरक्षा परिषद् को सौंप देता है। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव बुतरस बुतरस घाली हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की सरचना एव कार्य सचालन
(Structure and Operation of International Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की सरचना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की अपेक्षा अधिक औपचारिक होती है। ये निरन्तर कार्यरत रहते हैं इसलिए इनके ढाँचे एव प्रक्रिया को सस्थागत रूप दे दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों में एक सरकारी यन्त्र रहता है, इसलिए इसकी रचना कानून पर आधारित होती है जिसमें इसकी शक्तियाँ आन्तरिक ढाँचा तथा बाहरी सम्बन्ध आदि का उल्लेख रहता है। इन कानूनों को अभिसमय (Conventions), समझौता (Agreements) घोषणापत्र (Covenant), अधिकारपत्र (Charter), सविधान (Consutution) आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनमें आवश्यकतानुसार सशोधन एव परिवर्तन होते रहते हैं।

सामान्य कार्य (General Functions) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के सामान्य कार्य उन शक्तियों एव उत्तरदायित्वों पर निर्भर हैं जो विभिन्न राज्यों द्वारा सौंपे जाते हैं। इन कार्यों का सम्बन्ध राज्यों के समस्त पारस्परिक सम्बन्धों से रहता है। इनके क्षेत्र में शान्ति स्थापना सुरक्षा एव आपसी विवादों के निपटारे सम्बन्धी मामले सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त ये अनेक आर्थिक सामाजिक तथा अन्य विषयों से भी सम्बन्ध रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने कृषि, व्यापार वित्त शिक्षा, विज्ञान सस्कृति, कानून न्याय समाज-व्यवस्था, स्वास्थ्य यातायात, सचार आदि विषयों में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

सामान्य सरचना (General Structure) राज्यों के आपसी सम्बन्धों का सचालन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें निरन्तर कार्य करने वाला एक स्थायी यन्त्र होता है। इसकी सरचना का रूप इसके लक्ष्य क्षेत्राधिकार तथा भाग लेने वाले राज्यों की सख्या पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के तीन भाग होते हैं—(i) सगठन की नीति निर्धारित करने के लिए एक सभा होती है जिसे विधायी शाखा कहा जा सकता है। इसमें विभिन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद होता है और सगठन के सिद्धान्तों एव विनियमों की व्यापक रूपरेखा तैयार की जाती है। यह कार्य महासभा सभा सम्मेलन आदि द्वारा किया जा सकता है। इसकी बैठकें सामयिक रूप से अथवा आवश्यकतानुसार होती रहती हैं। (ii) प्रशासनिक शाखा द्वारा सगठन की निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित किया जाता है। यह प्राय एक स्थायी निकाय होता है। इस शाखा को ब्यूरो समिति अथवा सचिवालय आदि नामों से जाना जाता है। यह शाखा सगठन के लिए सामान्य लिपिक सम्बन्धी या प्रशासकीय कार्य सम्पन्न करती है। यह सम्बन्धित प्रकाशनों को प्रसारित करती है कार्यवाही की सूची बनाती है तथा आय-व्यय के बजट का प्रारूप तैयार करती है। (iii) मध्यवर्ती अग—कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों में कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका शाखाओं के बीच एक मध्यवर्ती अग होता है जो नियमानुसार स्थायी प्रकृति का होता है।

सामान्यत उक्त तरीके से ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों को गठित किया जाता है किन्तु कुछ अभिकरणों की सरचना भिन्न प्रकार की भी हो सकती है। उदाहरणस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय

बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष निगम प्रकृति के होते हैं तथा इनको व्यावसायिक उद्योगों के रूप में संगठित किया जाता है।

सदस्यता (Membership) : अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता इस बात पर निर्भर होती है कि वह संगठन सरकारी है अर्द्ध सरकारी है अथवा गैर-सरकारी है। साधारणतः राज्यों को ही सरकारी अभिकरण में भाग लेने के योग्य माना जाता है किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि अभिकरणों में सहयोगी सदस्य भी शामिल किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन में केवल राज्यों के ही सदस्य होते हैं किन्तु वे सरकार प्रबन्ध और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रत्येक प्रतिनिधि को पृथक मतदान का अधिकार होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता के मुख्यतः दो रूप हैं—(i) सार्वभौमिक सदस्यता, और (ii) प्रतिबन्धित सदस्यता। अनेक संगठनों की सदस्यता सार्वभौमिक होती है, जैसे—संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके अभिकरण। इसकी मौलिक सदस्य संख्या 51 थी जो बाद में बढ़कर 1992 तक 166 हो गई। इसके विपरीत, संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुछ संगठनों में कार्यात्मक अथवा भौगोलिक दृष्टि से सदस्यता मर्यादित होती है, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय साँख्यिकीय संस्थान में 225 सदस्य होते हैं जो अधिकतर कनाडा, संयुक्तराज्य अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के राज्यों से लिए जाते हैं। क्षेत्रीय अभिकरणों को भौगोलिक परिधि में रखा जाता है, यथा एशियाई अफ्रीकी तथा यूरोपीय मामलों के सम्बन्ध में पृथक् अभिकरण होते हैं।

प्रतिनिधित्व एवं मतदान (Representation and Voting) : अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में सम्प्रभुता को स्वीकार करने के कारण दो सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है—प्रतिनिधि की समानता और मतदान प्रक्रिया में सर्वसम्मति। कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी स्वतन्त्रता को इतना सीमित नहीं करना चाहता कि किसी निर्णय को अस्वीकृत करके भी उसके पालन के लिए बाध्य हो।

राष्ट्रसंघ में सिद्धान्ततः समानता और सर्वसम्मति को मान्यता दी गई तथा व्यवहार में समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर द्विसदनीय व्यवस्था की गई। राष्ट्रसंघ की सभा में भी सभी छोटे-बड़े राज्यों को एक जैसा प्रतिनिधित्व दिया गया और सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों का प्रतिनिधित्व कायम रहा। इस प्रकार महाशक्तियों को संघ के एक अंग पर प्रभुत्व रखने का अवसर दिया गया और दूसरे अंग में छोटी शक्तियों को समानता प्रदान की गई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की रचना में राष्ट्रसंघ के अनुभव का लाभ उठाया गया। महासभा में इसके प्रतिनिधित्व और मतदान की समानता रखी गई है। सुरक्षा परिषद् में पाँच महाशक्तियों को स्थाई सदस्यता और निषेधाधिकार प्रदान किया गया है। इसमें मतदान प्रक्रिया उदार बना दी गई है। महासभा में सर्वसम्मति के स्थान पर बहुमत का नियम स्वीकार किया गया है। सुरक्षा परिषद् में सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर स्थाई सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक मानी गई है।

अमेरिकी राज्यों के संगठन (O.A.S.) में सदस्यता अमेरिकी महाद्वीप के राज्यों के लिए है। इसमें सदस्यों की समानता एवं बहुमत के नियम को अपनाया गया है। सन् 1948

में जब अमेरिकी राज्यों के संगठन का चार्टर बनाया गया तो पूर्ण समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। चार्टर में भी मतदान की समानता का उल्लेख कर दिया गया है।

प्रशासनिक अभिकरणों के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। अनेक अभिकरणों में प्रतिनिधित्व की समानता है और प्रत्येक सदस्य राज्य का केवल एक प्रतिनिधि शामिल किया जाता है। अन्य अभिकरणों में प्रतिनिधियों की संख्या तो दो या तीन तक है किन्तु मतदान का अधिकार एक ही है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन में प्रत्येक राज्य अपने चार प्रतिनिधि भेज सकता है और प्रत्येक सदस्य मत देने का अधिकारी होता है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रीय समानता का निर्वाह किया गया है।

स्थाई मुख्य कार्यालय (Permanent Head-quarter) : द्वितीय विश्वयुद्ध तक संयुक्त राज्य अमेरिका विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का मुख्य कार्यालय था। आजकल अधिकांश स्वतन्त्र अभिकरणों ने अपने केन्द्र प्रायः तटस्थ राज्यों में स्थापित कर लिए हैं। ऐसे केन्द्र स्विट्जरलैण्ड, बैल्जियम हालैण्ड तथा स्वीडन में स्थित हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण एवं न्यायालय हेग में स्थापित किए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का कार्यालय जिनेवा में है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह स्थान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की क्रियाओं का मुख्य केन्द्र बन गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में राजनयज्ञ के कार्य
(Diplomat's Role in the United Nations Organisation)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद राजनय की प्रणाली और तकनीकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर इस विश्व संस्था का प्रभाव है तथा प्रत्येक छोटे या बड़े राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में इस संस्था के सदस्य प्रश्न पूछ सकते हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य इसमें अपना प्रतिनिधि-मण्डल भेजता है। इन प्रतिनिधियों का यह कर्त्तव्य है कि वे केवल अपने राष्ट्र हित की दृष्टि से ही न सोचें वरन् विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से विचार करें। परम्परागत राजनय के अनुसार एक राज्य केवल उन्हीं विषयों से सम्बन्ध रखता था जो उसके राष्ट्रीय हित को प्रभावित करते थे किन्तु अब इस विश्व-संगठन के मंच पर राज्य ऐसे विषयों पर भी बहस करता है जिनका उसके राष्ट्रीय हित से प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं होता। आज एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के राज्य विश्व-शान्ति से सम्बन्धित प्रश्नों को पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक राजनयज्ञ को केवल महाशक्तियों के विचारों को ही प्रभावित करने की चिन्ता नहीं रहती वरन् छोटे राज्यों का भी ध्यान रखना होता है क्योंकि ये राज्य शक्ति-सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वतन्त्र हुए विकासशील राज्य बड़े राज्यों से अच्छे सम्बन्ध बनाने के लिए सभी राजनयिक उपायों का उपयोग करते हैं। वे अपने विकास कार्यों के लिए अन्य राज्यों से पर्याप्त सहायता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। आज के राजनयज्ञ की मुख्य समस्या केवल युद्धों को रोकना नहीं है वरन् अन्य राज्यों के साथ मधुर सम्बन्धों की स्थापना भी है ताकि विश्व में सुव्यवस्था की स्थापना द्वारा स्वयं लाभान्वित हो तथा औरों की सहायता कर सकें। आज का राजनयज्ञ अपने राज्य की सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। जब वह संयुक्त राष्ट्रसंघ में कोई वायदा करता है तो उसके राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि वह उसे पूरा करे। यदि वह ऐसा नहीं करता

दो पक्ष में एक राज्य के पक्ष, उद्देश्य तथा उसकी स्थिति को जानती है। इस प्रकार राजनय का मुख्य उद्देश्य विदेशों में अपने हितों की रक्षा करना मात्र नहीं है वरन् विश्व-परिवार में ऐसे सम्बन्धों की स्थापना करना है जिससे दूसरे राज्य उसके व्यक्तित्व का सम्मान कर सकें। आज राजनय के वे परम्परागत तरीके अप्रचलित बन चुके हैं जिनका प्रतिपादन मेक्यावेली, रिशलू, टैलीरेन्ड तथा मेटरनिख आदि ने किया था। वर्तमान में किसी भी राज्य का उद्देश्य विश्व जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। इस कार्य के लिए दैनिक सम्बन्धों का व्यापक प्रशिक्षण अनिवार्य है। राजनय को दूसरे राज्यों के तरीके, दृष्टिकोण और सम्बन्ध का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए। आज के राजनयज्ञ को विश्व-जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए प्रचार-साधनों का सहारा लेना होता है। आधुनिक राजनय प्रजातन्त्रात्मक है तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ के सदस्य ने उसे सार्वजनिक रूप प्रदान कर दिया है। यहाँ विश्व के राजनयज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचार करते हैं, विरोध अथवा समर्थन प्रस्तुत करते हैं, अपने मत के पक्ष में तर्कों का प्रयोग करते हैं तथा बहुमत के आधार पर महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते हैं।

महासभा में सहमिलन एवं समूह राजनय
(Diplomacy of Coalitions and Groups in General Assembly)

महासभा एक संसदीय निकाय की भाँति है क्योंकि यहाँ एक अविकसित दलीय-व्यवस्था (Embryonic Party-system) पनपती रहती है। जिस प्रकार कभी राजनीतिक दलों को दैनिक स्वार्थता के दमन का साधन समझा जाता था, वही तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ में राज्यों के विभिन्न समूहों की गतिविधियों को कभी-कभी इस आधार पर कोसा जाता है कि वे कुछ स्वार्थपूर्ण वर्गीय हितसाधन (Selfish Sectional Interest) के लिए नैतिक सिद्धान्तों का बलिदान कर देते हैं।[1] फिर भी इस प्रकार का आरोप अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अविकसित दलीय व्यवस्था के सम्बन्ध में शिकायतें कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। न केवल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बल्कि राष्ट्रीय राज्यों की व्यवस्थापिकाओं में भी इस प्रकार की गतिविधियाँ सामान्य हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्य-राज्य निरन्तर एक-दूसरे से मिलते रहते हैं। उनमें सम्पर्कों और प्रश्नों पर निरन्तर सलाह-मशविरा होता रहता है। कभी पहले सुनिश्चित समय पर योजनानुसार परामर्श किया जाता है तो कभी अनौपचारिक रूप से परामर्श की यह प्रक्रिया चलती रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार का सलाह-मशविरा केवल विश्व-राजनीति की महत्त्वपूर्ण समस्याओं से ही प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हो। प्रक्रियात्मक समस्याओं और अन्य बातों पर भी बात-चीत चलती रहती है। वास्तव में यह एक सामान्य कूटनीतिक प्रयत्न होता है कि परम्परागत विचार-विमर्श द्वारा एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न किया जाए, अपने पक्ष में मित्रों और अन्य सदस्यों को प्रभावित किया जाए तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जाए।

महासभा में राज्यों के समूह (Groups), सहमिलन या गठबन्धन (Coalitions), गुट (Bloc) आदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। आलोचकों के अनुसार सहमिलन, समूहों और गुटों की गतिविधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचने की सम्भावना घट जाती है। महासभा की राजनीतिक प्रकृति के कारण ही ऐसा होता है।

1. Sydney D. Bailey: The General Assembly of the United Nations, p. 21.

महासभा और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों के विभिन्न चुनावों के सम्बन्ध में राज्यों के समूह और सहमिलन या गुट बड़ी सरगर्मी दिखाते हैं। अधिकांश महासभायी चुनाव प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। चूंकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक संघ में महासभा के सभी सदस्यों का प्रवेश सम्भव नहीं हो सकता अतः सीमित सदस्यता के निकाय या समूह इस तरह स्थापित कर दिए जाते हैं कि उनसे अपने अपने सम्पूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में विभिन्न प्रकार के सहयोग समूहों और संगठनों का विकास होता है। इनमें तदर्थ सहमिलन (The Adhoc Coalition) होता है जिसका कम या अधिक समय के लिए समस्या विशेष पर विचार विमर्श के लिए निर्माण होता है और जब वह समस्या समाप्त हो जाती है अथवा उसका स्वरूप बदल जाता है तो वह तदर्थ सहमिलन (Adhoc Coalition) समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, स्पेनिश भाषा भाषी प्रतिनिधि अनेक बार इस दृष्टि से परस्पर संयुक्त हुए हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही में स्पेनिश भाषा के प्रयोग के दावे पर आवाज बुलन्द कर सकें। इसी प्रकार कोरिया युद्ध के समय उन 16 राज्यों ने कोरियाई प्रश्नों पर एक दूसरे के साथ सहयोग किया जिन्होंने कोरिया में संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैनिक कार्यवाही में भाग लिया था।

महासभा मे राज्यों के दूसरे प्रकार के संगठन या गठबन्धन (Coalition) का उदय तब होता है जब कुछ राज्य नियमित या अनियमित रूप से काकस (Caucus) में मिलते हैं ताकि वे सामान्य हित के मामलों पर आपस में विचार विमर्श कर सकें बिना इस बात पर वचनबद्ध हुए कि वे एक होकर कार्य करेंगे। लैटिन अमेरिकी राज्य अफ्रो एशियायी समूह जिसमें अरब और अफ्रीकी उप समूह भी शामिल हैं तथा राष्ट्र मण्डल इसी प्रकार के संघ या समूह माने जाते हैं। इन समूहों के अपने कुछ सामान्य संगठनात्मक लक्षण हैं। ये महासभा के अधिवेशन में प्रायः कुछ सप्ताहों में एक बार मिलते हैं तथा वर्ष के शेष भाग में और भी कम एकत्र होते हैं। इन समूहों की अध्यक्षता बारी बारी से होती है। ये किसी भी सदस्य द्वारा उठाये गए किसी भी मामले पर विचार विमर्श करते हैं तथा मतदान की कोई प्रक्रिया अपनाए बिना ही आम सहमति पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र अथवा महासभा के अन्तर्गत पूर्वी यूरोप के जो साम्यवादी राज्य है वे अपने को एक समूह (Group) की बजाय 'गुट' (Bloc) कहना अधिक पसन्द करते थे। अब इन देशों से साम्यवाद समाप्त हो गया है और अब इनमें भी बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था कार्य कर रही है। यद्यपि दोनों शब्दों मे कोई खास अन्तर प्रतीत नहीं होता तथापि ब्लाक शब्द से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ब्लाक रूप में संगठित राज्य एक व्यवस्थित आधार पर केवल आपसी विचार विमर्श ही नहीं करते बल्कि सदैव एकमत होकर कार्य करते है। थॉमस होवेटे के अनुसार "राज्यों का वह समूह एक ब्लाक है जो काकस मे नियमित रूप से मिलता है और जिसके सदस्य काकस में लिए गए निर्णयों के अनुरूप महासभा में अपना मतदान करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार तो महासभा में केवल एक ही सच्चा ब्लाक दिखाई देता था और वह है सोवियत ब्लाक। लेकिन 1991 ई में सोवियत संघ के विघटन के बाद यह ब्लाक समाप्त हो गया।

महासभा के प्रस्तावों में राज्यों की निम्नलिखित चार श्रेणियों का उल्लेख रहता है अर्थात् महासभा में राज्यों की चार श्रेणियाँ प्रमुख हैं—

1 लेटिन अमेरिकी राज्य (Latin American States)

2. अफ्रीकी एव एशियाई राज्य (African and Asian States)

3 पूर्वी यूरोपीय राज्य (Eastern European States)

4 पश्चिमी यूरोपीय एव अन्य राज्य (Western European and Other States)

राज्यों की इन श्रेणियों के अलग अलग अथवा एक-दूसरे के साथ मिलकर समय समय पर विभिन्न सदस्यों की दृष्टि से विभिन्न समूह विकसित होते रहते हैं।

राष्ट्रमण्डल के जो राज्य सयुक्त राष्ट्रसघीय महासभा के सदस्य हैं उनमें वैचारिक अथवा भौगोलिक एकता नहीं पाई जाती लेकिन राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने के नाते व्यवहार में वे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते हैं। राष्ट्रमण्डलीय राज्य अधिकाँशत ब्रिटिश राजनीतिक परम्पराओं से प्रभावित रहे हैं और उनकी भाषा अग्रेजी है।

उल्लेखनीय है कि कोई भी क्षेत्र या मत समूह महासभा के मतदान को लगातार प्रभावित नहीं कर सकता। राजनीतिक एव कूटनीतिक दबाव में आकर अनेक छोटे राष्ट्र अपना दृष्टिकोण बदलते रहते हैं। महासभा में मतदान में विजय प्राप्त करने के लिए स्थायी सहयोगियों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों पर भी निर्भर करना पड़ता है।

महासभा में सदस्य राष्ट्रों पर अनेक तरह के प्रभाव भी पड़ते हैं। बड़े राष्ट्र, जिसमें अमेरिका की भी गणना की जा सकती है अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए असंसदीय पद्धतियों को अपनाते हैं। नदेदित, अविकसित तथा कभी-कभी मित्र-राष्ट्रों को आर्थिक सहायता कम करने या समाप्त कर देने की धमकी दी जाती है। वर्तमान में सयुक्त राज्य अमेरिका के ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह जाने के कारण महासभा में उसकी स्थिति और भूमिका सर्वोपरि बन गई है। महासभा में छोटे राष्ट्र भी अपने राजनीतिक प्रभाव, विश्व में उनकी प्रतिष्ठा व उच्च कोटि की कूटनीति से अपना प्रभाव प्रदर्शित कर सकते हैं। सदस्य-राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों का प्रभाव भी सयुक्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बल देता है।[1]

सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का राजनय
(Veto Diplomacy in Security Council)

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली का वर्णन है जिसमें असाधारण अथवा सारभूत (Substantive) मामलों में परिषद् के 10 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों के साथ 5 स्थायी सदस्यों का मत शामिल होना आवश्यक है। इन 5 स्थायी सदस्यों में से यदि कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। चार्टर में परिषद् पर साधारण और असाधारण कार्यविधि में अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नहीं दी गई है, अतः जब यह प्रश्न उठता है कि कोई मामला साधारण या प्रक्रियात्मक (Procedural) माना जाए अथवा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का

1 रामस्वरूप गौतम सयुक्त राष्ट्र पृष्ठ 35-36

प्रयोग होता है अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाधारण विषय बनाने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वों (Obligations) के विरोध मे पुन मतदान होता है। जोंन तथा एडवर्ड ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सीमावर्ती मामलों मे यह प्रारम्भिक प्रश्न उठता है कि क्या विषय साधारण (Procedural) है और क्या स्वत ही यह निषेधाधिकार का विषय है। वास्तव मे इसी नियमन के निषेधाधिकार को दोहरे निषेधाधिकार मे बदल दिया है। पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिसमे सुरक्षा परिषद् किसी विषय को साधारण न मान ले और उसके बाद दूसरे वोट द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग कर प्रस्ताव को विफल बना दिया जाता है।

जिस समय सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का निर्माण किया जा रहा था उस समय निषेधाधिकार पर काफी विचार विमर्श हुआ था। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का विचार था कि यदि स्थायी शान्ति की खोज करनी है और सयुक्त राष्ट्र जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को सफल बनाना है तो यह कार्य महाशक्तियों के पूर्ण सहयोग से ही पूरा हो सकेगा। दूरदर्शी रूजवेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत सघ अथवा सयुक्तराज्य अमेरिका जैसे महान् राष्ट्रों के लिए किसी भी ऐसे सगठन में भाग लेना सम्भव नहीं होगा जिसमे अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर दे। इस प्रकार की स्थिति को रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार था। यह स्पष्ट था कि महाशक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था क्योंकि इसका परिणाम स्वय अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की समाप्ति हो सकता था। इन्हीं सब बातों पर विचार करके सयुक्तराज्य अमेरिका ने यही उचित समझा कि वह निषेधाधिकार सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं होगी तो वह सगठन का सदस्य नहीं बनेगा। परन्तु निषेधाधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए भी अमेरिका इस अधिकार को सीमित रखना चाहता था। वह इस बात के पक्ष मे था कि विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान और नवीन सदस्यों के सगठन मे प्रवेश पर निषेधाधिकार की व्यवस्था न की जाए लेकिन रूस इसके लिए सहमत नहीं था। वह निषेधाधिकार को असीमित रखना चाहता था। रूस को यह जानना था कि पश्चिमी शक्तियों ने विवशता के कारण ही जर्मनी के विरुद्ध उसके साथ सहयोग किया था अन्यथा वास्तव में दोनों के बीच मौलिक सैद्धान्तिक मतभेद थे। रूस को आशका थी कि यदि भविष्य में सुरक्षा परिषद् मे पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व होगा तो वे बहुमत के आधार पर स्वेच्छापूर्वक व्यवहार कर सकेंगे। अत उसने अपने हितों की रक्षा के लिए निषेधाधिकार पर बल दिया और कहा कि या तो सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को यह अधिकार दिया जाए अथवा सयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना ही न की जाए। अन्तत यही निश्चय हुआ कि निषेधाधिकार असीमित रूप से प्रदान किया जाए किन्तु इसका प्रयोग अत्यावश्यक परिस्थितियों मे ही हो।

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के निर्माताओं का विचार था कि महाशक्तियों का युद्धकालीन सहयोग विश्व सस्था के मच पर भी जारी रहेगा लेकिन शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुषारापात हो गया। भयकर शीतयुद्ध चालू हो गया और महाशक्तियों ने खुलकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। एक अध्ययन के अनुसार 12 दिसम्बर 1971

तक अकेला सोवियत रूस ही 108 बार निषेधाधिकार का प्रयोग कर चुका था जबकि अप्रेल, 1982 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका ने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग 30वीं बार किया। तुलनात्मक दृष्टि से ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन ने इस अधिकार का प्रयोग बहुत ही कम किया है। सोवियत रूस का तर्क था कि सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों के बहुमत के मुकाबले अपने हितों की रक्षा करने का उसके पास एकमात्र उपाय निषेधाधिकार और विरोधी प्रस्तावों को रद्द करना ही है। सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी गणराज्य स्थायी सदस्य के लिए अपना दावा कर रहा है।

निषेधाधिकार के राजनय के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। विपक्ष में कहा गया है कि इसने सदस्यों को समानता का स्तर देने सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। इसके कारण सुरक्षा परिषद् शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ रही है। भूतपूर्व महासचिव ट्रिग्वेली ने कहा था कि विश्व संस्था निषेधाधिकार के राजनय के कारण नपुंसक बन गई है महाशक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त कर दी गई है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों ने इसका प्रयोग अपने मित्र राष्ट्रों को संरक्षण देने के लिए किया है। इसके कारण सुरक्षा परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते हैं उनसे विश्व राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में आस्था डगमगा गई है। वीटो-राजनय के दुरुपयोग के कारण कई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक वर्षों तक विश्व संस्था के सदस्य नहीं बन सके। आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियों को संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था पर आधिपत्य प्राप्त हो गया है।

निषेधाधिकार की आलोचनाओं में वजन है तथापि कुछ व्यावहारिक तथ्यों की उपेक्षा करना अनुचित है। निषेधाधिकार की व्यवस्था को समाप्त करने में जो खतरे निहित हैं वे इस व्यवस्था के कायम रहने के खतरों से कहीं अधिक भयावह हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफलता तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महाशक्तियों का सहयोग हो और ये महाशक्तियाँ किसी भी ऐसी संस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमें अन्य देश केवल अपने बहुमत से उन्हें कोई कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य करें। इसे रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। गुडेन के शब्दों में, ए ई स्टीवेंस का कहना सही है कि "मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से हुआ है। यदि 5 महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को जन्म देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"

निषेधाधिकार असहमति सूचक लक्षण है, न कि इसका कारण, अतः निषेध-व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न भी होती तो भी सुरक्षा परिषद् में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियाँ निकाली जा सकती थीं और उनका भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता जितना वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्था का किया जा रहा है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव सिद्ध करता है कि निषेध शक्ति का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने में इसने अधिक बाधा नहीं डाली

है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है उनके कारण विश्व शान्ति के लिए किसी प्रकार का खतरा पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाने में सहायक हुआ है। जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोंटा तब सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्भालने में और न्याय की रक्षा करने में सहायता प्रदान की।

वास्तव में निषेधाधिकार संघ के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध व्यवस्था न होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती। निषेधाधिकार के अभाव में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भी वही स्थिति होती जो राष्ट्रसंघ की हुई।

निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पास होने के बाद से अब न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न आगे बढ़ाता है। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए गए हैं। शान्ति निरीक्षण आयोग सामूहिक उपाय समिति आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया है।

उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार आंशिक है अतः समाप्त होना चाहिए। परन्तु शान्ति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग कायम रखना चाहिए अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी।

राष्ट्रमण्डलीय राजनय
(Commonwealth Diplomacy)

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को संक्षेप में 'राष्ट्रमण्डल' कहा जाता है। इसमें वे राज्य शामिल हैं जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के भाग थे। राष्ट्रमण्डल अनुमानतः एक चौथाई पृथ्वी पर फैला हुआ है। इसकी वर्तमान सदस्य संख्या 40 से भी अधिक है जिनमें तीन चौथाई से भी अधिक विकासशील राष्ट्र हैं। इसके सदस्य राज्य विभिन्न शासन व्यवस्थाओं द्वारा प्रशासित होते हैं।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य जैसे ग्रेट ब्रिटेन कनाडा आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड भारत पाकिस्तान श्रीलंका घाना मलेशिया आदि। ये राज्य अपने बाह्य सम्बन्धों के लिए पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के आपसी सम्बन्ध
(Intra Commonwealth Relations)

1926 के शाही सम्मेलन में स्वायत्तशासी समुदायों को परिभाषित करते हुए यह कहा गया था कि ये सभी आन्तरिक और बाह्य मामलों में स्वायत्तता रखते हुए भी ताज के प्रति सामान्य स्वामिभक्ति रखते हैं। सन् 1949 में प्रधानमन्त्रियों की बैठक में भारत ने यह मत प्रकट किया कि वह नए संविधान के अधीन स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य होने जा रहा है किन्तु

वह राष्ट्रमण्डल में रह कर ब्रिटिश राजा को स्वतन्त्र राज्यों की प्रतीक तथा राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष मानेगा। बाद में समय समय पर दूसरे राज्यों ने भी ऐसे ही निर्णय लिए।

स्पष्ट है कि राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य राज्य पूर्णतः सम्प्रभु हैं। वे अपने बाहरी या आन्तरिक मामलों में किसी के अधीन नहीं हैं और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता ग्रहण करते हैं। गणराज्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रमण्डलीय सदस्य दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करते समय इन्हीं पदवी ग्रहण करते हैं। भारत, पाकिस्तान, घाना आदि गणराज्य अपने अन्तराष्ट्रीय पत्र व्यवहारों में किसी पदवी का प्रयोग नहीं करते। गणराज्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों में गवर्नर जनरल द्वारा ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था केवल औपचारिकता मात्र है। यह गवर्नर जनरल नाममात्र की कार्यपालिका का कार्य करता है और इसकी नियुक्ति ब्रिटिश महारानी द्वारा सम्बन्धित राज्य के प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर की जाती है।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में राजनयिक प्रतिनिधि
(Diplomatic Agents in the Commonwealth Countries)

जुलाई 1947 में राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्धों का कार्यालय गठित किया गया। इसकी अध्यक्षता राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्धों के राज्य सचिव को सौंपी गई। इस विभाग का उत्तरदायित्व ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के सम्बन्धों का समन्वय कर सदस्य राज्यों के सम्बन्धों को नियमित और नियन्त्रित करना है। यदि सचिव चाहे तो राष्ट्रमण्डलीय मन्त्रियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध कायम रख सकता है।

एक राष्ट्रमण्डलीय देश का दूसरे राष्ट्रमण्डलीय देश में प्रतिनिधित्व करने वाला अधिकारी राजदूत या मन्त्री न कहा जाकर उच्चायुक्त कहा जाता है। राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य अपने आपसी हित के मामलों पर परस्पर विचार विमर्श करते हैं। वे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर एकमत होकर निर्णय देने का प्रयास करते हैं।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में नियुक्त उच्चायुक्तों का पद राजदूतों और अन्य राजनयिक प्रतिनिधियों से भिन्न नहीं होता। कुछ औपचारिकताओं को छोड़कर अन्य सभी कार्यवाहियाँ तथा राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ राजदूतों के समान होती हैं। इनमें मुख्य अन्तर एक तो नाम का ही है। राष्ट्रमण्डलीय देश आपस में जिन राजनयिक प्रतिनिधियों का आदान प्रदान करते हैं, उनको उच्चायुक्त कहा जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि राजदूत की नियुक्ति के समय उसे दिया जाने वाला पत्र प्रत्यय पत्र (Letter of Credence) कहा जाता है। किन्तु उच्चायुक्त के सन्दर्भ में इसे आदेश पत्र (Letter of Commission) कहा जाता है। यह पत्र स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को सौंपा जाता है और तब उच्चायुक्त दूसरे राजदूतों की भाँति कार्य करने लगता है। उसे अन्य राजदूतों जैसे समस्त विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

अन्य देशों से सम्बन्ध
(Relations with other Countries)

राष्ट्रमण्डल कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं है। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता है जो सामान्य हित के विषयों पर स्वेच्छा से विचार विमर्श एवं आपसी सहयोग

के लिए मिलते हैं। राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनने पर किसी राज्य की आन्तरिक नीति एव विदेश सम्बन्धों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता। ये राज्य गैर राष्ट्रमण्डलीय राज्यों से सन्धियाँ कर सकते हैं तथा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। वे ऐसे देश के साथ भी सन्धि वार्ता कर सकते हैं जो राष्ट्रमण्डल की नीतियों अथवा राष्ट्रमण्डल के किसी सदस्य की नीतियों का विरोधी हो। यह सच है कि राष्ट्र मण्डलीय राज्यों के कुछ सयुक्त लक्ष्य और महत्वाकांक्षाएँ होती हैं किन्तु वे अपने हित में कुछ भी करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। राष्ट्रमण्डल के सदस्य किसी राज्य से कोई भी सन्धि करने के लिए स्वतन्त्र हैं। पाकिस्तान सैनिक सगठनों का सदस्य रहा है जबकि भारत सैनिक गठबन्धनों का कटु आलोचक है।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य विश्व सगठन में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। भारत 1919 मे अधिराज्य-स्तर न रखते हुए भी राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया था। इसी प्रकार कनाडा दक्षिणी अफ्रीका ऑस्ट्रेलिया आदि राज्य भी इसके सदस्य बन गए थे। सन् 1945 में सयुक्त राष्ट्रसघ की घोषणा होने पर भारत और दूसरे राष्ट्रमण्डलीय देश इसके मौलिक सदस्य मान लिए गए थे। राजनय की दृष्टि से एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि राष्ट्रमण्डल मे यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश हैं तथापि इससे उनकी सम्प्रभुता पर कोई आँच नहीं आती।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों की सन्धि करने की शक्ति पर कोई मर्यादा अथवा प्रतिबन्ध नहीं है। प्रत्येक राज्य एक सम्प्रभु के रूप में किसी भी राज्य के साथ सन्धिबद्ध हो सकता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रमण्डल कोई ऐसा केन्द्रीय बाध्यकारी यन्त्र नहीं है जो किसी सदस्य राज्य को किसी अन्य राज्य के साथ सन्धिबद्ध होने के लिए बाध्य कर सके अथवा किसी सन्धि को तोड़ने के लिए मजबूर कर सके।

राष्ट्रमण्डल की नीतियों की क्रियान्विति
(Implementation of the Commonwealth Policies)

राष्ट्रमण्डल की समस्त नीतियाँ सदस्य राज्यों के प्रधानमन्त्रियों वित्त मन्त्रियों एव विदेश मन्त्रियों के सामयिक सम्मेलनों द्वारा क्रियान्वित की जाती है। इन सम्मेलनों मे सामान्य हित के प्रश्नों पर विचार विमर्श होता है तथा कार्यवाही हेतु निर्णय लिए जाते हैं। इन निर्णयों के लिए साधारणत सर्वसम्मति आवश्यक मानी जाती है तथा ह्विटिंग के कथनानुसार "जिन प्रश्नों पर सर्वसम्मति प्राप्त नहीं होती वे बाद में विचार के लिए स्थगित कर दिए जाते हैं। समय बीतने के साथ परिस्थितियाँ एव मत बदल जाते हैं और पूर्ण सर्वसम्मति सम्भव हो जाती है। ऐसे निर्णय ही मित्रतापूर्ण सामूहिक कार्य को प्रोत्साहित कर पाते हैं।'

नीति निर्धारित करने के बाद सदस्य राज्यों द्वारा उसे क्रियान्वित करने के लिए कार्यवाही की जाती है। सर्वसम्मति से स्वीकार होने पर भी यदि कोई सदस्य इस नीति को क्रियान्वित नहीं करता तो इसे लागू करने के लिए कोई उपाय नहीं है। वस्तुतः में जब कभी ऐसे अवसर आते हैं तो वे प्राय सदस्य राज्यों के विरोध एव अस्वीकृति का कारण बन जाते हैं तथा कभी कभी तो इनसे राज्यों के आपसी सम्बन्धों में भी कटुता उत्पन्न हो

जाती है। विभिन्न राज्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपनाई गई विरोधी नीतियों के कारण भी विवाद हो जाते हैं। इतने पर भी राष्ट्रमण्डल एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है तथा इसके कुछ सदस्यों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर रहते हुए भी यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में उल्लेखनीय योगदान करती है।

वास्तव में राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं के विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच प्रदान करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है। एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक संगठित मंच पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे संयुक्तराष्ट्र में अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है। राष्ट्रमण्डल के विकसित देशों की उपस्थिति इस सम्बन्ध में उपयोगी है क्योंकि 1973 में ओटावा में हुए राष्ट्रमण्डल के शासनाध्यक्ष सम्मेलन से, यह औपचारिक विचार-विमर्श की बजाय राजनीतिक और आर्थिक विषयों पर उपयोगी व अधिक व्यावहारिक विचार-विनिमय की दिशा में प्रयत्नशील है। इसका मुख्य उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमताओं को दूर करना है।

राष्ट्रमण्डल के समय-समय पर शिखर सम्मेलन आयोजित होते रहते हैं। इन सम्मेलनों से विश्व समस्याओं के समाधान में काफी सहायता मिलती है।

6

आधुनिक राजनय मे प्रचार–युद्ध और शान्ति के दौरान राजनय
(Propaganda in Modern Diplomacy Diplomacy during War and Peace)

राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में प्रचार एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। इसका दो रूपों मे महत्व है। प्रथम तो यह कि प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधन जैसे राजनय आर्थिक साधन साम्राज्यवाद युद्ध आदि को अधिक सफलतापूर्वक तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे प्रचार स्वय में भी इतना सक्रिय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला होता है कि बिना इसके शक्तिशाली स्वरूप के कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता और न वह विश्व समाज में उच्च स्तर ही प्राप्त कर सकता है। आज के प्रजातन्त्र के युग ने भी प्रचार के महत्व को कई गुणा कर दिया है क्योंकि वर्तमान युग मे अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय सद्भावना प्राप्त करने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि आप उस देश के शासन के कुछ व्यक्तियों को प्रसन्न करके अपने पक्ष में कर ले वरन् प्रचार के समस्त साधनों द्वारा उस देश की जनता को प्रभावित किया जाता है। अपने देश की नीतियों के पक्ष मे जनमत तैयार करके ही उस देश की सरकार को अपने पक्ष मे किया जा सकता है।

प्रचार के प्रभावशाली यन्त्र कोई सुनिश्चित नहीं होते वरन् समय की आवश्यकता एव नवीन आविष्कारों के प्रवाह मे उनका प्रभाव एव महत्व घटता बढता रहता है। आज के युग में प्रेस रेडियो टेलिफोन टेलीविजन सस्ती पत्रिकाएँ समाचार पत्र चलचित्र आदि साधनों को प्रचार कार्य में प्रयुक्त किया जाता है।

प्रचार का अर्थ
(Meaning of Propaganda)

"बीसवीं सदी में प्रचार राष्ट्रीय नीतियों का मुख्य साधन बन गया है।"[1] प्रचार का अर्थ सामान्यत उन कार्यों एव व्यवहारों से लिया जाता है जो अन्य व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने और तदनुकूल आचरण कराने के लिए सम्पन्न किए जाते हैं। जोसेफ फ्रेंकिल के कथनानुसार "प्रचार का अर्थ सामान्यत ऐसे किसी भी व्यवस्थित प्रयास से लिया जाता है

1 *Palmer and Perkins* International Relations p 125

जो एक विशेष सार्वजनिक उद्देश्य के लिए किसी जन-समूह के मस्तिष्क, भावनाओं एवं कार्यों को प्रभावित करने हेतु किया जाए।" प्रचार अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता वरन् नैतिक दृष्टि से निष्पक्ष होता है। उसका उद्देश्य अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रचार द्वारा अनेक लोगों के दिल और दिमाग को एक साथ बदलने का प्रयास किया जाता है। चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) के कथनानुसार "प्रचार का अर्थ एक बड़े जन-समूह पर सुनियोजित एवं व्यवस्थित रूप में सुझावों का प्रयोग करना है ताकि उन लोगों के दृष्टिकोण को नियन्त्रित किया जा सके और उनसे मनमाना व्यवहार कराया जा सके।" प्रचार व्यक्तिगत भी हो सकता है और सामूहिक भी। दोनों स्थितियों में यह एक संगठित एवं व्यवस्थित प्रयत्न होता है। इसके माध्यम से किसी क्षेत्र के जनमत को इच्छानुकूल बदला जा सकता है। इस प्रकार प्रचार के अर्थ में तीन बातें उल्लेखनीय हैं—(i) यह व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किया जाता है (ii) यह संगठित एवं व्यवस्थित रूप में किया जाता है, और (iii) यह जनमत के दृष्टिकोण अथवा कार्यों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

प्रचार एवं राजनय
(Propaganda and Diplomacy)

राजनय के शस्त्रागार में प्रचार एक महत्त्वपूर्ण हथियार है। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक बार पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा था कि प्रचार-सामग्री को समाचार-पत्रों में एक तथ्य के रूप में नहीं छापा जाना चाहिए। तथ्यों तथा प्रचार-सामग्री में अन्तर होता है। प्रचार के लिए तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। प्रचार का अर्थ है जानबूझ कर तथ्यों पर असत्य का लेप चढ़ाना। राष्ट्रीय हित के अनुसार एक देश का राजनय जब अपने मित्रों और शत्रुओं का चयन करता है तो प्रचार-तन्त्र उसका मुख्य सहायक बनता है। इसके माध्यम से मित्र-राज्य के प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त करने तथा शत्रु राज्य के प्रति विष उगलने में सुविधा रहती है। प्रचार द्वारा अपने विरोधी पक्ष को विश्व के अन्य राज्यों में बदनाम किया जाता है उसकी तस्वीर पर कालिख लगा कर प्रस्तुत किया जाता है, उसके नेक कार्यों के लक्ष्यों की व्याख्या स्वार्थपूर्ण रूप में की जाती है तथा उसके हितों को आघात पहुँचाने के प्रत्येक अवसर का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर, मित्र बनाने, बढ़ाने और बनाए रखने के लिए भी प्रचार साधन को अपनाया जाता है। दूसरे राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने में प्रचार-यन्त्र राजनयज्ञ की कदम-कदम पर सहायता करता है। प्रचारकर्ता द्वारा मित्रों अथवा सम्भावित मित्रों के छोटे कार्यों को भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है और उनके गलत कार्यों की ओर से आँख बन्द कर ली जाती है अथवा उनकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर की जाती है। इस प्रकार प्रचार द्वारा राजनयज्ञ का कार्य सरल बन जाता है। प्रचार की सहायता से वह किसी राज्य के साथ सन्धि के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है सन्धि में अपनी इच्छानुकूल शर्तें स्वीकार कराता है तथा सन्धि को प्रभावी बनाने के लिए स्वदेश और विदेश में जनमत तैयार करता है।

आधुनिक संचार साधनों द्वारा बड़े जन-समूह को स्थान की दूरी होते हुए भी एक साथ सम्बोधित किया जा सकता है। रेडियो, टेलीविज़न आदि ने विश्व के सभी देशों को

अत्यन्त निकट ला दिया है। इन साधनों द्वारा एक मित्र या शत्रु राज्य की न केवल सरकार को वरन् वहाँ की जनता को भी सम्बोधित और प्रभावित किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय नाजी जर्मनी ने शत्रु राज्यों की जनता को प्रभावित करने के लिए अनेक नए तरीकों का आविष्कार किया था। कहा जाता है कि उस समय नाजी समर्थन में बोलने वाले इतने रेडियो स्टेशन पैदा हो गए थे कि उनके प्रसारण केन्द्र का पता लगाना भी दुष्कर था। गोबिल्स (Mr Goebbles) नाजी प्रचार यन्त्र का मुख्य सचालक था। उसने उद्देश्य के अनुकूल प्रचार की अलग अलग तकनीकों का आविष्कार किया। नाजी रेडियो तथा प्रेस द्वारा प्रचार का कार्य व्यवस्थित रूप में किया जाता था। इसमें से कुछ बातें सत्य होती थीं कुछ का उद्देश्य जर्मनी तथा उसके मित्र राज्यों की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाना होता था तथा शेष का उद्देश्य शत्रु राज्य की जनता के मनोबल को गिराना होता था।

दरअसल प्रचार रूपी यन्त्र के सहारे कूटनीति कई बातें व्यक्त करती है जिनमें कुछ का उद्देश्य अपने देश और अपने मित्र राज्य की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाना होता है कुछ का उद्देश्य शत्रु राज्य की जनता के मनोबल को गिराना होता है कुछ का उद्देश्य विश्व के दूसरे देशों को भुलावे में डालकर उनकी सहानुभूति अर्जित करना होता है तथा कुछ का उद्देश्य सत्य बात को सामने रखकर अपना पक्ष मजबूत बनाना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्राय सभी विचारक कूटनीति में प्रचार के महत्व के सम्बन्ध में एकमत हैं। प्रसिद्ध विद्वान हंस जे मॉर्गेन्थो ने प्रचार को मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological War) की स्थिति माना है। उन्हीं के शब्दों में "मनोवैज्ञानिक युद्ध अथवा प्रचार कूटनीति तथा सैन्य बल के साथ तृतीय शक्ति (Third Force) के रूप में सयुक्त होता है जिसके द्वारा विदेश नीति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करती है।"[1] आधुनिक युग में प्रचार का महत्व इतना बढ़ गया है कि कूटनीति और युद्ध के बाद इसे ही राष्ट्रीय नीति की 'तृतीय शक्ति' माना जाता है। इसका राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रीय हित में वृद्धि के लिए प्रचार
(Propaganda for Promotion of National Interest)

प्रचार एक ऐसा साधन है जिसके उद्देश्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ज्ञान के क्षेत्र में इसकी पहुँच है। यहाँ हमारा सम्बन्ध प्रचार के केवल उसी रूप से है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने में समर्थ होता है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन का कथन है कि "प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा इसमें किसी भी तकनीक को अपनाया गया हो इसका मुख्य उद्देश्य नीति एव राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला प्रचार केवल एक देश की सरकार द्वारा ही किया जाता हो ऐसी बात नहीं है। गैर सरकारी स्त्रोतों से भी प्रचार के रूप का प्रयोग हो सकता है। अनेक व्यक्ति व्यापारिक हित असख्य सगठन इस प्रकार के कार्य में सहयोग दे सकते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल दूसरे देश में प्रचार द्वारा अपने राष्ट्र हित के लिए

1 *Morgenthau op cit, p 339*

समर्थन प्राप्त करते हैं। समय के अनुसार प्रचार के अभिनव साधनों का विकास होता रहता है।

प्रचार के उद्देश्यों पर यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि मूलरूप में सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर ही क्रियान्वित किए जाते हैं। ऐसा निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समझौते जिस समय होते है उनको अपने हित में मोड़ने के लिए एक देश प्रचार का सहारा ले सकता है।

दूसरे, किसी समस्या या विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन बुलाने हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए भी प्रचार का सहारा ले सकता है।

तीसरे, प्रचार द्वारा विचारधारा का प्रचार भी किया जाता है। एक देश के राजनीतिज्ञ सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि जिस विचारधारा पर उनका देश आरूढ है, उसी को दूसरे देश भी माने क्योंकि मैत्री एव सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का दृढ आधार विचारों की एकता होती है।

चौथे प्रचार का सहारा अपनी राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है।

राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रचार वस्तुत बहुत ही प्रभावशाली साधन है। नाजी जर्मनी की राजनीति पूरी तरह प्रचार पर आधारित थी। प्रचार को साधन के रूप में प्रमुखता देते हुए हिटलर ने लिखा था, "प्रचार एक साधन है और जिस उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है, उसी सन्दर्भ में प्रचार को आँकना है। इसे इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए ताकि यह उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य बन सके और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य उद्देश्यों का महत्व आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए प्रचार का आन्तरिक रूप भी तदनुसार बदलता रहना चाहिए।"

प्रचार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनेक राजनीतिज्ञों और विचारकों ने इसे न केवल राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का बल्कि राष्ट्रीय शक्ति का भी एक तत्त्व माना है। पामर एव पर्किंस ने लिखा है प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्योंकि इससे राज्य में सगठित जनमत का निर्माण और विदेश में अपने हितों में वृद्धि होती है। बीसवीं शताब्दी में प्रचार राष्ट्रीय नीति का एक परिपक्व साधन बन गया है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमंच पर यदि राज्य प्रचार यन्त्र का सहारा न ले और प्रभावशाली रूप में प्रचार नीति का अनुशीलन न करे तो वह निःसन्देह भारी कठिनाई में फँस सकता है।'

विदेश-नीति के साधन के रूप में प्रचार
(Propaganda as an Instrument of Foreign Policy)

महाशक्तियों द्वारा प्रचार-यन्त्र को उनकी विदेश-नीति के स्वतन्त्र साधन के रूप में अपनाया जाता रहा। शीतयुद्ध के समय विश्व-राजनीति में गुटबन्दियाँ थीं और प्रत्येक गुट या शिविर अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रचार के साधनों का प्रयोग करता रहा। दूसरे गुट को कमजोर बनाने के लिए, उसके सहयोगियों को तोड़ने के लिए, अपने पक्ष को

मजबूत बनाने के लिए और अधिकाधिक देशों को अपने शिविर की ओर खींचने के लिए प्रचार तकनीकों को चतुराई और कुशलता के साथ प्रयोग में लाया जाता रहा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रचार विदेश नीति के अनेक साधनों में से एक है। इसके लक्ष्यों को सुपरिभाषित करके नियोजित रूप से शान्ति का प्रयास करना चाहिए। विदेश नीति के दूसरे साधनों के साथ भी इसका उचित समन्वय होना चाहिए। स्पष्ट विदेश नीति के लक्ष्यों के बिना एक प्रचारक उद्देश्यहीन तैराक की भाँति होता है जो केवल डूबने से बचने के लिए हाथ पैर मारता है वह किसी दिशा में आगे नहीं बढ़ता।

यह सच है कि सभी देश प्रचार साधन का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते है। समस्त प्रचार का असत्य होना आवश्यक नहीं है। प्रचार का उद्देश्य किसी राज्य की सरकार को गिराना या दबाना भी नहीं है वरन् यह दूसरे राज्य के जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास करता है ताकि उसके हितों की रक्षा हो सके। इस हेतु यह सम्बन्धित राज्य को पूरा सहयोग और समर्थन देता है।

युद्धकाल और शान्तिकाल मे प्रचार का राजनय
(Diplomacy of Propaganda during War and Peace)

राजनय की दृष्टि से प्रचार के बहु उद्देशीय कार्य है। यह धार्मिक सामाजिक राजनीतिक आर्थिक आदि लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करता है। मूलतः सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर सम्पन्न किए जाते हैं।

युद्धकाल में प्रचार का राजनय

युद्धकाल में प्रचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। युद्धप्रवृत्त राज्य अपने लक्ष्यों की दृष्टि से इसका प्रयोग करता है। रेडियो टेलीविजन तथा संचार के अन्य साधनों के माध्यम से युद्ध के समय प्रचार एक सहयोगी मित्र की भाँति सहायक बनता है। युद्ध प्रवृत्त राज्य सबसे पहले राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार की सहायता लेता है ताकि अपने देश की जनता का उत्साह बढ़ा सके और उसके मनोबल को ऊँचा उठा सके। शत्रु राज्य के सन्दर्भ मे प्रचार वहाँ की जनता के मनोबल को गिराने का कार्य करता है। यह शत्रु सेना के मनोबल को भी तोड़ता है ताकि उसे अपनी विजय के बारे में कोई आशा न रहे और विपक्ष की तुलना में स्वयं को कमजोर मानने लगे। प्रचार साधन को अपनाते हुए एक राज्य अपनी सेना की उपलब्धियों को बढ़ा चढ़ा कर बताता है और शत्रु सेना की कमजोरियों तथा हीन स्थिति का विस्तार से उल्लेख करता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रचार साधन द्वारा युद्धप्रवृत्त राज्य विश्व जनमत को अपने शान्तिप्रिय उद्देश्यों और शत्रु के आक्रमणकारी इरादों से परिचित कराता है। प्रचार के समस्त साधन विश्व के राज्यों को यह बताने का प्रयास करते हैं कि शत्रु राज्य अशान्तिप्रिय है आक्रान्ता है अन्तर्राष्ट्रीय कानून और समझौतों का उल्लंघनकर्ता है और वह स्वयं विश्व शान्ति के हितों में तथा अपनी सम्प्रभुता और अखण्डता की रक्षा के लिए युद्ध कर रहा है। प्रो शूमां (Prof Schuman) के मतानुसार युद्धकाल में समस्त प्रचार चार दिशाओं में निर्देशित होता है—(1) हम न्याय सगत हैं और शत्रु पक्ष अन्यायी और पापी है (2) हम मजबूत है और शत्रु कमजोर है (3) हम सगठित है और शत्रु विभाजित है (4) हम जीतेंगे और शत्रु हारेगा।

युद्ध के समय अपनाए जाने वाले प्रचार की तकनीक के दो पहलू होते हैं—प्रचारकर्ता और श्रोता। श्रोताओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—शत्रु, मित्र और तटस्थ। युद्ध के समय अपनाए गए प्रचार-यन्त्र में इन तीनों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् तरीके प्रयोग में लाए जाते हैं। आज के समय युद्ध (Total War) के युग में प्रचार का महत्व बहुत बढ़ गया है।

युद्धकाल में प्रचार के उद्देश्य का विवेचन श्रोताओं की दृष्टि से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। तीनों स्थितियों में प्रचार के उद्देश्य निम्नलिखित होते हैं—

(क) घरेलू मित्र और तटस्थ श्रोताओं के लिए प्रचार के उद्देश्य

(1) भविष्य में ऐसे राज्यों से यदि सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना हो तो ऐसा प्रचार किया जाता है ताकि इन्हें अचानक धक्का न लगे।

(2) सम्बन्ध बिगड़ने पर उसका उत्तरदायित्व एवं दोष दूसरे पक्ष का ही समझा जाए।

(3) जनता को इस प्रकार सिखाया जाता है ताकि वह अपनी इच्छा से कुछ माँगों को स्वीकार कर लें।

(4) भावी कार्यों के नैतिक औचित्य प्रदान करने के लिए आधारभूमि तैयार की जाती है।

(5) राज्य सरकार अपने दावों एवं उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताती है ताकि वह अधिक सम्मान और सत्ता प्राप्त कर सके।

(6) जनता में प्रचार द्वारा सम्मिलित पैदा की जाती है ताकि वह सरकार की नीतियों का अधिक समर्थन कर सके।

(ख) शत्रु-श्रोताओं के लिए प्रचार के उद्देश्य

(1) प्रचार द्वारा शत्रु-राज्य के नेताओं के मनोबल को गिराया जाता है और उनके द्वारा किए गए कार्यों की कुशलता को कम किया जाता है।

(2) प्रचार द्वारा शत्रु की शक्तिहीनता और विरोध की निरर्थकता को प्रकट किया जाता है।

(3) जनता में शत्रु की सरकार के विरुद्ध विद्रोही भावना प्रोत्साहित की जाती है।

(4) ऐसे कार्यों की सम्भावनाओं को कम किया जाता है जिससे शत्रु की शक्ति बढ़ती हो और वह पूरे निश्चय के साथ एकीकृत होता हो।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं के लिए प्रचार के उद्देश्य

(1) प्रचार द्वारा एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अन्य राज्यों की सद्भावना अर्जित करता है।

(2) वह अपने शत्रु राज्य के प्रति श्रोताओं में शत्रुता और विरोधी दृष्टिकोण उत्पन्न करता है।

(3) प्रचार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं को यह समझाया जाता है कि प्रचारकर्ता राज्य और उसकी नीतियों का समर्थन करने पर क्या लाभ मिल सकते हैं।

शान्तिकाल में प्रचार का राजनय

शान्तिकाल में प्रचार के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित होते हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में मनचाही शर्तें स्वीकार कराने के लिए किया जाता है।

(2) यदि किसी प्रश्न या समस्या पर विचार करने के लिए सम्मेलन आयोजित करने की आवश्यकता हो तो इस हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए प्रचार किया जाता है।

(3) एक देश अपनी विचारधारा को दूसरे देश में फैलाने के लिए भी प्रचार यन्त्र को सक्रिय करता है। विचारधारा की एकरूपता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्री की भावनाएँ विकसित होती हैं।

(4) एक राज्य अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर स्वदेश और विदेश के जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रचार करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रचार शान्ति और युद्ध दोनों कालों मे महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। राजनय की तकनीक के रूप में इसके प्रयोग के औचित्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इस तकनीक के हानि लाभों पर कोई मत प्रकट किए बिना ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रचार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे कई दिशाएँ और उपयोगिता प्राप्त कर ली गयी हैं।

राजनय, प्रचार तथा राजनीतिक युद्ध
(Diplomacy, Propaganda and Political Warfare)

मानव सभ्यता के प्रभाव से ही युद्ध समाज की एक अभिन्न विशेषता बना हुआ है। पामर तथा पर्किंस के शब्दों मे "शान्ति तो एक अल्पकालीन सन्धि के समान है जिसमें विचारधारा का प्रत्येक समर्थक अपने लिए उपयुक्त स्थिति प्राप्त करने के हेतु दूसरे को धोखा देने को तत्पर है।" युद्ध केवल सेना द्वारा हथियारों से रणक्षेत्र में ही नहीं लड़े जाते। युद्ध के अनेक रूप होते हैं। उदाहरण के लिए –(1) मनोवैज्ञानिक युद्ध (2) राजनीतिक युद्ध (3) सैनिक युद्ध आदि। राजनीतिक युद्ध का अर्थ किसी सुनिश्चित शब्दावली मे व्यक्त करना कठिन है। इतिहास के उदाहरणों द्वारा ही यह भली प्रकार जाना जा सकता है कि इस प्रकार की नीति अथवा कार्यक्रम अपनाने पर अमुक देश राजनीतिक युद्ध का कर्त्ता माना जा सकता है। इसमें कोई राष्ट्र सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करता लेकिन शक्ति के किसी न किसी रूप का प्रयोग अवश्य होता है। युद्ध का निहितार्थ यह है कि विपक्षी को कोई बात स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया जाए। सैनिक बल से ऐसा करने पर उसे हम सैनिक युद्ध की संज्ञा देते हैं लेकिन कूटनीतिक प्रचार आदि द्वारा भी राष्ट्र को इस प्रकार विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार कूटनीति आर्थिक दबाव आदि का प्रयोग इस रूप में करें कि दूसरा देश हमारी नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाए तो यह प्रक्रिया राजनीतिक युद्ध कहलाएगी। राजनीतिक युद्ध की असफलता प्राय सैनिक युद्धों में परिणत हो सकती है।

राजनीतिक युद्ध भी राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक प्रमुख साधन है। इसका उद्देश्य पहले शत्रु को कमजोर बनाना उसके मनोबल को क्षीण करना और शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अव्यवस्था फैलाकर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है। सामान्यत ये ही कार्य कूटनीति

प्रचार और अन्य साधनों के होते हैं तथापि अपनी प्रकृति और स्वरूप में ये राजनीतिक युद्ध से भिन्न है। सामान्य प्रचार को हम राजनीतिक युद्ध की संज्ञा नहीं देते, लेकिन प्रचार का उद्देश्य यदि विरोधी राज्य को निर्बल बनाना डराना या धमकाना अथवा अपनी नीति मानने के लिए विवश करना है तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग बन जाता है। इसी प्रकार सामान्य कूटनीति भी राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत नहीं आती, पर ज्यों ही कूटनीति का प्रयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है तो वह भी राजनीतिक युद्ध की परिधि में आ जाती है।

सारांश में कूटनीति या प्रचार या आर्थिक उपाय आदि को राजनीतिक युद्ध की परिधि में तभी लिया जा सकता है जबकि उनका उद्देश्य या परिणाम विवशकारिता हो। कौन-सी क्रिया सामान्य है अथवा राजनीतिक युद्ध का अंग है यह उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि नाकाबन्दी (Embargo) आर्थिक स्त्रोतों के संरक्षण के लिए की गई है तो यह सामान्य क्रिया है लेकिन यदि इसका उद्देश्य विरोधी राज्य को आर्थिक वस्तुओं से वंचित रखकर दुर्बल बनाना है तो यही क्रिया राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत गिनी जाएगी। राजनीतिक युद्ध सैनिक युद्ध छिड़ने से समाप्त नहीं हो जाता अपितु युद्धकाल में प्रचार, कूटनीति, आर्थिक साधन सभी राजनीतिक युद्ध के साधन बन जाते हैं और युद्ध में राष्ट्रीय हित के पक्ष में सहायक होते हैं। अत. राजनीतिक युद्ध में प्रचार का महत्व निर्विवाद है।

प्रचार के उपकरण
(The Instruments of Propaganda)

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार के लिए मुख्यत निम्नलिखित उपकरणों का प्रयोग किया जाता है—

1: उच्च प्रसारण शक्ति वाले रेडियो (Radio of High Intensity)

रेडियो ने प्रचार कला को अत्यन्त व्यापक बना दिया है। आजकल पर्याप्त शक्तिशाली और दूरी तक प्रभाव रखने वाले ट्रॉसमीटर बन चुके हैं जिनकी सहायता से प्रचार की नीतियों के अनुसार विभिन्न धाराओं पर समाचार और मत प्रेषित किए जाते हैं। जब शान्तिकाल में किसी राज्य द्वारा विरोधी प्रचार किया जाता है तो उसे रोकने के लिए विभिन्न यान्त्रिक तरीके अपनाए जाते हैं। रेडियो के माध्यम से प्रचार की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें एक राज्य की सरकार दूसरे राज्य की जनता से प्रत्यक्ष रूप में बातें करती है तथा वहाँ की सरकार को बीच में नहीं लेती। विश्वास है कि आज के प्रजातान्त्रिक युग में जनता की राय का महत्व अधिक है। इसके अतिरिक्त सरकारें आती-जाती रहती हैं इसलिए जनमत को प्रभावित करना ही प्रचार का स्थायी तरीका हो सकता है। प्रचार के राजनयिक प्रयोग की दृष्टि से इसका मुख्य उद्देश्य अपनी जनता के हृदय को जीतना है। इसके लिए एक व्यवस्थित और निरन्तर प्रचार यन्त्र का होना अनिवार्य है। जर्मन प्रचारकों के मतानुसार एक झूठ को सौ बार दोहराने पर वह सच बन जाती है किन्तु आजकल परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। आज का जनसाधारण रेडियो तथा प्रेस से प्रसारित होने वाले सम्प्रचारों की सत्यता और तथ्यात्मकता में विश्वास करता है, अत एक झूठ को यदि तीन बार दोहराया जाए तो वह भी सत्य बन जाएगा। इसके विपरीत यदि हम सत्य को बताना चाहते हैं तो इसके लिए उसे सौ से भी अधिक बार दोहराना पड़ेगा।

2 टेलीविजन (The Television)

टेलीविजन के आविष्कार ने प्रचार के क्षेत्र में क्रान्ति कर दी है। यह रेडियो से अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि असख्य लोगों को एक साथ सम्बोधित करते हुए टेलीविजन की सहायता से वक्ता का साक्षात्कार भी कराया जा सकता है। विकासशील देशों में इसका अधिक प्रयोग न होने के कारण इसके प्रभाव का क्षेत्र सीमित है। यह विकसित राज्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध को टेलीविजन पर दिखाया गया था।

3 प्रेस तथा फिल्म (Press and Film)

आज के युग में समाचार पत्र देश विदेश की खबरों का प्रसारण करते रहते हैं। प्रजातान्त्रिक देशों में प्रेस का महत्व निर्विवाद है। सर्वाधिकारवादी राज्यों में प्रेस सामान्यत राज्य द्वारा नियन्त्रित होता है। वहाँ समाचार पत्रों में व्यक्त किए गए तथ्य और मत राज्य की शक्ति वृद्धि का कार्य करते हैं। यद्यपि इनमें प्राय स्वतन्त्र विचार तथा ईमानदारीपूर्ण मत का अभाव रहता है। यद्यपि यह सच है कि साम्यवादी तथा पश्चिमी प्रजातान्त्रिक राज्य दोनों ही अपने राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए प्रचार साधन को अपनाते रहे।

राजनय में प्रेस के महत्व का मूल्यांकन करना कठिन [redacted] । प्रेस द्वारा एक राष्ट्र के जनमत की अभिव्यक्ति होती है। प्रेस जनमत निर्माण करने परिवर्तित करने तथा रूप देने का कार्य भी करता है। स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक देशों में राजनीतिज्ञों को अनेक बार प्रेस की आलोचना सहनी पड़ती है। एक प्रभावशाली समाचार पत्र किसी नेता को चढ़ा या गिरा सकता है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक देश के राजनय का यह दायित्व है कि समय समय पर समाचार पत्रों के रूख का अध्ययन करता रहे।

राजनयज्ञ की दृष्टि से प्रेस के साथ साथ फिल्मों का भी उल्लेखनीय स्थान है फिल्मों द्वारा अधिक लोगों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। युद्धकाल में शत्रु राज्य की जनता को फिल्मों द्वारा अनेक तथ्यों से अवगत कराया जाता है किन्तु इन फिल्मों के निर्माता और निर्देशकों का नाम नहीं दिया जाता। इनका उद्देश्य दूसरे राज्य की जनमत की मान्यताओं एव मूल्यों को बदलने का प्रयास करना होता है।

4 सौंस्कृतिक आदान प्रदान कार्यक्रम (Cultural Exchange Programmes)

राजनय की आधुनिक तकनीकों में एक मुख्य तकनीक यह है कि एक राज्य सौंस्कृतिक कार्यक्रमों के आदान प्रदान द्वारा अपनी आन्तरिक शक्ति और सत्ता के प्रति अन्य राज्यों की जनता को प्रभावित करता है। आजकल महाशक्तियाँ अपने व्यापक उत्पादन और सम्पन्नता से अन्य राज्यों को प्रभावित करने के लिए ऐसे कार्यक्रम अपनाती हैं। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत मित्रता बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं पुस्तकालयों की स्थापना की जाती है पुस्तकें भेंट की जाती हैं तथा समय समय पर साहित्य राजनीति शिक्षा आदि क्षेत्रों के प्रभावशाली व्यक्तियों को भेजा जाता है। सौंस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल अपनी प्रगति और सम्पन्नता का प्रदर्शन करते हैं। उसी प्रकार स्वागतकर्ता देश भी प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों को अपनी प्राप्तियों से प्रभावित करता है। दोनों एक दूसरे में अपने प्रति स्वामिभक्ति और मित्रता बढ़ाने का पूरा प्रयास करते हैं। इससे विकासशील देशों की महत्वाकाँक्षाएँ बढती है तथा वे उतने ही सम्पन्न होने के शीघ्रतम उपायों की खोज करते हैं। इस प्रवृति का

विकसित राज्यों द्वारा शोषण किया जाता है। प्रत्येक साँस्कृतिक आदान-प्रदान का राजनयिक लक्ष्य होता है। वे विचारों को प्रभावित करने तथा प्रचार की सिद्धि के साधन बन जाते हैं।

5 आर्थिक और सैनिक सहायता (Economic and Military Aids)

वर्तमान में विकासशील देशों की सहायता के लिए आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का तरीका अपनाया जाता है। उन्नत राज्य विकासशील राज्य की योजनाओं तथा आर्थिक क्रियाओं में रुचि लेने लगता है। इस रुचि मे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से राजनयिक लक्ष्य निहित रहते हैं। प्रो मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि "आर्थिक और तकनीकी सहायता प्रचार से कुछ भिन्न है। इसमें वायदा करने की अपेक्षा काम किया जाता है। प्रचार के प्रभावशाली तरीके के रूप मे इस प्रयास की सफलता के लिए दो बातें उल्लेखनीय हैं—(1) जो भी सैनिक या आर्थिक सहायता दी जाए उसका दीर्घकाल में नहीं वरन् तुरन्त लाभ होना चाहिए तथा यह लाभ प्रभावित राज्य की जनता की समझ में आना चाहिए और (2) यह सहायता स्पष्ट होनी चाहिए।" प्रचार-यन्त्र और सहायता कार्यक्रम दोनों ही परस्पर सम्बन्धित होते हैं। प्रचार द्वारा सहायता देने वाले अभिकरण को श्रेय प्रदान किया जाता है तथा इसके लक्ष्यों को देश की विदेश नीति के दर्शन व प्रकृति के अनुकूल सिद्ध किया जाता है।

6. शान्तिकालीन प्रदर्शन (Peace-time Demonstrations)

शान्तिकालीन शक्ति प्रदर्शन भी आजकल राजनय का एक महत्वपूर्ण तरीका बन गया है। इसे अपनाने वाला राज्य अणुविस्फोट एव सुरक्षा-प्रदर्शन द्वारा, उपग्रह छोड़कर तथा हाइड्रोजन बमों के विस्फोट द्वारा कमजोर एव तटस्थ राज्यों को मित्र बनाने और वहाँ की जनता मे अपने प्रति स्वामिभक्ति पैदा करने का प्रयास करता है। इस प्रकार के प्रदर्शनों को संचार-साधनों द्वारा प्रसारित किया जाता है तथा रेडियो टेलीविजन समाचार-दर्शन समाचार-पत्र आदि द्वारा विश्व के देशों को भेजा जाता है। नए हथियारों का आविष्कार करके उनका प्रचार किया जाता है। इससे शत्रु-राज्यों के शिविर में आतंक फैलता है तथा मित्र-राज्यों के बन्धन मजबूत होते हैं।

प्रचार के तरीके
(Methods of Propaganda)

जो तरीके व्यापार में विज्ञापन और प्रचार के लिए अपनाए जाते हैं वही तरीके राजनय में अपनाए जाते हैं। विज्ञापन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार में प्रभावित व्यक्तियों की माँग रुचि और उनके मनोविज्ञान का ध्यान रखा जाता है। उनकी कमजोरियाँ इच्छाओं तथा भय के अनुकूल प्रचार की तकनीकें अपनाई जाती हैं। पामर तथा परकिंस ने प्रचार के तरीकों को चार शीर्षकों में वर्गीकृत किया है जो निम्नानुसार हैं—

1. प्रस्तुत करने की विधि (Methods of Presentation)

किसी बात को किस प्रकार कहा जाए, यह प्रचार की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। एक राज्य केवल उन्हीं बातों को बार-बार दोहराता है जो उसके पक्ष में होती है और दूसरी बातों के तथ्यपूर्ण होते हुए भी उनका उल्लेख नहीं करता है।

सत्य को छिपाना और असत्य को बढा-चढा कर कहना आधुनिक प्रचार का महत्वपूर्ण लक्षण है। हिटलर ने तथ्यों को प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए थे—

1 प्रचार का लक्ष्य बुद्धिमान या समझदार व्यक्ति न होकर अल्पबुद्धि व्यक्ति होने चाहिए। ऐसे लोगों की भावनाओं को जाग्रत कर उन्हें उत्तेजित कर देना चाहिए।

2 विरोधी के पक्ष में कोई बात नहीं करनी चाहिए। उनके विपक्ष में ही सब कुछ कहना चाहिए।

3 प्रचार करते समय केवल दो में से एक पक्ष चुनना चाहिए। अच्छा या बुरा सत्य या झूठ उचित या अनुचित आदि। दूसरे शब्दों में बीच की कोई बात नहीं कहनी चाहिए।

4 प्रचार में साधारण झूठ का उपयोग नहीं करना चाहिए। झूठ इतना बड़ा और व्यापक होना चाहिए ताकि सुनने वालों को यह विश्वास ही न हो कि इतना बड़ा झूठ भी बोला जा सकता है।

कहा जाता है कि अब्राहम लिंकन जिन दिनों वकालत करते थे एक न्यायाधीश ने उनके तर्कों पर आपत्ति की और कहा "मि लिंकन इस समय आप जो तर्क दे रहे हैं वे आपके द्वारा ही एक दूसरे केस में कल दिए गए तर्कों के विपरीत है।" इस पर लिंकन का उत्तर था "माई लॉर्ड हो सकता है कि मैंने कल जो तर्क दिए थे वे गलत हों किन्तु मेरे ये तर्क पूर्णत सत्य हैं।" प्रत्येक राजनयज्ञ अब्राहम लिंकन के इस उत्तर को ध्यान में रखकर ही अपना कार्य करता है। वह उन सभी तथ्यों को छिपा लेता है जो उसके मामले के विपरीत जाते हैं। प्रचार यन्त्र के कुशल उपयोग से बिस्मार्क तथा हिटलर ने कई बार अपने उद्देश्यों को बड़ी सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया था। प्रस्तुतीकरण प्रचार के कई रूप हो सकते हैं उदाहरण के लिए—

(1) भूतकाल के किसी तथ्य को, जो अन्य किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है आप इस तरह से तोड़ मरोड़ कर सकते हैं कि वर्तमान में उससे आपके हितों में अनुकूल परिणाम प्राप्त किया जा सके।

(2) प्रचार में ऐसी घटनाओं एव प्रमाणों का अपने पक्ष के समर्थन मे उपयोग किया जा सकता है जिनका उद्देश्य कुछ और ही होता है किन्तु आप उनसे अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। हिटलर यहूदियों के विरुद्ध जर्मनों में रोष भड़काना चाहता था। उसने अनेक कहानियाँ तथा पुस्तकें प्रस्तुत कीं और उनके आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि यहूदी लोग पूरे विश्व पर राज्य करने की योजना बना रहे हैं। इस प्रचार का तत्काल परिणाम यह हुआ कि यहूदियों के प्रति जर्मनों में क्रोधाग्नि भड़क उठी।

(3) प्रचार करते समय झूठ और धोखे का मार्ग सर्वाधिकारवादी और लोकतान्त्रिक दोनों ही राज्यों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है किन्तु दोनों व्यवस्थाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रचार एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता। दोनों के बीच उद्देश्य का अन्तर रहता है। प्रजातान्त्रिक देशों का ऐसा प्रचार तानाशाही देशों की तुलना मे प्राय अच्छे उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

(4) घटनाओं के सत्य रूप को भी प्रचार का विषय बनाया जा सकता है और यह भी सम्भव है कि प्रचार काफी प्रभावकारी सिद्ध हो।

(5) प्राय झूठी और महत्वहीन घटनाओं को युद्ध का कारण बना दिया जाता है। सन् 1965 के भारत पाक युद्ध मे साम्यवादी चीन ने भारत पर भेडे चुराने जैसे महत्वहीन और

मदे आरोप लगाए और ऐसा वातावरण बनाने का प्रयत्न किया कि वह जब चाहे तब भारत पर हमला कर सके।

2 ध्यान आकर्षित करने की तकनीकें
(The Techniques of Gaining Attention)

प्रचार का उद्देश्य दूसरे राज्य के मस्तिष्क को अपने स्वार्थ के अनुरूप बनाना होता है इसके लिए सम्बन्धित राज्य का ध्यान आकर्षित करना परम आवश्यक है। राज्य की जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए एक राज्य निम्नलिखित तरीके अपना सकता है—

1 सरकारी प्रयास एक राज्य की सरकार अपने राष्ट्रीय हित के अनुकूल अन्य राज्य की सरकार के सम्मुख विरोध प्रकट करती है। सामयिक पत्रों और नेताओं के भाषणों द्वारा सरकार अपना रुख स्पष्ट करती है।

2 शक्ति प्रदर्शन एक राज्य द्वारा अपनी जल थल और नभ शक्ति का कुछ अवसरों पर प्रदर्शन किया जाता है ताकि दूसरे राज्य उसकी सैनिक शक्ति का अनुमान लगाकर तदनुसार व्यवहार करें। शक्ति प्रदर्शन द्वारा एक राज्य अपनी माँगों और हितों की ओर विदेशों का भी ध्यान आकर्षित करता है।

3 राजनीतिक यात्राएँ राज्य अथवा सरकार के अध्यक्ष द्वारा विदेश यात्राएँ की जाती हैं। यात्राओं के समय दिए गए भाषणों वक्तव्यों एव सयुक्त वार्ताओं के प्रसारण द्वारा एक राज्य विश्व की समस्याओं के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है।

4 रचनात्मक कार्यक्रम प्रचार के साथ साथ राज्यों को रचनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन भी करना चाहिए। पामर तथा परकिंस के अनुसार जब कोई राज्य रचनात्मक नीति अपनाता है तो उसका प्रचार अभिकरण कमजोर होते हुए भी दूसरे राज्यों का ध्यान आकर्षित कर लेता है।

3 प्रतिक्रिया जानने का प्रयास (Device for Gaining Response)

प्रचार कार्यक्रम के प्रति देशवासियों की उचित प्रतिक्रिया जानने के लिए विभिन्न तरीके अपनाए जाते हैं। कुछ प्रमुख तरीके निम्नलिखित हैं—

1 नारों का प्रयोग प्रचारकर्ता जनता से जो कराना चाहते हैं उसके लिए उन्हें दो चार शब्दों के कुछ नारों की सृष्टि करनी होगी। ये नारे कुछ समय में लोगों के जीवन का अग बन जाएँगे और घर घर में गूँजने लगेंगे। शीतयुद्ध में सोवियत सघ ने अमेरिका के विरुद्ध और अमेरिका ने साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध अनेक नारों का प्रयोग किया था।

2 प्रतीकों का प्रचलन व्यक्ति की भावनाओं को प्रभावित करने में नारों की भाँति प्रतीकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से देशवासियों में भावनात्मक एकता लाने और राष्ट्रीय नीतियों का समर्थन करने के लिए किसी चित्र जानवर सकेत राष्ट्रगीत झण्डा एव अन्य प्रकार के प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। हिटलर ने स्वास्तिक को अपने नाजी दल का प्रतीक बनाया। अमेरिकी झण्डे पर चील का चित्र है तथा इसी प्रकार दूसरे देश भी अपने प्रतीक निर्धारित करते हैं।

3 **विचारों का व्यक्तिकरण** - कुछ विचार व्यक्ति विशेष के नाम से जोड दिए जाते हैं ताकि उनका प्रचार करने मे सुविधा रहे और जनता उस व्यक्ति मे श्रद्धा के कारण इन विचारों को भी स्वीकार कर ले। उदाहरण के लिए साम्यवादी देश अपने सिद्धान्तों का प्रचार मार्क्स लेनिन माओ आदि के नाम से करते रहे। भारत में कुछ विचार गाँधीजी और नेहरूजी के नाम से जोड़ दिए जाते हैं।

4 **परिस्थितियों एव दृष्टिकोणों का उपयोग** एक कुशल प्रचारक नवीन परिस्थितियों और दृष्टिकोणों को अपने हित के अनुसार मोड लेता है और उसी रूप में उनकी व्याख्या करता है। हिटलर ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी के अपमान और आर्थिक मन्दी की स्थिति का लाभ उठाते हुए अपनी शक्ति वृद्धि की ओर जनता का समर्थन प्राप्त किया। पामर तथा परकिंस के मतानुसार प्रत्येक प्रचारक प्रचलित दृष्टिकोण से लाभ उठाकर उन्हें ऐसी दिशा में मोड़ने का प्रयास करता है जिससे उसका हित साधन हो सके।

4 स्वीकृति प्राप्त करने के साधन (Methods of Gaining Acceptance)

प्रचारक द्वारा प्रयास किया जाता है कि दूसरे राज्य उसकी नीतियों को यथासम्भव स्वीकार कर लें। ऐसा करने के लिए वह स्वय को प्रचार के साथ एकीकृत कर लेता है। प्रभावित लोग तभी सच्चे दिल से स्वीकृति प्रदान करते हैं जबकि उन्हे वह अपना ही विचार दिखाई देता है।

प्रचार पर स्वीकृति प्राप्त करने का दूसरा तरीका धर्म और जाति को प्रभावित करना है। इसके द्वारा दो राज्यों के लोग आपस में अपनत्व की भावनाओं का अनुभव करते हैं और इसलिए वे ऐसे राज्य की नीतियों को स्वीकार करने लगते हैं।

स्पष्ट है कि प्रचार-कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिए सजग प्रयास किए जाते हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि प्रत्येक प्रचार को विरोधी प्रक्रिया का सामना करना पड़ता है। विरोधी पक्ष न केवल उस प्रचार का समुचित उत्तर देता है वरन् उसे दबाने व कुचलने के लिए अपने प्रचार-यन्त्र को तेज भी कर देता है। प्रचार के क्षेत्र में प्रतिक्रिया और प्रतिस्पर्द्धा स्वाभाविक होने के कारण विरोधी प्रचार के खण्डन को प्रचार का ही एक भाग बना लिया जाता है। विज्ञान की प्रगति के साथ ही प्रचार के अभिनव साधनों का प्रचलन होता जा रहा है। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार प्रचार की प्रक्रियाएँ और विधियाँ बदलती रहती हैं। ऐसा होना प्रचार-कार्य की प्रभावशीलता के लिए जरूरी है।

प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकताएँ
(The Requisites for Effective Propaganda)

प्रचार को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना उपयोगी होता है। इसमें श्रोताओं की रुचि मनोविज्ञान तथा सामूहिक दृष्टि आदि का ध्यान रखा जाता है। प्रचारित विषय को सरल और देखने सुनने तथा पढ़ने योग्य बनाया जाता है। ये सभी बातें प्रचार-कार्य को प्रभावी बनाती है। ये मुख्यत निम्नलिखित हैं—

1 प्रचार-कार्य की वस्तुपरकता विभिन्न समाचारों और सूचनाओं को यथासम्भव तथ्यगत रूप से प्रकट किया जाना चाहिए और श्रोताओं को स्वय ही निर्णय पर पहुँचने का अवसर देना चाहिए। सीधी और बिना मिलावट की बातें अधिक प्रभावी सिद्ध होती है। जो समाचार अभिकरण वास्तविक तथ्य प्रकट करता है वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाता है।

2. बड़ा झूठ और उसका दोहराव प्रचार को प्रभावी बनाने के लिए कोई बड़ा झूठ बोला जाता है और उसे अनेक बार दोहराया जाता है। सामान्य जनता ऐसी स्थिति में यह समझने लगती है कि सम्भवतः यह सत्य होगा। यहाँ समाचार के दूसरे स्रोतों पर नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता है ताकि परस्पर विरोधी बातें प्रसारित न होने पाएँ।

3 सरलता सामान्य जनता के मस्तिष्क पर सरल नारों का प्रभाव अधिक पड़ता है। वह विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क सुनने की अपेक्षा सरल नारे सुनना अधिक पसन्द करती है जैसे—सोवियत और चीनी प्रचार में पूँजीवादियों के लिए 'प्रतिक्रियावादी' 'कठपुतली' 'साम्राज्यवादी' जैसे नारों का प्रयोग किया जाता रहा। दूसरी ओर, पश्चिमी गुट अपने तथा अपने साथियों के क्षेत्र को स्वतन्त्र संसार कहकर सम्बोधित करते हैं।

4 रुचि एवं आकर्षण व्यक्ति को केवल वही बात प्रभावित करती है जो उसे रुचिकर लगती है। रुचि की बात प्रायः वही होती है जो एक देश के हितों से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए एशिया और अफ्रीका के राज्य अपने विकास की बातों में अधिक रुचि लेते हैं। प्रचारकर्ता राज्य अपनी बात कहने के साथ साथ श्रोता राज्य की समस्याओं में अपनी रुचि व्यक्त करता है।

5 स्पष्टता एवं प्रामाणिकता जब कोई बात आसानी से समझ में आ जाती है और उसके सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं रहता तो सुनने वाले अधिक प्रभावित होते हैं। जटिल और उलझी बातें कोई स्थाई और व्यापक प्रभाव नहीं डालती हैं। स्पष्ट और प्रामाणिक बातें श्रोताओं द्वारा दोहराई जाती हैं और इसलिए उनका प्रभाव गहरा और व्यापक होता है।

6 स्थानीय अनुभव एवं दृष्टिकोण से समरूपता प्रत्येक प्रचार केवल लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही नहीं किया जाता वरन् उसकी वाँछित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए भी किया जाता है। इसके लिए स्थानीय रुचियों, अनुभवों और दृष्टिकोणों का ध्यान रखना अनिवार्य है। सोवियत प्रचार में विकासशील देशों में एकता, समान समस्याओं के बारे में विश्लेषण होता था। एशिया और अफ्रीका में साम्यवादी प्रचार इसलिए प्रभावशाली बन सका था क्योंकि उसमें साम्राज्यवादी, पूँजीवादी और शोषणकारी नीतियों का विरोध कर विकास का सपना दिखाया जाता रहा।

7 स्थिरता प्रचार कार्य हमेशा एक जैसा नहीं रहता है फिर भी समान श्रोताओं के लिए एक-सी समस्याओं पर विभिन्न विचार प्रकट करने से व्यवहार में विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। निरन्तरता और स्थिरता किसी प्रचार को प्रभावशाली बनाने में उपयोगी सिद्ध होती हैं।

शान्ति और युद्ध के दौरान महाशक्तियों के प्रचार यन्त्र
(Propaganda Machinery of Great Powers during War and Peace)

प्रचार सम्बन्धी इस सैद्धान्तिक विवेचन के साथ साथ प्रमुख राज्यों के प्रचार यन्त्रों का अध्ययन करना भी उपयोगी होगा। यहाँ हम संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के प्रचार यंत्र का उल्लेख करेंगे ताकि राजनय में प्रचार के वास्तविक महत्व को समझा जा सके।

संयुक्त राज्य का प्रचार यन्त्र (Propaganda Machinery of U.S.A.)

संयुक्त राज्य अमेरिका ने साम्यवादी खतरे का मुकाबला करने के लिए अपना प्रचार यन्त्र तेज किया। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य मुनरो सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण प्रचार की आवश्यकता से अनभिज्ञ था किन्तु युद्धकाल की परिस्थितियों ने उसे प्रचार के महत्व से अवगत कराया।

द्वितीय विश्वयुद्धकालीन प्रचार युद्ध के समय संयुक्त राज्य ने विदेशों में मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक युद्ध छेड़ने के लिए विभिन्न संस्थाएँ गठित कीं। इनके द्वारा जर्मन चरित्र को गिराने का प्रयास किया गया। युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों के रेडियो स्टेशन प्राय एक जैसे थे। ये मुख्यत तीन प्रकार के थे—जो स्टेशन जर्मन नागरिकों के लिए समाचार और परामर्श प्रसारित करते थे उन्हें श्वेत स्टेशन (*White Station*) कहा जाता था। दूसरे प्रकार के रेडियो स्टेशन मित्र राज्यों के होते हुए भी अपने आपको जर्मन घोषित करते थे। इनका उद्देश्य शत्रु को भ्रम में डालना और सच बात की जानकारी के लिए मित्र राष्ट्रों को प्रसारण सुनने के लिए प्रेरित करना था ये काले स्टेशन (Black Stations) कहलाते थे। *तीसरे भूरे (Grey) स्टेशन थे जो न जर्मन होने का दावा करते थे और न मित्र राष्ट्रों के* होने का। युद्ध के अन्तिम दिनों में कुछ कमाण्डिंग जनरलों ने अग्रिम टैंकों पर लाउडस्पीकर लगवा दिए ताकि शत्रु को आत्मसमर्पण के लिए फुसलाया जा सके।

युद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रचार मनोवैज्ञानिक युद्ध के प्रयास पूर्णत सफल नहीं हो सके। उनकी सभी नीतियों को शत्रु द्वारा पहले से ही अपनाया जा रहा था। मित्र राज्यों की असफलता के मुख्यत दो कारण थे—

1 प्रारम्भ में प्रचार के लिए जो उच्च स्तरीय योजनाएँ बनाई गई थीं उनको क्रियान्वित नहीं किया जा सका। यदि जापान के मनोबल को प्रचार द्वारा गिरा दिया जाता तो वहाँ परमाणु बम गिराने की आवश्यकता न होती।

2 संयुक्त राज्य ने *अपने प्रचार में जर्मनी के सामान्य नागरिकों और प्रशासन में कोई* भेद नहीं किया अत वहाँ के नागरिक यह सोचने लगे कि अमेरिका केवल नाजी सरकार का नहीं वरन् जनता का भी दुश्मन है अत उन्होंने नाजी प्रशासन का पूरा समर्थन किया। नाजी प्रचार यन्त्र के संचालक गोयबल्स ने कहा था कि "यदि मैं शत्रु के पक्ष में होता तो प्रथम दिन से ही नाजीवाद के विरुद्ध लड़ने का नारा लगाता न कि जर्मन जनता के विरुद्ध।"

युद्ध के बाद अमेरिकी प्रचार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य का प्रचार यन्त्र अधिक सक्रिय बन गया। सन् 1948 के स्मिथमण्ड एक्ट के अनुसार अमेरिकी जनता और विश्व की जनता के बीच सद्भावना स्थापित करने का निर्णय लिया गया। सन् 1951 में विदेश *विभाग के अन्तर्गत एक पृथक् अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रसारण* (IIA) स्थापित किया गया। 1 अगस्त 1953 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने संयुक्त राज्य सूचना अभिकरण (USIA) की स्वतन्त्र कार्यालय के रूप में स्थापना की और इसे समुद्र पार के सूचना कार्यक्रम का उत्तरदायित्व सौंपा।

संयुक्त राज्य सूचना *अभिकरण ने अनेक देशों में अपनी सूचना चौकियाँ स्थापित की* हैं। *वह असाम्यवादी देशों के हजारों समाचार पत्रों के लिए करोड़ों की संख्या में पर्चे* विशेष

सामग्री व्यग्य चित्र पोस्टर आदि भेजता है। वॉइस ऑफ अमेरिका (Voice of America) भी इसका महत्वपूर्ण भाग है। यह लगभग 38 भाषाओं में प्रतिदिन 24 घण्टे प्रसारण करता है। इसके अधिकांश प्रसारण केन्द्र साम्यवादी देश होते थे। लेकिन नब्बे के दशक में पूर्वी यूरोप से साम्यवाद के पतन और दिसम्बर 1991 ई को सोवियत सघ के विघटन के बाद साम्यवादी शिविर की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। वर्तमान में सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रचार तत्र में साम्यवाद विरोधी विचारों पर ध्यान केन्द्रित नहीं है।

अमेरिकी प्रचार का अधिकाँश भाग प्रतिक्रिया के रूप में है। इसके अतिरिक्त विदेश नीति की मुख्य बातों को भी प्रचारित किया जाता है। वर्तमान में सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रचार में परमाणु हथियारों के निषेध और मानवाधिकारों पर अधिक बल दिया जा रहा है।

सोवियत सघ का प्रचार यन्त्र
(Propaganda Machinery in U S S R)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व सोवियत सघ के प्रचार का लक्ष्य पार्टी तथा सरकार के तानाशाही नियन्त्रण को सगठित करना अपने कार्यक्रमों के अनुयायी बढाना तथा जनता को मातृभूमि के लिए दु ख उठाने, त्याग करने तथा प्राण देने के लिए तैयार करना था। यहाँ जारशाही को उखाड फेंकने के लिए एक मुख्य हथियार के रूप में प्रचार का प्रयोग किया गया था। क्रान्ति के अगुआ यह जानते थे कि शक्ति के अभाव में प्रचार ही उनका महत्वपूर्ण शस्त्र है।

विश्वयुद्ध से पूर्व प्रचार द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व सोवियत प्रचार की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

1 यह प्रचार देश के सभी क्षेत्रों के सभी वर्गों को प्रभावित करता था।

2 साम्यवादी ने अपने प्रचार के लिए नवीन शब्दों का चयन किया। अपने पक्ष में तथा विरोधी पक्ष में अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग किया गया। बाद में ये शब्द साम्यवादी ससार में अत्यन्त लोकप्रिय बन गए।

3 साम्यवादियों ने अनेक नए नारों तथा प्रतीकों का उपयोग किया, जैसे सितारा लाल और हथौड़ा व हँसिया।

4 प्रचार कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन को महत्व दिया गया। इस हेतु कामिण्टर्न (Comintern) आदि सस्थाओं का गठन किया गया। यह सस्था विश्व के अन्य देशों के साम्यवादी दलों को निर्देशन देने तथा उन्हें सोवियत सघ के अनुकूल नीति अपनाने की प्रेरणा देने का कार्य करती थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत प्रचार जब दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हो गया तो सोवियत सघ के प्रचार की प्रक्रिया और उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर आ गया। उसका प्रचार अन्तर्राष्ट्रीय अधिक बन गया और यह शीत युद्ध की दृष्टि से प्रेरित होने लगा। युद्धोत्तरकाल में इसके प्रचार की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं—

1 मुख्य रूप से अर्द्धविकसित या अविकसित देश सोवियत प्रचार का क्षेत्र बन गए।

2 इस प्रचार में साम्यवादी जीवन के तौर तरीकों की प्रशसा की गई और पूँजीवादी राष्ट्रों के अत्याचारों तथा शोषण का रक्त रजित चित्र खींचा गया।

3 विभिन्न देशों में साम्यवादी आन्दोलनों को उकसाया गया तथा उनका समर्थन किया गया।

4 सोवियत प्रचार ने संयुक्त राज्य द्वारा विभिन्न देशों को दी जाने वाली आर्थिक और दैनिक सहायता को उसकी साम्राज्यवादी नीति का प्रतीक बताया। पत्रों एव लेखों द्वारा इस बात का खुलकर प्रचार किया गया कि अमेरिका ससार को गुलाम बनाना चाहता है।

5 सोवियत सघ ने शान्ति का अभियान प्रारम्भ किया। उसने प्रचार द्वारा स्वदेश और विदेश की जनता को यह बताने का प्रयास किया कि वह शान्ति प्रेमी है और शान्ति स्थापना के लिए नि शस्त्रीकरण का पक्ष लेता है।

दिसम्बर 1991 ई में सोवियत सघ विश्व मानचित्र से समाप्त हो गया है। अन्तिम राष्ट्रपति के रूप में मिखाइल गोर्बाच्योव ने अपने पद से त्यागपत्र देने की घोषणा की। सोवियत सघ के अवसान के साथ ही प्रचार तत्र का एक अध्याय समाप्त हो गया।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनय में प्रचार तत्र का अत्यन्त महत्त्व है।

7

राजनय और महाशक्तियाँ—राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून

(Diplomacy and Super Powers : Diplomacy and International Law)

राजनय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान तथा राष्ट्रों के मध्य सन्तुलन एवं मित्रता को बनाए रखने का एकमात्र साधन है। अतः उपयुक्त है कि हम अमेरिका और सोवियत रूस—इन दो महाशक्तियों (Super Powers) के राजनय का अध्ययन करें। महाशक्तियों का राजनय विश्व के विभिन्न देशों के राजनय को प्रभावित करता है और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज विश्व राजनय का सम्पूर्ण ताना-बाना इन महाशक्तियों के राजनय पर आश्रित है।

संयुक्तराज्य अमेरिका का राजनय
(Diplomacy of the United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का एक महानतम् प्रजातान्त्रिक राष्ट्र है जिसकी विदेश नीति की प्रकृति और व्यवहार का जिसके राजनय का सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता रहा है।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व अमेरिकी राजनय

संयुक्तराज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म 1776 के अमेरिकी स्वातन्त्र्य-संग्राम के फलस्वरूप हुआ था। अपने जन्म-काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश होकर अमेरिका को इस नए गणतन्त्र की तटस्थता और पृथकतावादी नीति का सहारा लेना पड़ा। 1797 में प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने विदाई-भाषण में पृथकतावादी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था—"विदेशों के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार का महान् यह नियम है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध तो रखें किन्तु राजनैतिक सम्बन्ध यथासम्भव कम से कम रखें। हमारी सच्ची नीति यह है कि हम विदेश के किसी भी भाग के साथ स्थाई सन्धियाँ न करें।" चूँकि अमेरिका यूरोप के झगड़ों से बिल्कुल पृथक् और तटस्थ रहकर अपनी उन्नति करना चाहता था इसलिए उसकी नीति को पृथकतावादी कहकर सम्बोधित किया गया। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमेरिका की यह पृथकता केवल यूरोप के मामलों तक ही थी। विश्व के अन्य भागों के लिए यह पृथकता नीति नहीं अपनाई गई। उदाहरण के लिए 1854 में अमेरिकी नौ-सेना ने जापान को अपनी

परम्परागत पृथकतावादी नीति का परित्याग करने को बाध्य किया तो 1900 मे चीन के बाक्सर विद्रोह मे अमेरिकी सेनाओं का हस्तक्षेप हुआ तथा सामान्य सुदूरपूर्व के मामलों मे अमेरिका ने गहरी दिलचस्पी प्रकट की।

तटस्थता और पृथकतावादी अमेरिकी नीति को सिद्धान्त रूप में राष्ट्रपति जैफरसन (Jefferson) ने 1801 में इस प्रकार प्रकट किया—"शान्तिपूर्ण व्यापार सब के साथ झझट पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ भी नहीं।" इसका आशय यही है कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करे लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दे में न फँसे।

सन् 1823 ई में मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) के प्रतिपादन से अमेरिकी विदेश नीति और राजनय के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। सन् 1823 मे जब प्रशिया आस्ट्रिया और रूस के 'पवित्र सघ' ने स्पेन मे निरकुश शासन के विरुद्ध हुई क्रान्ति को कुचलने के बाद स्पेन के दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशों में मैड्रिड विरोधी स्वातत्र्य आन्दोलनों को दबाना चाहा तो 2 दिसम्बर 1823 को तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय राज्यों को अमेरिकी महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी देते हुए ऐतिहासिक घोषणा की कि—

1 "हम यह जता देना चाहते हैं कि यूरोपीय शक्तियों के युद्धों मे हमने कभी भाग नहीं लिया और न कभी भाग लेने का हमारा विचार है। हम इनसे सर्वथा पृथक रहे हैं।"

2 "हम अपनी शान्ति और सुख की दृष्टि से अमेरिका के किसी भी भाग में यूरोपीय शक्तियों की राजनीतिक सत्ता का विस्तार नहीं होने देंगे और दक्षिणी अमेरिका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में किसी हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे।"

3 "अमेरिकी महाद्वीप का कोई प्रदेश भविष्य मे यूरोपीय शक्तियों द्वारा उपनिवेशन (Colonisation) का क्षेत्र नहीं बनाया जा सकेगा।"

राष्ट्रपति मुनरो ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा अपनी प्रणाली को अमेरिकी गोलार्द्ध मे फैलाने का प्रयत्न किया गया तो सयुक्तराज्य अमेरिका उसे पूर्णत अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। स्पष्टत मुनरो सिद्धान्त यूरोपीय राज्यों को एक चेतावनी थी कि वे अमेरिकी महाद्वीपों मे साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहे। साथ ही यह एक आश्वासन भी था कि अमेरिका भी यूरोपीय झगडों से अलग रहेगा। दूसरे शब्दों में मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था तुम पृथक रहो हम भी पृथक रहेगे। यह सिद्धान्त अमरीकी महाद्वीपों के मामलों मे सयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त की घोषणा करता था।

मुनरो सिद्धान्त सन् 1823 ई में अपने प्रतिपादन से प्रथम महायुद्ध तक पृथकतावादी नीति के साथ साथ सुचारु रूप से चलता रहा। अमेरिका के लिए इन दोनों आधारों पर आश्रित विदेश नीति व राजनय का लगभग सौ वर्ष तक सुचारु सचालन इसलिए सम्भव हुआ कि इस बीच विश्व मे शान्ति सन्तुलन बना रहा जिनके तीन कारण थे—(1) अटलाण्टिक महासागर और अन्य समुद्रों में ब्रिटिश नौ शक्ति की प्रधानता तथा ब्रिटिश अमरिकी मित्रता (2) यूरोपीय महाद्वीप मे शक्ति सन्तुलन कायम रहना क्योंकि नेपोलियन के बाद यूरोप में कैसर के अभ्युत्थान से पहले तक कोई ऐसी शक्ति उदित नहीं हुई जो सम्पूर्ण यूरोप मे हावी होती अथवा ब्रिटिश साम्राज्य को हानि पहुँचाती तथा (3) यूरोप

या एशिया में किसी शक्ति या शक्तियों के ऐसे गुट का अभाव रहा जो संयुक्तराज्य अमेरिका अथवा दक्षिण अमेरिका को हानि पहुँचा सके। शक्ति सन्तुलन के इन तीनों कारणों की समीक्षा करते हुए शूमैन का कथन है कि "जब तक ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति सर्वोच्च बनी रही तब तक संयुक्तराज्य अमेरिका पृथकतावादी नीति पर चलता रहा और इसके अनुकूल तटस्थता (Neutrality) समुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the Seas), तटस्थ देशों के व्यापारिक अधिकारों सुदूरपूर्व में सब शक्तियों को व्यापार के समान अवसर देने की मुक्त द्वार नीति (Open Door Policy) का समर्थन करता रहा।"

प्रथम महायुद्ध काल में अमेरिकी राजनय

सन् 1914 ई. मे प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हो जाने पर संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए परम्परागत पृथकतावादी नीति पर चलते रहना सम्भव न रहा। सन् 1901 मे रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और उन्हीं के समय से अमेरिका विश्व राजनीति में गहरी रुचि लेन लगा। इस समय एकाएक यह अनुभव किया कि वह वास्तव में विश्व की एक महान् शक्ति है जिसे विश्व की समस्याओं से विरक्त नहीं रहना चाहिए। इसके प्रथम शिकार लेटिन अमेरिका के पडौसी देश ही हुए, यद्यपि साथ ही अमेरिका अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं मे भी रुचि प्रदर्शित करता रहा। सन् 1905 में रूस जापान युद्ध का अन्त कराने के लिए राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया। सन् 1906 में फ्रॉस जापान संघर्ष शुरू हुआ। अमेरिका ने इस मामले मे भी मध्यस्थता की तथा फ्रॉस और जर्मनी में बीच बचाव कराकर यूरोप मे शान्ति को भग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त रूजवेल्ट ने हेग पच न्यायालय का समर्थन किया और वहाँ दो बडे अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे भेजे। लेकिन इतना होने पर भी अभी तक अमेरिका स्वय को यूरोप के झगडों से दूर रखकर यथासम्भव तटस्थता की नीति पर ही डटा रहना चाहता था।

सन् 1914 में प्रथम महायुद्ध छिडने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने यूरोप के युद्धों से पृथक् रहने की परम्परागत नीति के अनुसार तटस्थता की घोषणा की, परन्तु आरम्भ से ही यह भी आभास होने लगा कि अमेरिका के लिए इस युद्ध से पूर्णतः पृथक् एव अप्रभावित रह सकना सम्भव नहीं होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका का हित मित्रराष्ट्रों की विजय में सन्निहित था। जर्मनी की विजय से अमेरिका को न केवल भीषण आर्थिक क्षति होती अपितु इससे यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगडने की तथा यूरोपीय महाद्वीप सहित सम्पूर्ण विश्व में जर्मनी के हावी होने की आशका थी जिससे अमेरिका की सुरक्षा भी सकट में पड सकती थी। इन सभी राष्ट्रीय स्वार्थों ने अमेरिका में इस धारणा को बल दिया कि मित्रराष्ट्रों की विजय होनी ही चाहिए। परिणामस्वरूप अमेरिकी जनमानस में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में वातावरण बनाया गया। अमेरिका ने बडे ही सकटापन्न काल में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध प्रवेश किया। इससे मित्रराष्ट्रों को न केवल असीमित मानवीय शक्ति ही मिली, बल्कि असीम धन खाद्य पदार्थ खनिज और हर प्रकार के नैतिक स्रोतों की प्राप्ति भी हुई। अमेरिकी सेना रण सामग्री और युद्धपोतों ने न केवल साम्यवादी रूस द्वारा जर्मनी से पृथक् सन्धि करने से हुई क्षति को पूरा किया प्रत्युत् युद्ध का पासा पलट कर जर्मनी की भीषण पराजय को निश्चित बना दिया। "तटस्थता की नीति अमेरिकी स्वार्थों की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुई थी, अतः पृथकता

के स्थान पर यूरोपीय महासागर में भाग लेने की नीति अपनाई गई" जिसके फलस्वरूप विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया और 11 नवम्बर 1918 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए।

दो महायुद्धों के बीच अमेरिकी राजनय

प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रों को शान्ति-समझौते का आधार माना गया। पेरिस सम्मेलन में एकत्रित राजनीतिज्ञों ने विल्सन के कारण ही राष्ट्रसंघ को वर्साय-सन्धि सहित सभी शान्ति सन्धियों का अंग बना दिया। वर्साय-सन्धि के द्वारा न तो अमेरिका ने कोई मित्रता-प्राप्ति का प्रयास किया और न ही कोई शत्रु बनाए। मार्च 1920 में सीनेट में अन्तिम रूप से वर्साय की सन्धि को रद्द कर दिया और नवम्बर 1920 में विल्सन की जगह रिपब्लिकन उम्मीदवार हार्डिंग को राष्ट्रपति चुन लिया गया। अमेरिकी विदेश नीति और राजनय की परम्परा ही पृथकतावादी नीति का अनुसरण करती रही थी। परिस्थितियों से बाध्य होकर ही अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था मित्रराष्ट्रों के सशक्त युद्ध-प्रचार तथा जर्मनी की नीति कुशलता की कमी ने अमेरिका को युद्ध में घसीट लिया था। अब एक बार जब युद्ध समाप्त हो गया तो विश्व-राजनीति में दिलचस्पी लेना अमेरिका के लिए आवश्यक नहीं रह गया। अमेरिकी जनता की दृष्टि में यूरोप की राजनीति में दिलचस्पी लेने का अभिप्राय था, 'तरह-तरह की झझटों में अमेरिका को फँसाए रखना। अत अमेरिका ने पुन अन्तर्राष्ट्रवाद को ठुकरा कर के पृथकतावादी नीति का अनुसरण किया।

राष्ट्रपति हार्डिंग ने अमेरिकी विदेश नीति और राजनय को तटस्थता का पूरा जामा पहनाने की चेष्टा करते हुए विल्सन द्वारा दिये गए वचनों और बाध्यताओं से भी अपने देश को मुक्त कर लिया। लेकिन पृथकतावाद की अपनी घोषित नीति के बावजूद अमेरिका की बढ़ती हुई शक्ति उसके हितों विश्व-राजनीति की परिवर्तित स्थिति तथा अन्य परिस्थितियों ने उसे यूरोपीय एव गैर-अमेरिकी मामलों में रुचि लेने को विवश कर दिया। सन् 1919 के बाद अमेरिका ने एक ऐसी नीति का पालन किया जिसे 'स्पर्शहीन सहयोग की नीति' कहा जा सकता है। यह एक ऐसी नीति थी जिसका उद्देश्य उत्तरदायित्व को वहन किए बिना 'शक्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति' था। पृथकतावाद के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका एक सीमा तक विश्व-राजनीति में भाग लेता रहा। यद्यपि अमेरिका की सीनेट राष्ट्रसंघ को अस्वीकार कर चुकी थी तथापि एक वर्ष से भी अल्पावधि में अमेरिका ने संघ की बैठकों में प्रेक्षकों (Observers) को भेजना प्रारम्भ कर दिया। संघ के प्रति कुछ उदार नीति का अनुसरण करते हुए न केवल जेनेवा में गैर-सरकारी निरीक्षक भेजे गए अपितु बाद में शस्त्रास्त्रों के स्त्रियों के तथा अफीम के व्यापार का नियन्त्रण करने वाले संघ के सम्मेलनों में और स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं में भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने भाग लिया। वास्तव में 1924 ई. के बाद ही अमेरिका ने संघ की सभाओं में पूर्ण रूप से भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजना प्रारम्भ कर दिया जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा के लिए सदैव सजग रहते थे। मार्च 1930 तक अमेरिकी प्रतिनिधियों ने ऐसे 22 सम्मेलनों में भाग लिया। सन् 1931 की समाप्ति से पूर्व अमेरिका राष्ट्रसंघ द

संगठन में लगभग 13 सम्मेलनों से संलग्न था और 1934 में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सदस्य भी बन गया।

वास्तव में प्रथम महायुद्ध के बाद तेजी से बदलती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने संयुक्त राज्य अमेरिका को अपनी विदेश नीति और अपने राजनय पर पुनर्विचार के लिए बाध्य कर दिया। सन् 1920 में दुनिया में जो परिस्थितियाँ थीं उनमें प्रजातन्त्र अपेक्षाकृत सुरक्षित था किन्तु 1930 तक फासीवाद को कई जगह विजय प्राप्त हो चुकी थी तथा अन्य प्रदेशों में तानाशाही शासनों का विकास हो गया था। जब संसार सर्वाधिकारवाद के खतरे में पड़ चुका था यह असम्भव था कि संयुक्त राज्य अमेरिका इस विकास से आँखें मूँद लेता। अमेरिकी नेताओं को यह विश्वास हो चला कि तटस्थता एवं पार्थक्य का अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है। राज्य सचिव हल का कहना था कि पृथक्तावाद कभी भी सुरक्षा का साधन नहीं बन सकता वरन् यह तो असुरक्षा का एक फलदायक स्रोत है। यह स्पष्ट हो गया कि पृथक्तावादी नीति के अनुसरण के कारण अमेरिका को विश्व में महाशक्ति का स्तर प्राप्त नहीं हो सकता था। मार्च 1933 में फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका पृथक्तावाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर मुड़ने लगा, फिर भी अमेरिका चाहता यही था कि मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यूरोप के मामलों में यथासम्भव पृथक् रहे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सोवियत रूस को मान्यता देने का निर्णय किया।

नवम्बर 1933 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक कूटनैतिक सम्बन्धों की स्थापना के साथ ही राष्ट्रपति रूजवेल्ट और सोवियत मन्त्री लिटविनोव ने अपनी-अपनी सरकारों के नाम पर प्रण किया कि (1) वे दोनों देशों के व्यक्तिगत जीवन की स्व-व्यवस्था के अधिकार का आदर करेंगे और एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (2) दोनों देशों में सरकारी कार्यों में लगे सभी अधिकारी और सरकार से सम्बन्धित सभी संगठन किसी भी प्रकार की स्पष्ट और अस्पष्ट क्रिया द्वारा दूसरे देश की शान्ति, उन्नति, व्यवस्था और सुरक्षा को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। (3) अपने देश की क्षेत्रीय सीमा में किसी भी संगठन के निर्माण, निवास और कार्य की आज्ञा नहीं दी जाएगी जो दूसरे देश की सरकारी और क्षेत्रीय एकता को खतरा प्रतीत हो। (4) किसी भी ऐसे समूह या संगठन के निर्माण और उस समूह या संगठन के प्रतिनिधि अधिकारियों के निवास पर प्रतिबन्ध लगाया जाएगा, जिसका उद्देश्य दूसरे देश की सरकार को पलटना अथवा उस देश की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में जबरदस्ती परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना हो। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने विलियम बुलिट (William Bullitt) को सोवियत संघ में पहला राजदूत बनाया। मान्यता के उपरान्त भी मास्को और वाशिंगटन राजनय अथवा कूटनीति के क्षेत्र में उतने ही दूर रहे जितने भौगोलिक क्षेत्र में थे। विलियम बुलिट और जोसफ डेविज की अध्यक्षता में जो कार्यमण्डल मास्को गए लेकिन उनमें उचित उत्साह की कमी थी। अतः वे नए सोवियत-अमेरिकन सम्बन्धों को बढ़ा नहीं पाए। वाशिंगटन में सोवियत दूत ट्रायनोवस्की (Troyanovsky) भी अमेरिका की पृथकता की दीवार को हटाने में सफल नहीं हो सके। बुलिट जैसा महत्वाकांक्षी राजदूत सोवियत संघ के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में सफल नहीं रहा।

अगस्त 1936 में राष्ट्रपति ने जोसफ ई डेविज (Joseph E Davies) को मास्को के अमेरिकन राजदूत के लिए बुलिट के स्थान पर भेजा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बुलिट की उच्छृंखल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए डेविस को सोवियत अधिकारियों के साथ व्यवहार में प्रतिष्ठित रूप मे आत्मसंयम और औपचारिकता का रवैया अपनाने की सलाह दी। नए दूत को यह भी कहा गया कि वह सैनिक और आर्थिक पहलू के रूसी शासन को शक्ति की स्थिति के प्रति आँखों देखी और व्यक्तिगत विचारों पर आधारित सूचना देने का प्रयत्न करे और यह भी पता चलाए कि यूरोपियन युद्ध होने पर सोवियत सरकार की नीति क्या होगी ?[1]

एक राजनयज्ञ अथवा कूटनीतिज्ञ के रूप में अमेरिकन राजदूत डेविज मास्को में सफल रहा। उसे स्टालिन से मिलने का एक असाधारण विशेषाधिकार प्राप्त हुआ। स्टालिन डेविज वार्ता में रूस अमेरिका सहयोग और मतभेद के अनेक मुद्दों पर स्पष्ट विचार विनिमय हुआ। लॉरेन्स स्टीनहार्ट (Lawrence Steinhardt) जो डेविज के बाद राजदूत बने मास्को मे अगस्त 1939 में ही पहुँच सके। अत एक वर्ष तक के समय के लिए मास्को में अमेरिकन दूतावास बिना किसी राजदूत के ही कार्य करता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने के समय रूस और अमेरिका राजनीतिक दृष्टि में अभी भी उतने ही दूर थे जितने कि कूटनीतिक सम्बन्ध वार्ता के आरम्भ होने से पहले या बाद में थे।[2]

यूरोप में हिटलर की आक्रामक गतिविधियों ने स्पेनिश गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी के खुले हस्तक्षेप ने तथा चीन पर जापान के आक्रमण ने रूजवेल्ट को यह विश्वास दिला दिया कि पृथकतावाद के विरुद्ध जनमत को जागृत करने का समय आ गया था। फलस्वरूप बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिए 5 अक्टूबर 1937 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिका के लिए तटस्थता के सिद्धान्त को अस्वीकृत किया और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की प्रशंसा की। अपने इस भाषण में रूजवेल्ट ने कहा—"लुटेरे राज्यों ने आतंक का राज्य स्थापित कर लिया है। इनके आक्रमणों को पृथकतावाद या तटस्ता से नहीं रोका जा सकता। अन्ततोगत्वा वे संयुक्त राज्य को चुनौती देंगे। जब कोई संक्रामक महामारी फैलती है तो समाज यह चाहता है कि इसके बीमारों को पृथक्‌स्थान में रखने की क्वारण्टीन व्यवस्था द्वारा महामारी को रोका जाए। आक्रान्ता राष्ट्रों को भी इसी प्रकार रोकना चाहिए।" यहाँ बहुसंख्यक पृथकतावादियों ने राष्ट्रपति की बड़ी असभ्य भाषा मे आलोचना की।

अमेरिकी जनता की प्रतिक्रिया से जर्मनी और इटली में फासिस्टवादी शक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। जब हिटलर ने अपनी दृष्टि चेकोस्लोवाकिया पर डाली और म्यूनिख समझौता हुआ तो अमेरिका में भीषण प्रतिक्रिया हुई और रूजवेल्ट ने राजनय नीति मे परिवर्तन कर दिया जिसका उद्देश्य आन्तरिक सुधारों की अपेक्षा संसार मे सामूहिक सुरक्षा की नीति पर अधिक बल देना था। वास्तव मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट की पूर्ववर्ती धारणा अब और भी अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो गई थी कि साम्राज्यवाद के बढ़ते हुए ज्वार के बीच तटस्थवादी नीति अमेरिकी हितों के प्रतिकूल थी। रूजवेल्ट को यह विश्वास हो गया कि म्यूनिख समझौते का अर्थ 'शान्ति' नहीं बल्कि युद्ध था।

1 के के मिश्र व इन्दु खन्ना वही पृ 149 50
2 डॉ एम पी रॉय वही पृ 387

कुल मिलाकर दो महायुद्धों के मध्यकाल मे अमेरिकन विदेश नीति और राजनय का मूल तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहता ही रहा। सयुक्तराज्य अमेरिका द्वितीय महायुद्ध मे तभी शामिल हुआ जब जापान ने पर्ल हार्बर पर 7 दिसम्बर 1941 को आक्रमण कर दिया। इस समय अमेरिकन राजनय का मूल मत्र 'खुला राजनय' (Open Diplomacy) था। इसने *'उदारवादी अन्तर्राष्ट्रीयता' (Liberal Internationalisation)* के सिद्धान्त को जन्म दिया।[1]

द्वितीय महायुद्ध काल मे अमेरिकन राजनय

अमेरिका द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के साथ ही अब 'पुरानी दुनिया' तक सीमित युद्ध नई दुनिया' मे भी प्रवेश कर *गया और अमेरिका जैसा सबल तथा* साधन-सम्पन्न राष्ट्र ब्रिटेन फ्रॉस आदि मित्रराष्ट्रों के पक्ष मे मैदान मे आ गया। महायुद्ध काल मे अमेरिका ने अपनी महान् सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे शत्रु-राष्ट्रों (जर्मनी जापान इटली आदि) की पराजय निश्चित हो गई। युद्ध के दौरान अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष मे अपने सैनिक भी झोंके उन्हे शस्त्रास्त्र भी दिए और उनके लिए डालर की थैलियाँ भी खोल दीं। इस सैनिक और आर्थिक सहायता ने *अमेरिका का सिक्का जमा दिया और* 'महाशक्ति' के रूप मे उदय होने का उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

महायुद्ध के प्रारम्भिक काल में रूस पर जर्मनी ने आक्रमण किया। पश्चिमी देश और अमेरिकन कूटनीतिज्ञों तथा सैनिक विशेषज्ञों मे अधिकाँश यह आशा कर रहे थे कि हिटलर कुछ ही दिनों में रूस पर सम्पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेगा। रूस में नियुक्त पूर्व अमेरिकी राजदूत जोसेफ डेविज ही ऐसा अकेला कूटनीतिज्ञ था जो रूस की स्थिति के इस परम्परागत विवेचन से असहमत था। इस समय सोवियत अमेरिकन सम्बन्धों मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनयिक तत्व रूजवेल्ट की जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सहानुभूति थी। वाशिंगटन में सोवियत दूत ओमॉस्की (Oumansky) और उपराज्य सचिव वैल्ज ने एक समझौता किया जिसके अनुसार अमेरिका की सरकार ने रूस को असीमित निर्यात और इग्लैण्ड के साथ समानता का वचन दिया। वाशिंगटन ने जर्मन आक्रमण में सोवियत स्थिति को सुदृढ करने के उद्देश्य से सभी *व्यावहारिक आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया।* ऐसा सयुक्त राज्य की राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों मे किया गया। 14 अगस्त, 1941 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक 'अटलाण्टिक चार्टर' की घोषणा की जिसमे मित्र-देशों के युद्ध के उद्देश्यों का वर्णन किया गया। इस चार्टर पर सोवियत स्वीकृति सितम्बर में मिली। सोवियत लोगों की वीरता ने युद्ध की अस्त-व्यस्तता में एक महान् सधि का उदय हुआ *जिसका नाम सयुक्तराष्ट्र था। ग्रेट ब्रिटेन सयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत सघ और चीन* इस सधि के आधार स्तम्भ थे।

सम्पूर्ण युद्धकाल मे सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy) चलता रहा। जनवरी, 1943 मे कसाब्लाँका (मोरो) में चर्चिल रूजवेल्ट और डिगाल का एक सम्मेलन हुआ जिसमे घोषणा की गई कि उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया जाए। अक्टूबर 1943 में मास्को सम्मेलन हुआ

1 डॉ एम पी रॉय वही, पृ 387

जिसमे पहली बार युद्ध के सम्बन्ध मे आँग्ल समझौता सम्पन्न किया गया और मित्रराष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की। सम्मेलन मे सयुक्तराज्य अमेरिका इग्लैण्ड और रूस की सरकारों मे सामजस्य स्थापित करने तथा यूरोप की समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन मे यूरोपीय परामर्शदाता आयोग (European Advisory Commission) स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इसी सम्मेलन में सुरक्षा और शान्ति कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बनाने का निश्चय हुआ। यही सगठन बाद में सयुक्त राष्ट्र सघ के रूप में विकसित हुआ। इस समय तक स्टालिनग्राड के युद्ध मे नाजी हार के कारण सोवियत-जर्मन युद्ध का बहाव सोवियत पक्ष में मुड़ चुका था। अमेरिका ने इस अवसर पर मैत्री-प्रदर्शन और प्रशसा के राजनय का खुल कर प्रयोग किया था। 8 नवम्बर, 1942 को अमेरिका के लोगों द्वारा स्टालिनग्राड दिवस मनाया गया था। राजधानी मे अमेरिकन-सोवियत मित्रता की कॉंग्रेस की सभा हुई थी जिसका सभापतित्व जोसेफ डेविज ने किया था जो पहले सोवियत रूस में अमेरिकन राजदूत रह चुके थे। मई 1943 में जब जोसेफ डेविज राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष प्रतिनिधि के रूप में मास्को पहुँचा तो उसने शीघ्रता से स्टालिनग्राड की यात्रा करके उसने सोवियत सेनानियों को श्रद्धा-सुमन अर्पित किये।

नवम्बर, 1943 में काहिरा सम्मेलन में रूजवेल्ट चर्चिल और च्यॉंगकाई शेक ने विचार-विमर्श किया और नवम्बर-दिसम्बर में तेहरान सम्मेलन में चर्चिल रूजवेल्ट तथा स्टालिन ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएँ तैयार कीं। इस सम्मेलन मे आँग्ल-सोवियत मित्रता के नेताओं ने नाजी शासन के पतन को शीघ्र लाने के लिए, अपनी नीतियों में सामजस्य स्थापित कर लिया। जुलाई 1944 में सयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन ब्रिटेन युड्स में हुआ जिसमें 44 राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने का निश्चय किया गया।

21 अगस्त से 7 दिसम्बर 1944 तक सयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत रूस ग्रेट ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान में एकत्र होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी सगठन—सयुक्त राष्ट्र सघ की रूपरेखा के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया और अनौपचारिक वार्ता की। इस सम्मेलन के निर्णय अन्तिम नहीं थे यद्यपि सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का बहुत कुछ आधार इसी सम्मेलन मे बना।

महायुद्धकालीन अन्तिम महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा (कृष्ण सागर में क्रीमिया प्रायद्वीप में) नामक स्थान पर फरवरी 1945 में हुआ। इसमें रूजवेल्ट चर्चिल स्टालिन ईडन मोलोटो आदि प्रमुख नेता सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन मे सुदूरपूर्व तथा मध्यपूर्व आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार-विमर्श किया गया। युद्धकालीन सम्मेलनों मे याल्टा का यह सम्मेलन सबसे महत्वपूर्ण था क्योंकि इस सम्मेलन ने जिन समस्याओं को जन्म दिया उनका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस सम्मेलन में व्यक्त विचारों ने जहाँ एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आधारशिला रखी वहीं दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों मे आपसी मतभेदों को भी जन्म दिया जिसकी चरम सीमा शीतयुद्ध (Cold War) मानी जाती है। याल्टा सम्मेलन के कुछ निर्णय उस समय गुप्त रखे गए और पूरा विवरण 1951 मे सयुक्तराज्य अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेन्ट ने प्रकाशित किया।

25 अप्रैल 1945 से 25 जून 1945 तक सान फ्रैंसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक म्मेलन हुआ। यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से सम्बन्धित था। इस सम्मेलन आरम्भ होने से 13 दिन पहले राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का स्वर्गवास होने के कारण उनके त्तराधिकारी ट्रूमैन ने इस संगठन के प्रति अमेरिकी सरकार की प्रतिबद्धता को दोहराया।

रूज़वेल्ट के निधन के बाद अमेरिकन विदेश नीति और राजनय ने एक नया मोड़ या। ट्रूमैन प्रशासन के आरम्भ हो जाने से उग्र सोवियत विरोधी नीति का भी आरम्भ हो या। 7 मई 1945 को जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण और युद्ध विराम सन्धि पर स्ताक्षर करने के बाद यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। जुलाई अगस्त में पोटस्डम (बर्लिन) म्मेलन हुआ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन ने अनेक हत्वपूर्ण निर्णय लिए। पोटस्डम सम्मेलन में यह स्वीकार कर लिया गया कि औपचारिक न्धियों पर हस्ताक्षर इटली, बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी और फिनलैण्ड की स्वीकृति प्राप्त जातन्त्रीय सरकारों द्वारा किए जाएँगे। इन पूर्व शत्रु देशों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता ा विश्वास भी दिलाया गया। स्पेन में फ्रेंको शासन के सम्बन्ध में यह घोषणा की गई कि र्तमान स्पेनिश सरकार जिसकी स्थापना केन्द्रीय शक्तियों के समर्थन पर की गई थी, पने उदय, प्रकृति, अभिलेखों और आक्रमणकारी राज्यों के साथ सहयोग रखने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के योग्य नहीं है। अमेरिका और ब्रिटिश सरकारों ने पोलैण्ड ी नई लोकतन्त्रीय सरकार को स्वीकृति दे दी और लन्दन द्वारा पुरानी पोलैण्ड की सरकार ो दी गई स्वीकृति वापिस ले ली। पोटस्डम सभा में 'रीच' के प्रशासन, पड़ोसी 'स्लाव' ज्यों से निकाले गए जर्मन अल्पमतों के पुनर्निवास, जर्मन युद्ध अपराधियों के मुकदमे और र्मन सरकार की स्थापना हो जाने पर उससे शान्ति समझौते की महत्वपूर्ण समस्याओं र भी विचार किया गया है।[1]

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिकन राजनय

द्वितीय महायुद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। थम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी राष्ट्र से ऋणदाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने अधिकांश विश्व को उसके आर्थिक प्रभुत्व से आच्छादित कर दिया। ारण स्पष्ट था कि महायुद्ध में अमेरिका को उस घोर विनाश का सामना नहीं करना पड़ा, जिसका अन्य मित्र और शत्रु राष्ट्रों को करना पड़ा था। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रांस ादि सभी राष्ट्र भयंकर बमवर्षा के शिकार हुए थे और ब्रिटेन को छोड़कर इन सभी देशों ी भूमि पर रक्तरंजित युद्ध हुए थे। इसलिए जहाँ युद्धकाल में दूसरे देश आर्थिक और ौद्योगिक दृष्टि से अस्त व्यस्त हो गए, वहाँ अमेरिका की आर्थिक समृद्धि पर कोई आँच हीं आई। इसलिए उसकी राजनैतिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अब वह सैनिक, ाजनीतिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टियों से पूँजीवादी जगत् का नेता बन गया। इन सब त्वों ने अमेरिकन राजनय को प्रभावित किया। अमेरिकी नेतृत्व विश्व का राजनयिक सिरमौर नने की आकांक्षा करने लगा और साम्यवाद के विरुद्ध हर प्रकार से सुदृढ़ मोर्चा स्थापित रने की दिशा में अमेरिकन राजनय प्रवाहित होने लगा।

1 डॉ के के मिश्र व इन्दु सक्सेना, वही, पृ 281

जिस लोकतन्त्रवादी जगत् का नेतृत्व पहले दिन ब्रिटेन के हाथों में था वह अब संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में आ गया। प्रत्येक देश उसकी सहायता पाने के लिए लालायित था। 28 अक्टूबर 1945 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति के जिन बारह सूत्रों (Points) की घोषणा की उससे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब 'नेतृत्व' से पीछे नहीं हटना चाहता। ये नीति बिन्दु अमेरिका की महत्वाकाँक्षा के प्रतीक थे जिनमें अमेरिका मानो यह कह रहा था कि उसने दुनिया को बचाने सुधारने तथा दुनिया में अपनी सरकार स्थापित करने का ठेका ले लिया है। इन उद्देश्यों में अमेरिका के 'डालर साम्राज्यवाद' की गूँज थी। अमेरिका अब 'पृथकतावादी नीति' से बिल्कुल हट चुका था अर्थात् अमेरिका ने अब राजनीतिक सैनिक और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति पर चलना शुरू कर दिया था। उसको चुनौती देने वाला एकमात्र राष्ट्र सोवियत संघ था। अतः अमेरिका के नीति निर्माताओं और प्रशासकों ने यह निश्चय कर लिया कि उनका देश प्रत्येक स्तर पर सोवियत संघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकेगा। इसे 'अवरोध नीति' (Policy of Containment) की संज्ञा दी गई। इसके फलस्वरूप मार्शल योजना का निर्माण हुआ जिस पर अप्रेल 1948 में अमेरिकन काँग्रेस ने स्वीकृति दे दी। 'महाशक्ति' के रूप में अमेरिका के इरादे तब और स्पष्ट हो गए जब जनवरी 1949 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की। 'चार सूत्री कार्यक्रम' के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति और राजनय का कार्य विश्व व्यापी हो गया। अब यह निश्चय किया गया कि जहाँ कहीं शान्ति भंग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण की कार्यवाही होगी उसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिए संकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।

आर्थिक क्षेत्र में तो अमेरिका ने अपना नेतृत्व स्थापित कर ही लिया सैनिक क्षेत्र में भी उसने स्वयं को पूरी तरह एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक राजनयिक कदम उठाए। अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम की नीति प्रारम्भ की गई जिसके फलस्वरूप अप्रेल 1948 में नाटो (NATO) की स्थापना हुई। इस सन्धि संगठन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन में बँध गया। इस सन्धि ने यूरोपियन देशों को एक सुरक्षा आवरण प्रदान किया ताकि वे अपना आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम तैयार कर सकें। इस सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह दायित्व सम्भाल लिया कि वह साम्यवाद विरोधी किसी भी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहेगा। 'नाटो फार्मूला' का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया गया। नाटो सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई सदस्य देशों में सैनिक अड्डे स्थापित किये गए तथा विभिन्न देशों के साथ मैत्री सन्धियाँ क्रियान्वित की गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ में भी अमेरिका ने सक्रिय नेतृत्व की भूमिका निभाना आरम्भ कर दिया। यह सुरक्षा परिषद् में रूस विरोधी सदस्यों का अगुवा बन गया और संयुक्त राष्ट्र संघ 'महाशक्तियों के दाव पेंच का अखाड़ा' बन गया। जब 1946 में सुरक्षा परिषद् में यूनान सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत हुआ तो अमेरिका और रूस तथा उनके साथी राष्ट्र 'शीत युद्ध' को विश्व संस्था में घसीट लाए। संयुक्त राष्ट्र संघ पर अमेरिका का प्रभाव व्याप्त हो गया और संघ के निरीक्षण में वस्तुतः अमेरिका द्वारा ही यूनान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी गई।

इस प्रकार आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर अमेरिका एक महाशक्ति के रूप में उभर आया और वह 'मुक्त विश्व' (Free World) का एकछत्र नेता बन गया। महायुद्ध के बाद ट्रूमैन युग (1945-52) और आइजनहावर युग (1953-60) में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति और राजनय की मूल धारा सारगर्भित रूप में प्रकट करते हुए डॉ. एन. पी. राय ने लिखा है—

"ट्रूमैन सिद्धान्त की घोषणा, मार्शल योजना, आइजनहावर सिद्धान्त, सैनिक संगठन की नीति आदि के परिणामस्वरूप अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय योगदान बढ़ा। अब इसकी विदेश नीति का उद्देश्य प्रशान्त महासागर से जापान को दूर रखना था। द्वितीय महायुद्ध में शामिल होकर अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरंगों में ऐसा उलझा जैसा वह पहले कभी नहीं उलझा था और एक बार उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेना शुरू किया तब से आज तक उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के प्रथम विदेश सचिव जेम्स बर्नेस (James Byrnes) ने ठीक ही कहा था कि "जिस हद तक हम सम्पूर्ण विश्व में फैल गए हैं उसे थोड़े ही लोग समझ सकते हैं।" 1940 से 1960 तक के दो दशकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अद्भुत परिवर्तन देखे। यूरोपीय राज्य व्यवस्था इस दौरान समाप्त हो गई और इसका स्थान दो महाशक्तियों ने ले लिया। इनके द्वारा नेतृत्व ने विश्व को दो ध्रुवों में बाँट दिया जिनका नेतृत्व क्रमशः सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहे थे। महायुद्ध के बाद के काल में अमेरिका विश्व का सर्वोच्च शक्तिशाली राज्य बना। यह वास्तव में एक विश्व शक्ति था जो विश्व राजनीति, आर्थिक स्थिति और सैनिक शक्ति को प्रभावित किये हुए था। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेनियल पेरकिन के शब्दों में महायुद्ध के तुरन्त बाद का समय 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अमेरिकी काल' था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका एक महाशक्ति के रूप में उभरा। ग्रेट ब्रिटेन व फ्रांस तीसरे स्तर के राष्ट्र रह गए। जर्मनी, इटली व जापान का कोई महत्व नहीं था। रूस जो स्वयं एक महाशक्ति के रूप में उभरा था, पूर्वी यूरोप पर छा गया। इसी के साथ अमेरिका दो मूल सिद्धान्तों से बँध गया। ये थे साम्यवाद का विरोध और राष्ट्रीय सुरक्षा। संयुक्त राज्य अमेरिका की सम्पूर्ण राजनयिक शक्ति साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को रोकने (Containment of Communism) में लग गई जिसका परिणाम निकला—शीतयुद्ध। रूसी साम्यवाद ने संयुक्त राज्य अमेरिका को बाध्य किया कि वह अपनी डेढ़ सौ वर्षों की उस पवित्र परम्परा को, जिससे वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग था, उखाड़ फेंके। सन्धियों की उसने एक शृंखला सी स्थापित कर दी और वह सन्धि बन्धनों में फँसता उलझता चला गया। अब ये सन्धियाँ उसकी शक्ति का स्रोत बन गईं। इनके परिणामस्वरूप अमेरिका ने विश्वव्यापी सैनिक अड्डे स्थापित कर लिए। अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध महाशक्तियों के सम्बन्ध से प्रभावित थे। दो भागों में बँटा विश्वयुद्ध की छाया में रह रहा था। साम्यवाद का विरोध तथा राष्ट्रीय सुरक्षा इसकी राजनयिक गतिविधियों के मूल आधार बन गए। मार्शल योजना, ट्रूमैन सिद्धान्त आदि युक्तियाँ इसी आधार पर निर्मित की गई थीं। एक समय था जब साम्यवाद-विरोधी हर देश उसका मित्र था तथा डलेस के मतानुसार जो उसके साथ नहीं था वह उसका शत्रु था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जहाँ संयुक्तराज्य अमेरिका अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को बढ़ाने के लिए सन्धि संगठनों का निर्माण कर रहा था वहीं दूसरी ओर वह अणु युद्ध के भयावह परिणामों के आधार पर शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व (Peaceful Co existence) का भी समर्थक बन गया था। *इससे दोनों महाशक्तियों के मध्य शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हुई।* अमेरिका ने यह भी अनुभव किया कि विश्व शान्ति को बनाए रखने के लिए रूसी सम्मान और प्रतिष्ठा को बिना आघात पहुँचाए रूसी पक्ष के समस्त प्रस्तावों को लचीला रखना आवश्यक है। कैनेडी काल (1960 63) में अमेरिका में सुलह और समझौते की नीति का सूत्रपात हुआ। कैनेडी युग की अमेरिकी विदेश नीति और राजनय के मुख्य बिन्दु ये थे—1 *समझौतों और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम किया जाए* पर साथ ही साम्यवादी खतरे के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए। 2 विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य तानाशाहियाँ भी शत्रु हैं। अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक सीमा प्रदेशों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। 3 विश्व में डॉलर के मूल्य को सुरक्षित रखा जाए डॉलर की साख में कमी न होने दी जाए। 4 ऐसे प्रयत्न बार बार किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक दूसरे के निकट आएँ तथा एक दूसरे को समझें। 5 दोनों गुटों के बीच विचारों के स्पष्ट आदान प्रदान द्वारा संकटों को मिटाया जाए। 6 साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ *तक कि लौह दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र* बना लिया जाए तथा 7 यथा साध्य सह अस्तित्व पर बल दिया जाए।

जॉनसन शासनकाल (1964 68) में अमेरिकी राजनय की छवि धूमिल हुई। जॉनसन शासनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण के कारण न सिर्फ अमेरिका को काफी हानि हुई बल्कि उसे अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पड़ा। बाद में इस तथ्य को स्वयं *जॉनसन ने भी स्वीकार किया।*

निक्सन का कार्यकाल (1969 1974) अमेरिका के इतिहास में क्रान्तिकारी माना जाएगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत् में अमेरिका की विदेश नीति और कूटनीति को एक नई दिशा प्रदान की। निक्सनकाल में चीन के विरुद्ध अपने पूर्वाग्रहों को छोड़कर उसके साथ अपने सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाकर अमेरिका ने अपने राजनय को एक नया मोड़ दिया। सुदीर्घकाल से चला आ रहा वियतनाम युद्ध उन्हीं के कार्यकाल में समाप्त हुआ और सोवियत संघ के साथ नि शस्त्रीकरण वार्ताओं में काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् में 'सह अस्तित्व' की सम्भावनाओं को जितना अधिक बल निक्सन के कार्यकाल में मिला उतना पहले कभी नहीं मिला था।

फोर्ड का शासनकाल (1974 76) विदेश नीति और राजनय की दृष्टि से सामान्य रहा। रूस के साथ कदम सुधार के प्रयत्न चालू रहे भारत विरोध में फोर्ड प्रशासन एक कदम आगे बढ़ *गया यात्रा राजनय चलता रहा और विदेशमन्त्री किसिंजर चीन की यात्रा* पर गए और राष्ट्रपति फोर्ड ने जापान की यात्रा की। अमेरिका राजनय और विदेश नीति का यह एक खेदजनक पहलू रहा है कि उसने विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनों और मुख्य संघर्षों को कभी खुले दिल से समर्थन नहीं दिया है। फोर्ड भी इसी नीति पर चले। अमेरिका रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद समर्थक सरकारों का पक्ष लेता रहा। 30 अक्टूबर

1974 को संयुक्त राष्ट्र संघ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्कासित करने के प्रस्ताव पर अमेरिका ने वीटो का प्रयोग किया।

कार्टर युग (1977-1980) ने अमेरिका विदेश नीति और राजनय के क्षेत्र में स्तुति योग्य उपलब्धियाँ हासिल नहीं कर सका। यह अवश्य हुआ कि पश्चिम एशिया और वियतनाम के प्रति अमेरिका ने पहले की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। उप-राष्ट्रपति वाल्टर मांडेल ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की यात्रा में इन देशों से पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में राजनयिक वार्ताएँ कीं। साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नाटो के साथ सम्बन्धों का जायजा लिया। इन्होंने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था में सुधार का आश्वासन दिलाया और नाटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता व्यक्त की। पश्चिम जर्मनी के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुद्वीप व्यापारिक समझौते पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे में विशेष विचार हुआ। कार्टर प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए प्रयत्नशील रहा और भारत के साथ उसके सम्बन्ध सामान्य बने रहे। अगस्त, 1977 में विदेश-मन्त्री साइरस वेन्स ने चीन की यात्रा की किन्तु ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के विभिन्न मुद्दों पर मतैक्य नहीं हो सका। अमेरिका ताइवान से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं हुआ और चीन के विरोधी रवैये के कारण कार्टर ने यहाँ तक कह दिया कि चीन को पूर्ण मान्यता देने में अभी वर्षों लगेंगे। वेन्स की यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नहीं की गई फिर भी ऐसा वातावरण दिखाई देने लगा कि दोनों पक्ष अन्ततः ताइवान पर समझौता कर लेंगे। वेन्स के बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिंस्की ने पीकिंग की यात्रा की। चीन के प्रति नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। कार्टर प्रशासन, बावजूद सामयिक उतार-चढ़ाव और उलझनों के सोवियत संघ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट रहा। कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनों में रूस-अमेरिका सम्बन्धों का समीकरण बदल दिया। अब तक सोवियत संघ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु अस्त्रों से अद्भुत प्राप्त कर लेगा और अपने यहाँ के असन्तुष्टों का अमेरिका की प्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके बावजूद अमेरिका के आर्थिक सहयोग से लाभान्वित होता रहेगा। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि परमाणु अस्त्रों के बारे में वह उचित समानता चाहेगा और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थापित रखने के लिए सोवियत संघ को घर में और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने सोवियत संघ को दुविधा में डाल दिया। निःशस्त्रीकरण पर कुछ सैद्धान्तिक सहमतियों के बावजूद दोनों पक्षों में गम्भीर मतभेद बने रहे। अन्त में जून, 1979 में साल्ट-2 समझौता हो गया, जिसे राजनीतिक क्षेत्र में शस्त्र-परिसीमन की दिशा में एक सीमित पर महत्त्वपूर्ण सन्धि माना गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच सुधरते सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया। तथापि उसमें इसी स्थिति से दोनों ही महाशक्तियाँ बचने का प्रयत्न करती रहीं, जिसमें कोई सशस्त्र टकराव हो जाए।

20 जनवरी 1981 को अमेरिका के 40 वे राष्ट्रपति के रूप मे शपथ लेते हुए रोनाल्ड रीगन ने कहा था— 'हम अपनी मित्रता उनकी सार्वभौमिकता पर नहीं थोपेगे क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता बिक्री के लिए नहीं है। रीगन ने अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वियों को कहा— 'शान्ति मे उनका यकीन है शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते हैं बलिदान कर सकते हैं लेकिन आत्मसमर्पण कभी नहीं करेंगे। रोनाल्ड रीगन की विदेशनीति और कूटनीति प्रारम्भ से ही कटु और कठोर रही। रीगन के राजनय का मुख्य लक्ष्य यह रहा है कि अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए पश्चिमी यूरोप को हर मामले मे अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए पश्चिमी यूरोप को हर मामले मे नीचा दिखाया जाए। रीगन ने न्यूट्रान बम्ब के निर्माण का फैसला किया जिससे समूचा विश्व स्तब्ध रह गया। वास्तव में शस्त्रीकरण के राजनय का हर दृष्टि से रीगन ने बहुत ही कुशल उपयोग किया। नवम्बर 1981 के अपने भाषण में राष्ट्रपति रीगन ने सोवियत नेता ब्रेझनेव को अपनी चार सूत्री नि शस्त्रीकरण योजना भेजने का उल्लेख किया। अमेरिका की 'शस्त्रीकरण की नीति के प्रति यूरोप में जो असन्तोष बढ रहा था उसे शान्त करने के लिए रीगन ने यह भाषण देने की कूटनीति अपनाई थी। अरब इजराईल के बीच कुछ बातों पर सहमति का वातावरण तैयार करने के प्रयत्नों मे अमेरिकी राजनय का मुख्य लक्ष्य यह रहा है कि सोवियत सघ वहाँ किसी भी तरह का हस्तक्षेप न कर सके। सितम्बर 1983 मे रूस द्वारा अपने सीमा क्षेत्र मे दक्षिणी कोरियाई यात्री विमान को गिराए जाने पर रीगन प्रशासन ने रूस को नीचा दिखाने और उसकी निन्दा करने मे कोई कसर नहीं छोड़ी। प्रचार के कूटनय का पूरा सहारा लिया गया और शीत युद्ध का दौर इस तरह पुन शुरू किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक वातावरण अमेरिका के पक्ष मे हो गया। अमेरिका ने विमानकाण्ड को इस प्रकार लिया मानो उस पर ही सीधा हमला किया गया हो। यात्रा राजनय और शिखर राजनय का मार्ग अपनाते हुए अप्रैल 1984 के अन्त में राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग की यात्रा की। पाकिस्तान को अपने पक्ष मे रखने के लिए रीगन प्रशासन ने सहायता राजनय (Aid Diplomacy) को पूरी तरह अपनाया है। रीगन प्रशासन की विदेश नीति और राजनयिक गतिविधियाँ इस उप महाद्वीप में भारत विरोधी रही हैं। सैनिक सहायता कार्यक्रम अमेरिका की विदेश नीति और राजनय का प्रारम्भ से ही अस्त्र रहा है तथापि रीगन के कार्यालय में इसे बेहद प्रोत्साहन मिला है। रीगन प्रशासन की कूटनीति हर क्षेत्र मे तनाव और अस्थिरता पैदा करने की है।

अपने शासन के अतिम वर्षों मे रीगन ने सोवियत सघ के साथ सबध सुधारने की दिशा मे सकारात्मक प्रयत्न किये। सोवियत सघ और सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ परमाणु हथियारों के परिसीमन की दिशा मे अनेक वार्ताओं के दौर चले। इतना ही नहीं नवम्बर 1985 मे जेनेवा और अक्टूबर 1986 मे आइसलैण्ड की राजधानी राइकजाविक में रीगन और गोर्बाच्योव के बीच शिखर सम्मेलन आयोजित हुए। इससे दोनों देशो के बीच सबधों मे सुधार हुआ। शीतयुद्ध मे कमी आई।

राष्ट्रपति रीगन ने चीन के साथ मित्रतापूर्ण सबधो का विस्तार किया। सन् 1984 ई मे उन्होंने चीन की यात्रा की। दोनों देशों के बीच अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये।

रीगन प्रशासन ने एशिया में पाकिस्तान की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए उसे भारी मात्रा मे सैनिक सहायता प्रदान की। इस सैनिक सहायता मे एफ 16 लडाकू विमान और अवाक्स विमान जैसे सहारक विमान भी शामिल थे। इस अमेरिकी सहायता का भारत ने घोर विरोध किया और इसे अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही माना।

रीगन के कार्यकाल मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व मे स्थित अपने सैनिक अड्डों और विशेषकर हिन्द महासागर में स्थित डियागोगार्सिया के सैनिक अड्डे का विस्तार किया। इस काल में उत्तरी अटलांटिक सधि सगठन को भी सुदृढ किया। पाश्चात्य यूरोपीय देशों और सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच सबध अच्छे रहे। ग्रेट-ब्रिटेन सयुक्त राज्य अमेरिका के सबसे बड़े मित्र के रूप में उभरा।

पश्चिमी एशिया मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी परम्परागत इजरायल समर्थक नीति को जारी रखा। श्री यासिर अराफात के नेतृत्व वाले फिलस्तीनी मुक्ति मोर्चे को अमेरिका द्वारा मान्यता नहीं दी गई।

मध्य अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका पर सयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने वर्चस्व की नीति को बरकरार रखा। रीगन प्रशासन ने निकारागुआ के कोन्ट्रा विद्रोहियों को भारी मात्रा में सैनिक और आर्थिक सहायता प्रदान की।

सुदूर पूर्व मे राष्ट्रपति रीगन ने जापान और दक्षिणी कोरिया के साथ मैत्रीपूर्ण सबध बनाये रखने की नीति को कायम रखा।

सयुक्त राज्य अमेरिका ने विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देने के राजनय को जारी रखा लेकिन इसके मूल में इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर वर्चस्व कायम करना था।

रीगन के कार्यकाल में सयुक्त राज्य अमेरिका ने सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। यूनेस्को की सदस्यता छोड़ना फिलस्तीनी नेता यासिर अराफात को सयुक्तराष्ट्र की महासभा को सबोधित करने के लिए 'वीसा' नहीं देना और सयुक्त-राष्ट्र सघ के खर्च के लिए धनराशि देने में आनाकानी करने जैसी घटनाओं के सदर्भ में यह कहा जा सकता है कि रीगन प्रशासन का सयुक्त-राष्ट्र सघ के प्रति रवैया विरोधी रहा।

असलग्न आन्दोलन के प्रति भी रीगन-प्रशासन का दृष्टिकोण अच्छा नहीं रहा। उसकी यह धारणा थी कि असलग्न राष्ट्र सोवियत सघ के पिछलग्गू हैं और वे सयुक्त राज्य अमेरिका के विरोधी हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रीगन के कार्यकाल में अमेरिकी राजनय सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति में लगा रहा। सयुक्त राज्य अमेरिका का रक्षा-व्यय भी बहुत बढ गया। फिर भी सोवियत सघ के साथ तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया के कारण शीतयुद्ध मे कमी आई।

रीगन के पश्चात् जार्ज बुश ने देश के 41 वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। उनके कार्यकाल में सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति और राजनय की कतिपय विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है

प्रथम सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ के बीच तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया जारी रही। सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव और राष्ट्रपति जार्ज बुश के बीच वार्ताओं

के अनेक क्रम चलते रहे। सन् 1991 मे मैड्रिड में पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिए आयोजित सम्मेलन मे दोनो नेताओं ने भाग लिया। परमाणु हथियारों के परिसीमन के लिए भी दोनों देशों के बीच विभिन्न समझौते सपन्न हुए। राष्ट्रपति जार्ज बुश ने सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव को अपना समर्थन दिया। अगस्त 1991 में जब राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव का तख्ता पलट दिया गया तो सयुक्त राज्य अमेरिका ने इसकी कड़ी आलोचना की। सोवियत राष्ट्रपति की पुन सत्ता मे वापसी मे सयुक्त राज्य अमेरिका का महत्वपूर्ण हाथ रहा।

द्वितीय पश्चिमी एशिया मे सयुक्त राज्य अमेरिका का वर्चस्व कायम रहा। सन् 1991 के खाड़ी युद्ध में सयुक्त राज्य अमेरिका की विजय ने इस क्षेत्र मे उसकी स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ बना दिया। सयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व मे 28 देशों की बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक से कुवैत को स्वतत्र कराने के उद्देश्य से प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की। अमेरिकी विमानों ने इराक पर भीषणतम आक्रमण किये। परिणामस्वरूप इराक को पराजय का सामना करना पड़ा। कुवैत को स्वतत्र करा लिया गया। खाड़ी युद्ध मे सयुक्त राज्य अमेरिका की विजय ने विश्व राजनीति का स्वरूप ही बदल दिया।

तृतीय अरब इजरायल समस्या के समाधान की दिशा मे भी सयुक्त राज्य अमेरिका ने गभीरता से प्रयास किये। विदेशमत्री जेम्स बेकर ने इस समस्या का समाधान करने के लिए अथक प्रयास किये। यह उनके अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि मैड्रिड में इजरायलियों और अरबों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता सभव हो सकी। दोनों ही पक्षों के बीच खुलकर वार्ताएं हुई और इससे मतभेदों को कम करने में सहायता मिली।

चतुर्थ सयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की दिशा में अपनी भूमिका का निर्वाह किया। जर्मनी के एकीकरण के बाद की प्रक्रिया में भी जार्ज बुश की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

पचम् सयुक्त राज्य अमेरिका ने विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देते समय मानव अधिकारों को भी एक मुद्दा बनाया। मानवाधिकारों का हनन करने वाले देशों को आर्थिक सहायता रोक दी गई।

षष्ठम दिसम्बर 1991 ई मे सोवियत सघ के विघटन के पश्चात् सयुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गया है। इससे विश्व में शीतयुद्ध का युग समाप्त हो गया। स्वय राष्ट्रपति जार्ज बुश ने गर्वोक्ति से कहा कि हम इस युद्ध में विजयी रहे। निस्सदेह वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व पर सयुक्त राज्य अमेरिका की चौधराहट कायम हो गई है।

सप्तम जार्ज बुश के नेतृत्व मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए इसे सभी समय सहयोग दिया। इसके नये महासचिव बतरास घाली के निर्वाचन में भी सयुक्त राज्य अमेरिका की अहम् भूमिका रही।

अष्टम चीन और सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच भी सबधों में उत्तरोत्तर सुधार आता गया।

नवम् जार्ज बुश ने भूतपूर्व सोवियत सघ से अलग हुए तीनों बाल्टिक गणराज्यों लैटविया लिथुआनिया और इस्तोनिया को तुरन्त राजनयिक मान्यता देने का निर्णय लिया।

इनके अलावा सोवियत संघ से अलग हुए अन्य 12 गणराज्यों को भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने मान्यता दे दी। इतना ही नहीं रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन के नेतृत्व में गठित 11 गणराज्यों के राष्ट्रमंडल को भी जार्ज बुश का पूर्ण समर्थन प्राप्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिकी राजनय के विविध स्वरूप रहे है और उस पर अनेक तत्वों का प्रभाव रहा है। इस विवेचन का निम्नलिखित रूप से अध्ययन किया जा सकता है

प्रथम तनाव शैथिल्य (Detente) और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का राजनय अमेरिकी राजनय की एक प्रमुख विशेषता रहा है।

द्वितीय, शिखर सम्मेलनीय राजनय का प्रयोग भी अमेरिकी राजनय की एक अन्य विशिष्टता रही है। फ्रेंकलिन रुजवेल्ट से लेकर जार्ज बुश तक सभी राष्ट्रपतियों ने इस राजनय को अपनाया है।

तृतीय संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने राजनय में प्रचार माध्यमों का खुलकर सहारा लिया गया है। पत्र पत्रिकाओं पुस्तकों और रेडियो प्रसारण द्वारा अपने पक्ष का प्रचार किया जाता है।

चतुर्थ सहायता के राजनय के माध्यम से भी संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने पक्ष में वातावरण तैयार किया जाता रहा है और सहायता प्राप्त करने वाले देशों की विदेशनीति को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया जाता रहा है। सहायता के राजनय को दबाव के राजनय के रूप में अपनाया जाता रहा है।

पचम, शस्त्रास्त्र के राजनय के माध्यम से भी अमेरिका ने अन्य देशों की विदेशनीति को प्रभावित किया है।

षष्ठम, अमेरिकी राजनय पर जनमत का भी प्रभाव रहा है।

सप्तम, यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका प्रजातान्त्रिक राजनय का दावा करता है लेकिन व्यवहार में उसकी नीतियाँ तानाशाही और राजतन्त्रात्मक शक्तियों को समर्थन देने की रही है।

अष्ठम, अमेरिकी राजनय में उसकी गुप्तचर संस्था सी आई ए (Central Intelligence Agency) की भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस संस्था ने न केवल जासूसी के कार्य का ही निर्वाह किया है अपितु उस पर यह भी आरोप रहा है कि उसने राज्यों से अस्थिरता उत्पन्न करने के लिए उन राजनेताओं को भी अपने मार्ग से हटाया है जो अपने देशों का सक्षमता के साथ नेतृत्व कर रहे थे। अत इस संस्था पर अन्तर्हस्तक्षेप और हत्याओं की राजनीति के आरोप भी लगाये जाते रहे हैं।

नवम, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा युद्धपोत राजनय (War Boat Diplomacy) का भी सहारा लिया जाता रहा है।

दशम, भूतपूर्व अमेरिकी विदेशमन्त्री डा हेनरी कीसिंगर द्वारा अपनाये गये राजनय को 'शटल राजनय' की संज्ञा दी जाती है।

ग्यारहवें, राजनय के आरम्भिक काल में लूट प्रथा (Spoil system) के कारण प्रशिक्षित राजदूतों की नियुक्ति नहीं होती थी, लेकिन अब कुशल और प्रशिक्षित राजनयिक प्रतिनिधियों

द्वारा ही इस कार्य का निर्वाह किया जाता है। सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भी इस पद पर नियुक्ति की जाती रही है।

सोवियत संघ का राजनय
(Diplomacy of Soviet Union)

सन् 1917 में लेनिन के नेतृत्व में सोवियत संघ में साम्यवादी क्रान्ति सफल हुई। पूँजीवादी देशों द्वारा इस क्रान्ति को असफल बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये गए।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक सोवियत राजनय द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का सोवियत राजनय निम्नलिखित अवस्थाओं में से होकर गुजरा

प्रथम अवस्था (1917 1921) शासन के इन प्रारम्भिक चार वर्षों में सोवियत शासकों का मुख्य लक्ष्य देश में साम्यवादी शासन को सुदृढ़ करना तथा विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार प्रसार करना था। मार्च 1919 में मास्को में एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार करने के लिए सोवियत संघ की सहायता से तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय या कोमिंटर्न (Comintern) का निर्माण किया गया। सन् 1921 ई तक सोवियत विदेशनीति और कूटनीति का मुख्य उद्देश्य साम्यवादी क्रान्ति का प्रचार करने के लिए विश्व के क्रान्तिकारियों और विद्रोहियों को सहायता करना था।

नवीन साम्यवादी रूस ने सभी विदेशी ऋणों को चुकाने से इन्कार कर दिया। इसके साम्यवादी सरकार के अतिरिक्त विदेशी पूँजी से स्थापित औद्योगिक संस्थानों का राष्ट्रीयकरण सब ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित करना तथा व्यापारिक जहाजों का राष्ट्रीयकरण आदि ऐसे कार्य किये गए जिनसे पश्चिम से रूस के सम्बन्ध बहुत कटु एवं शत्रुतापूर्ण हो गए।

पाश्चात्य राष्ट्रों द्वारा रूस के गृह युद्ध में बोल्शेविक विरोधी दलों को युद्ध सामग्री की सहायता और सैनिक हस्तक्षेप तथा रूस के आर्थिक प्रतिरोध की नीति थी। साम्यवादियों की कार्यवाही से क्रोधित होकर मित्रराष्ट्रों ने रूस की सोवियत सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इन राष्ट्रों की सक्रिय सहायता पाकर प्रतिक्रियावादियों ने कई जगह श्वेत सरकारें कायम कर लीं। मित्रराष्ट्र क्रान्तिकारियों को केवल भड़काकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु सोवियत संघ का अन्त करने के लिए उन्होंने स्वयं उस पर धावा बोल दिया। फिर भी रूस पर आक्रमण करने के लिए कोई न कोई बहाना होना चाहिए था और मित्रराष्ट्रों ने धावा बोलने से पहले ऐसा बहाना खोज निकाला। उस समय आर्केञ्जिल तथा मुरमांस्क में युद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में पड़ी थी। मित्र राष्ट्रों को भय था कि यह विशाल युद्ध सामग्री कहीं जर्मनी के हाथ न लग जाए। अतः इस सामग्री को जर्मनी से बचाने का बहाना लेकर मित्रराष्ट्रों ने रूस पर विधिवत् आक्रमण कर दिया। इन राष्ट्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस जापान जर्मनी ऑस्ट्रिया हंगरी चेकोस्लोवाकिया रूमानिया सर्बिया ग्रीस टर्की फिनलैण्ड पोलैण्ड तथा राष्ट्रवादी चीन प्रमुख थे। इस शोचनीय स्थिति में रूस की रक्षा करने के लिए ट्राटस्की के नेतृत्व में लाल सेना युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ी।

अन्त में बोल्शेविकों की विजय हुई। मित्र राष्ट्रों की सहायता मिलने के बावजूद क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक मैदान में नहीं टिक सके। बोल्शेविकों ने

बहुत क्रूरता के साथ उनका दमन कर दिया। अक्टूबर 1920 में युद्ध समाप्त हो गया और 1921 तक रूस मे सर्वत्र बोल्शेविक शासन सुदृढ़ हो गया। मित्रराष्ट्रों द्वारा क्रान्ति को कुचलने के सैनिक प्रयत्नों तथा आर्थिक प्रतिरोध ने रूस को उनका कट्टर विरोधी तथा अविश्वासी बना दिया।

सोवियत रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की इस पहली रस्सा-कशी में दोनों पक्ष बराबर रहे। न तो रूसी साम्यवादी विश्व-क्रान्ति के अपने स्वप्न को साकार करने में सफल हुए और न ही पश्चिमी राज्य साम्यवादी रूस को नष्ट कर पाए। इस तरह पूँजीवादी और साम्यवादी शक्तियों का प्रथम सघर्ष अनिर्णीत अवस्था में समाप्त हुआ।

द्वितीय अवस्था (1921-1934) रक्षात्मक पार्थक्य (Defensive Isolation) की थी। इस काल मे रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ सन्धियाँ सम्पन्न कीं उनसे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाए और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। इस अवस्था में वह पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और उसने राष्ट्रसघ की सदस्यता भी ग्रहण नहीं की। इस अवधि में यद्यपि रूस ने पूँजीवादी राज्यों से समझौता करने की नीति का अनुसरण किया, परन्तु कोमिन्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के कारण पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। इसलिए सयुक्त राज्य अमेरिका 1933 से पूर्व रूसको वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए तैयार नहीं हुआ। किन्तु उसकी अधिक समय तक उपेक्षा करना सम्भव न था। रूस अब कोई सामान्य शक्ति नहीं रह गया था। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एक महान् शक्ति के रूप में उदित हो चुका था। अत जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने सोवियत सघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयत्न शुरू किए। लन्दन में विश्व-अर्थ-सम्मेलन (1933) के अवसर पर सर्वप्रथम अमेरिकी प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की भेंट हुई। इसके बाद दोनों में एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा दोनों सरकारों ने एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा और विरोधी प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अमेरिका की यह बात मान ली कि वह अपने देश में आने वाले अमेरिकी यात्रियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। इस सन्धि का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि रूस की साम्यवादी सरकार को ससार की महान् शक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

तीसरी अवस्था (1934-1938) : इस काल में रूस राष्ट्रसघ का सदस्य बना और साथ ही उसने पश्चिम के साथ सहयोग करने की नीति अपनाई। राष्ट्रसघ में प्रवेश के बाद मई, 1953 में रूस ने अपने पिछले सभी मतभेदों एव झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का 1894 जैसा सैनिक समझौता किया। इसके बाद पोलैण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्को ने अनाक्रमण समझौते किए और टर्की तथा ग्रेट ब्रिटेन से घनिष्ठता स्थापित की। 16 मई, 1935 को चेकोस्लोवाकिया के साथ भी उसकी सन्धि हुई। इस तरह रूस ने फ्रांस एव चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध सगठन सुदृढ़ किया। मार्च 1936 में बाह्य मगोलिया के साथ एक पारस्परिक सहायता-सन्धि की गई जिसका उद्देश्य आन्तरिक मगोलिया में जापान के प्रवेश को रोकना था। इस समय तक रूस वस्तुत एक विशाल शक्ति-सम्पन्न देश बन चुका था।

इन सभी समझौतों और सन्धियों से रूस की स्थिति पर्याप्त सुदृढ हो गई। इस समय तक साम्यवादी कूटनीति ने एक और भी नया क्रान्तिकारी मोड़ लिया। देश तथा विदेश दोनों में 1934-35 में कोमिण्टर्न में यकायक एक सवाल उठा। विश्व क्रान्ति नीति के प्रतिकूल रूस ने पाश्चात्य लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में साम्यवादियों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले बुर्जुआ दलों—उदारवादी समाजवादी आदि के साथ मिलकर सयुक्त मोर्चा बनाने का आह्वान किया। फलस्वरूप अब प्रत्येक देश के साम्यवादी दलों ने अन्य प्रगतिशील तत्वों के साथ फासिस्टवाद के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा स्थापित किया। वास्तव मे रूसी विदेश नीति में यह बिल्कुल नया परिवर्तन था क्योंकि जो समाजवादी उदारवादी आदि उपर्युक्त सभी दल 'पूँजीवाद के पिट्ठू' कहे जाते थे वे 1934 के बाद अब 'साम्राज्यवाद के विरुद्ध किए जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी' समझे जाने लगे।

सन् 1934 से 1938 तक सोवियत रूस ने पाश्चात्य देशों के साथ सहयोग और मैत्री की नीति तो अपनाई परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रूस और पश्चिम के मध्य कोई वास्तविक मित्रता स्थापित न हो सकी। सोवियत सघ और पाश्चात्य देशों मे पारस्परिक अविश्वासों की भावना थी। पश्चिमी देशों की फासिस्ट आक्रमणों को रूसी साम्यवाद को रोकने मे अधिक दिलचस्पी थी। पहला अवसर इटली एबीसीनिया युद्ध का था। इसमें रूस ने राष्ट्रसघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमण से अदिस अबाबा की रक्षा का भरसक प्रयास किया लेकिन ब्रिटेन और फ्रौस ने एबीसीनिया तथा राष्ट्रसघ की बलि देकर भी मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर स्पेनिश महायुद्ध का था। इस अवसर पर रूस ने स्पेन की जनतन्त्रीय सरकार को सहायता भेजी और ऐंग्लो फ्रें च सरकारों मे भी फासिस्टवादी फ्रे कों मे सहायता ली। स्टालिन ने अपने वक्तव्य से इस बात का स्पष्ट आभास दे दिया कि रूस को पश्चिमी शक्तियों से सहयोग की आशा करना पूरी मृग मरीचिका थी।

चौथी अवस्था (1938-39) में रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक रहने एव सकटपूर्ण पार्थक्य (Dangerous Isolation) की नीति अपनाई। सितम्बर 1938 के म्यूनिख समझौते के बाद से ही रूस ने वस्तुत अपने आपको सकटापन्न स्थिति में पाया। रूस का कोई विश्वासपात्र मित्र नहीं था। रूस इस बात का भली भाँति अनुमान लगा चुका था कि पश्चिमी शक्तियाँ जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रही हैं। जब रूस पश्चिम की तरफ से निराश हो गया तो उसने अपनी आत्म रक्षार्थ धुरी राष्ट्रों से मैत्री के प्रयास तेज कर दिए और अगस्त 1939 मे जर्मन समझौता एक वज्रपात के समान था। पाश्चात्य देशों ने इस समझौते का विरोध किया।

यद्यपि रूस ने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया तथापि वह जर्मनी के इरादों को भाँपकर स्वय को उसके विरुद्ध शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर तैयारी करता रहा। सितम्बर 1939 मे द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। रूस महायुद्ध के आरम्भ मे तटस्थ रहा। किन्तु अपनी सम्पूर्ण कूटनीतिक सावधानियों के बाद भी वह जून 1941 मे अपने ऊपर जर्मनी के आक्रमण को रोक नहीं सका। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय रगमच के अभिनेताओं के रूप मे सोवियत नेताओं ने अपना पैंतरा बदला और अब वे नाजी जर्मनी के सहायक न होकर राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ बन गए तथा प्रजातन्त्रात्मक ब्रिटेन का समर्थन करने लगे। 13 जुलाई 1941 को सोवियत रूस और ब्रिटेन ने एक पारस्परिक सहायता

समझौता किया जो मई 1942 में औपचारिक आँग्ल सोवियत सन्धि के रूप में परिणत हो गया। 24 सितम्बर 1941 को सोवियत संघ अपनी विदेश नीति को राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित करता था और करता है। वह प्रत्येक देश की स्वतंत्रता व प्रादेशिक अखण्डता के अधिकार की रक्षा करता है तथा उनके इस अधिकार को स्वीकार करता है कि वे अपने उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था एवं सरकार का रूप निश्चित कर लें। 1 जनवरी 1942 को सोवियत रूस संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर कर धुरी राष्ट्र विरोधी संघ में औपचारिक रूप से सम्मिलित हो गया। मई 1943 ई. में सोवियत संघ द्वारा औपचारिक रूप से कोमिन्टर्न को समाप्त कर दिया गया।

द्वितीय महायुद्धकाल में सोवियत राजनय

युद्धकाल में सोवियत संघ के लक्ष्यों को इसके सैनिक और कूटनीतिक कार्यों द्वारा ही जाना जा सकता है। कई पर्यवेक्षकों का कहना है कि सोवियत नेता जारशाही साम्राज्यवादी लक्ष्यों से प्रेरित थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उनके पद चिन्हों पर ही चल रहे थे यद्यपि जारशाही द्वारा सोवियत रूसी हितों का और जनता की महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता था इसलिए उसे अपनाया जाना उपयोगी था। युद्ध द्वारा रूस ने पहले तो उन प्रदेशों को प्राप्त करने का प्रयास किया जो जारशाही के समय दूसरे देशों द्वारा ले लिये गए थे। सुदूर पूर्व में रूसी जापानी युद्ध में हार के कारण जारशाही ने अनेक प्रदेशों पर से अधिकार छोड़ दिया था। इन प्रसारवादी उद्देश्यों के साथ साथ सोवियत सरकार ने युद्ध से कुछ एक ऐसे लक्ष्य प्राप्त करने की भी चेष्टा की जो जारशाही सरकार द्वारा रूसी साम्राज्य के हित में नियोजित किए गए थे किन्तु प्राप्त नहीं किए जा सके। इन उद्देश्यों में पहला यह था कि यूरोप में प्रभाव का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ाया जाए कि वहाँ सोवियत सैनिक और कूटनीतिज्ञ सुरक्षित रह सकें। दूसरे, काले सागर के दर्रे पर नियन्त्रण किया जाए और तीसरे जब कभी अवसर प्राप्त हो निकट मध्य एवं सुदूर पूर्व में तथा विश्व में हर जगह सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ाया जाए।

वस्तुतः प्रत्येक विदेशी साम्यवादी का यह कर्तव्य माना गया कि वह अपने पूरे प्रभाव से प्रत्येक सोवियत सैनिक एवं कूटनीति का समर्थन करे। ऐसा करते समय यदि उसे अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की अवहेलना भी करनी पड़े तो वह पीछे न हटे क्योंकि सोवियत सरकार के लक्ष्य एवं उद्देश्य सर्वोच्च हैं और वह विश्व साम्यवादी आन्दोलन की आत्मा है। वैसे सोवियत नेताओं को विदेशी साम्यवादियों के प्रयासों पर अधिक भरोसा एवं विश्वास नहीं था किन्तु फिर भी वे प्रसारवादी कूटनीति को चालू रखना चाहते थे। उनके लिए *द्वितीय विश्वयुद्ध सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए एक युद्ध नहीं था वरन् वह एक* ऐतिहासिक संघर्ष था जिससे विश्व साम्यवाद की ओर मुड़ सके। स्टालिन सहित सभी सोवियत नेताओं ने द्वितीय विश्वयुद्ध में यद्यपि विश्व साम्यवाद का प्रचार किया किन्तु उनका मुख्य ध्यान सोवियत रूस की राजनीतिक शक्ति पर था। उन्होंने सजगता के साथ अपने सैनिक एवं कूटनीतिक कार्यों को समन्वित किया।

22 जून 1941 को हिटलर का सोवियत रूस पर आक्रमण हो गया और सम्पूर्ण फासिस्ट यूरोप सोवियत संघ के विरुद्ध एकत्र हो गया। रूसी सेनाओं ने बड़ी बहादुरी के

साथ जर्मन सेनाओं का मुकाबला किया। युद्ध के समय पाश्चात्य राष्ट्रों ने सोवियत संघ के प्रति सहयोगात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उनकी जर्मनी और सोवियत रूस दोनों के विनाश में रुचि थी।

दिसम्बर 1941 में ग्रेट-ब्रिटेन के विदेश सचिव एन्थनी ईडन मास्को गए और इस प्रकार सोवियत नेताओं को पश्चिमी मित्रों के साथ उच्च स्तरीय सम्मेलन का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। इसी समय लाल सेना ने जर्मनी के सैनिकों को मास्को के दरवाजों पर रोक दिया था। सम्मेलन के दौरान स्टालिन अपनी अन्तिम विजय के प्रति आश्वस्त था। स्टालिन ने इस सम्मेलन में युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करने पर जोर दिया, किन्तु ईडन ने कहा कि ग्रेट ब्रिटेन सीमा सम्बन्धी प्रश्नों पर युद्ध के बाद ही विचार करने के अमेरिकी विचार से सहमत है। मई 1942 में जब मोलोटोव आँग्ल-सोवियत संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए लन्दन गए तो उन्होंने पुनः सोवियत माँग को दोहराया किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने पुनः इसे मानने से मना कर दिया।

सोवियत संघ की यूरोप में बड़ी महत्वाकाँक्षाएँ थीं और ग्रेट-ब्रिटेन इनसे परिचित था। स्टालिनग्राड के युद्ध के बाद सोवियत सेना पूर्वी क्षेत्र में निष्क्रिय बन गई और अब सोवियत सरकार को सफलता का महान् आश्वासन मिला। उसने पश्चिमी शक्तियों की परवाह किए बिना ही पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना शुरू किया। सोवियत महत्वाकाँक्षाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाला पोलैण्ड था। पोलैण्ड की निष्कासित सरकार ग्रेट-ब्रिटेन में स्थित थी। उसका सोवियत संघ के प्रति पर्याप्त कटु अनुभव था क्योंकि इसने 1939 में पोलैण्ड को नष्ट करने में भाग लिया था। सोवियत संघ ने यह प्रदर्शित किया कि युद्ध के बाद पोलैण्ड के संगठन में उसका हाथ है और इसके बाद उसने सोवियत सेना के अधीन पोलिश संघ के देशभक्तों को मास्को में जमा किया जो साम्यवादी पोलिश सरकार की नाभि का काम कर सकें। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने चेकोस्लाव, यूगोस्लाव और रूमानिया की ब्रिगेड भी गठित की जिसमें अधिकृत सिपाहियों को भर्ती किया गया। मास्को ने लन्दन में किंग पीटर II के अधीन यूगोस्लाव सरकार से वार्ता जारी रखी और कैरो में जॉर्ज द्वितीय के अधीन यूनानी सरकार से भी सम्पर्क बनाए रखा। सोवियत संघ ने लन्दन स्थित राष्ट्रपति एडवर्ड वीनस (Edward Venus) के अधीन यूगोस्लाव सरकार से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखे। जुलाई और सितम्बर 1943 में स्वतन्त्र जर्मनी के लिए राष्ट्रीय समिति और जर्मन अधिकारियों का संघ मास्को में गठित किया गया। इसका निर्देशन निष्कासित जर्मनों द्वारा किया जाता था किन्तु इनमें जर्मन अधिकारी भी शामिल थे। उस समय सम्पूर्ण जर्मनी या उसके किसी भाग पर सोवियत संघ के अधिकार के आसार दूर दिखाई दे रहे थे। उस समय मास्को में स्थित जर्मन समूहों का तत्कालीन कार्य यह था कि जर्मन सिपाहियों को आत्म समर्पण के लिए समझा कर उनकी युद्ध-क्षमता एवं प्रयासों को कम किया जाए। अवसर आने पर इसका उपयोग जर्मनी पर सोवियत प्रभाव बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता था।

सोवियत नीति के असन्तुलन ने पश्चिमी शक्तियों को भ्रम में डाल दिया तथा उनको सोवियत लक्ष्यों के वास्तविक रूप का अनुमान नहीं हो सका। सोवियत संघ द्वारा जो भी आश्वासन दिए जाते थे उनको प्रारम्भ में अमेरिका द्वारा ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया

जाता था किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन के लोगों को उनके बारे में विश्वास कम था। सोवियत सघ का प्रसार यूरोप में होता जा रहा था किन्तु उच्च स्तर के अमेरिकी कूटनीतिज्ञों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अमेरिकी सरकार एव जनता यह मानकर चल रही थी कि युद्ध के बाद पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप में सोवियत सघ का प्रभाव होना ही चाहिए। उन्होंने सावियत प्रभाव को इन क्षेत्रों में प्रजातन्त्र की स्थापना के विपरीत नहीं माना। उनका तर्क था कि यदि ऐसा कुछ होता तो सोवियत सघ द्वारा अटलाण्टिक चार्टर एव सयुक्त राष्ट्रों की घोषणा में विश्वास ही क्यों किया जाता ? उस समय सयुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवाद एव सोवियत मामलों के कुछ ही ऐसे जानकार थे जो सोवियत सघ के इरादों को सन्देह की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि सोवियत सघ द्वारा पड़ोसियों को मित्र बनाने पर जोर दिए जाने के पीछे कुछ रहस्य है और वह सम्भवत यह है कि उसके पड़ोसी भी साम्यवादी देश बन जाएँ, क्योंकि लेनिन की दो गुट की विचारधारा के अनुसार पूँजीवादी-समाजवादी गुट तो कभी मित्र हो ही नहीं सकते और इसलिए एक राष्ट्र सोवियत सघ का दोस्त तभी बन सकता है जबकि वह लाल झण्डे के नीचे आ जाए। सामान्यत अमेरिकी सरकार एव जनता को सोवियत मैत्री में कोई शक नही था और सामान्य पश्चिमी हित के विषय उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन को सौंप दिए।

मित्र राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का प्रथम सम्मेलन मास्को में अक्टूबर, 1943 मे हुआ। इस समय अमेरिकी राज्य सचिव कार्डेल हल (Cordell Hull) एव ब्रिटिश विदेश मन्त्री ईडन (Eden) ने सोवियत एव पोलिश सरकारों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया किन्तु कोई सफलता नहीं मिली। अमेरिकी दृष्टिकोण पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त स्टालिन ने कार्डेल हल को यह कहा कि जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त हो जाने के बाद सोवियत सघ जापान के विरुद्ध युद्ध में हस्तक्षेप करेगा। सोवियत सघ ने अप्रेल, 1941 में जापान के साथ अनाक्रमण सन्धि की थी और इस प्रकार का कोई इरादा इस सन्धि का स्पष्ट उल्लघन था। इस अनैतिक आश्वासन से भी अमेरिकी सैनिक नेता यूरोप मे सोवियत सघ की विस्तारवादी नीतियों के प्रति आश्वस्त रहे।

तेहरान मे 28 नवम्बर से 1 दिसम्बर 1943 तक तीन बड़े राष्ट्राध्यक्षों का प्रथम सम्मेलन हुआ। चर्चिल रूजवेल्ट एव स्टालिन ने ईरान की राजधानी में पारस्परिक हित के विषयों पर विचार विमर्श किया।

जून 1944 मे मित्र राष्ट्रों ने फ्रांस पर आक्रमण किया। इस अवसर पर सोवियत सेना 1941 की सीमा पर पहुँच गई तथा वहाँ से उसने पोलैण्ड रूमानिया तथा बाल्टिक राज्यों पर आक्रमण करने का कार्यक्रम बनाया। सोवियत सघ ने जब इन उपराज्यों के साथ शान्ति सन्धियाँ कीं तो पश्चिम से नहीं पूछा गया। यह एक प्रकार से उनके गर्व के लिए गहरी चोट थी। इतने पर भी इन देशों ने मित्रराष्ट्रों की एकता की खातिर इन पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इस प्रकार इन सन्धियों को सभी मित्रराष्ट्रो द्वारा किया हुआ मान लिया गया। उस समय यह कल्पना की गई थी कि ये समझौते केवल अस्थायी प्रकृति के हैं जिनको भावी शान्ति-सम्मेलन में परिवर्तित किया जा सकता है। पश्चिमी देशों ने इन उपराज्यों में सोवियत गतिविधियों पर नजर रखने की व्यवस्था की। यह कार्य उन्होंने हेलसिंकी बुखारेस्ट सोफिया एव बुडापेस्ट में नियुक्त अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से किया। इन प्रतिनिधियों को ऐसा अनुभव हुआ मानो सोवियत प्रतिनिधियों से वे पृथक् हैं

तथा उनकी अवहेलना की जा रही है। सोवियत प्रतिनिधियों को मित्रराष्ट्र युद्धबन्द आयोगों का सभापति बनाया गया क्योंकि सामान्यत स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार प्रमुख दायित्व उसी देश का माना जाता है जिसने एक प्रदत्त क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। ज्यों ज्यों सोवियत सेना पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में बढती गई त्यों त्यों उसके नरसहार अत्याचार बलात्कार एव अमानवीय व्यवहार की चर्चा बढने लगी जो सोवियत सेना द्वारा विजित क्षेत्र की जनता पर किए जाते थे। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह थी कि सोवियत सेना की सहायता से देशी साम्यवादी या तो मास्को से लौटकर अथवा भूमिगत क्षेत्रों से निकल कर सत्ताधारी बनने लगे। सोवियत शक्ति द्वारा इस काम में इनकी पूरी सहायता की जाती थी। अमेरिका अभी तक भी इन घटनाओं से सचेत नहीं हुआ था किन्तु ग्रेट ब्रिटेन पर्याप्त सतर्क बन गया। चर्चिल ने पहले भूमध्यसागर से यूरोप पर आक्रमण का समर्थन किया था किन्तु अब वह बल्कान में एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर मित्रराष्ट्रों की सेना रखने पर जोर देने लगा ताकि पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में सोवियत शक्ति को मर्यादित रखा जा सके। किन्तु जो अमेरिकी जनरल भूमध्यसागर में कार्यवाही करने में रुचि नहीं लेते थे उन्होंने इस कार्यक्रम को रण नीति की दृष्टि से अनुपयुक्त एव हल्का बताया। सच तो यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस क्षेत्र में इटली की सेना को आगे बढने की बजाय बुरी तरह मार खानी पडी थी। जब चर्चिल ने आइजनहावर के मुख्यालय में जाकर यह बात कही तथा इसके पक्ष में तर्क दिए तो इके (Ike) ने कहा नहीं। वह दोपहर बाद तक नहीं कहता गया और अन्त में उसने अग्रेजी भाषा के प्रत्येक रूप में 'नहीं' कहा।

चर्चिल आसानी से ही हिम्मत हारने वाला नहीं था। उसने सितम्बर 1944 मे द्वितीय क्यूबेक सम्मेलन (*Quebec Conference*) में रूजवेल्ट के सामने भी इस बात को रखा। उसने इस पर कोई ऐतराज नहीं किया कि चर्चिल अकेला ही स्टालिन के साथ समझौता कर ले। अक्टूबर 1944 में चर्चिल तथा ईडन मास्को गए। यहाँ उन्होंने पुन. पोलैण्ड के प्रश्न को सुलझाने की बात कही। किन्तु रूसी तानाशाह अधिक से अधिक इस बात पर सहमत हुआ था कि लन्दन के पोलों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए पोलिश समिति में प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। स्टालिन ने अन्य ब्रिटिश सुझावों के प्रति अधिक अच्छा रुख अपनाया। इस अवसर पर चर्चिल ने स्टालिन को प्रतिशत का विचार सुझाया जिसके अनुसार बल्कान में उत्तरदायित्व का प्रतिशत के आधार पर विभाजन करना था। स्टालिन ने यह प्रस्ताव बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया। उत्तरी एड्रियाटिक में ब्रिटेन के बने रहने की योजना को भी उसने इसी प्रकार स्वीकार कर लिया।

घर लौटने पर चर्चिल ने देखा कि उसके स्वय के जनरल पूर्ण अमेरिकी सहायता के बिना इस कार्यवाही के करने के लिए उत्सुक नहीं थे। उन्होंने भी यह सुझाव दिया कि यह कदम फरवरी 1945 से पूर्व उठाना प्रभावकारी नहीं रहेगा। दिसम्बर 1945 में उसने इस कार्यक्रम का बहिष्कार कर दिया। इस लेन देन का एकमात्र फायदा चर्चिल को यह हुआ कि यूनान में अपना प्रभाव बढाने में वह सफल हो सका। सोवियत सरकार ग्रेट ब्रिटेन के साथ समझौते के परिणामस्वरूप केवल इतनी सीमित रही कि उसने बल्कान क्षेत्र में आगे बढना रोक दिया। सोवियत सेनाएँ बेलग्रेड बुडापेस्ट और वार्सा होती हुई पश्चिम वियना प्राग बर्लिन की ओर आगे बढीं।

फरवरी 1945 में 'तीन बड़ों' अर्थात् रूजवेल्ट चर्चिल और स्टालिन का द्वितीय सम्मेलन 'याल्टा' में हुआ। याल्टा सम्मेलन में वे एक दृढ़ लोकतन्त्रीय पौलैण्ड के निर्माण पर एकमत हो गए। उसकी पूर्वी सीमा का निर्धारण लगभग कर्जन रेखा के अनुसार ही कर दिया गया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि जर्मन क्षेत्र के उत्तर और पश्चिम के कुछ भाग उसे मिलने चाहिए। याल्टा घोषणा में अस्पष्ट सामान्यताओं से परिपूर्ण होते हुए भी यह स्पष्ट दिखलाई दे रहा था कि इग्लैण्ड अमेरिका बल्कान और डेनुबियन विषयों पर सोवियत नेतृत्व स्वीकार कर चुके हैं। पश्चिमी शक्तियों ने यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो की सहायता करना भी मान लिया। एक गुप्त समझौते के अनुसार सोवियत संघ ने संयुक्तराज्य और ग्रेट ब्रिटेन को वचन दिया कि हिटलर की पराजय के तीन महीने बाद वह जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो जाएगा। अन्त में इसी सभा में संयुक्त राष्ट्रसंघ की योजना पर भी वार्तालाप हुआ।

याल्टा सम्मेलन के बाद अप्रेल जून 1945 में सान फ्रांसिस्को सम्मेलन हुआ और इसी बीच 7 मई 1945 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्म समर्पण कर दिया। तीन बड़ों के बीच की एकता में दरारें जर्मन आत्म समर्पण से पूर्व ही पड़ गई थीं। सोवियत सरकार का मत था कि अपनी सेनाओं द्वारा विजित प्रदेशों के साथ वह मनमाना व्यवहार करेगी। ऐसी स्थिति में उसने पश्चिमी शक्तियों की इच्छा का ध्यान दिए बिना ही पूर्वी केन्द्रीय यूरोप के क्षेत्रीय प्रश्नों को सुलझाना प्रारम्भ किया। इसके साथ ही सोवियत संघ की 'प्रादेशिक भूख' मिटाने की नीति जारी रही। उसने अपने अनेक पड़ोसी राज्यों को चाहे वे औपचारिक रूप से मित्र थे अथवा शत्रु, अब अपना उपराज्य बना लिया। पोटसडम सम्मेलन के बाद सोवियत रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 8 अगस्त 1945 को मंचूरिया पर रूसी आक्रमण हुआ और 14 अगस्त को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस सप्ताह के युद्ध के लिए उसने प्रचुर पुरस्कार प्राप्त किए। जापान में सोवियत संघ को काफी लाभ रहा और यूरोप तथा अन्य प्रदेशों में भी उसकी उपलब्धियाँ कम नहीं थीं। पूर्वी एशिया में जारशाही जो खो चुकी थी उसे सोवियत संघ ने प्राप्त कर लिया और साथ ही यूरोप में भी उसने नए प्रदेश बढ़ा लिए। इस तरह सोवियत संघ को लगभग 4 लाख 90 हजार वर्गमील भूमि प्राप्त हो गई जिस पर लगभग 10 करोड़ व्यक्ति निवास करते थे।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत राजनय

रूस ने महायुद्ध जनित कठिनाइयों का धैर्यपूर्वक सामना किया आर्थिक पुनर्निर्माण के विशाल कार्यक्रम चलाए, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विस्तारवादी नीति अपनाई शीत युद्ध को अत्यन्त तीव्र बनाकर और पश्चिमी राष्ट्रों को अपनी उग्र हठधर्मी के आगे झुका कर अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति का मार्ग प्रशस्त किया। स्टालिन जब तक जीवित रहा, सोवियत नीति पश्चिम के प्रति उत्तरोत्तर शत्रुता असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई सोवियत प्रभाव क्षेत्र की सुदृढ़ीकरण तथा दुराग्रहपूर्ण रही।[1] स्टालिन ने मृत्युपर्यन्त एक आक्रमणकारी मित्रविहीन अड़ंगेबाजी और लौह आवरण तथा समझौता विरोधी नीति का अनुसरण किया। पूर्वी यूरोप में अपने वचनों को झुठलाकर सोवियत प्रभुत्व का विस्तार

1 *Palmer and Perkins International Relations* p 616

किया गया यूनान के गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की गई टर्की पर बासफोरस तथा डार्डनेलीज के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में माण्ट्रेक्स के समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला गया मार्शल योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया। ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगाई गई टीटो को मास्को के गुट से निष्कासित किया गया कोरिया व हिन्द चीन में युद्ध हुए। स्टालिन की इस आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशंकित हो गई और उन्होंने बढते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त मार्शल योजना डनकर्क ब्रूसेल्स सन्धियाँ नाटो सधि पश्चिमी यूरोप की एकता के लिए बनाये गए विभिन्न सगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युतर थे। सन् 1945-47 तक यूरोप की स्थिति ऐसी नहीं रही। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस की वैसी बदनामी हुई जैसी बाद में आइजनहावर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका की हुई। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस विरोधी समझता रहा। स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वय साम्यवादी गुट में काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में दो महाशक्तियों का उदय हुआ—सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ। विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और लगभग 1954 55 तक विश्व में दृढ द्वि ध्रुवीयता की स्थिति (Tight Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे की घोर प्रतिस्पर्धी बन गई और दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा विशेषकर यूरोप में बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीतयुद्ध में तीव्रता आई बल्कि प्रतिद्वन्द्वी सन्धियों और अनेक सैनिक गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ मे स्थिति यह थी कि जहाँ विश्व शान्ति और सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ बँधे थे। सन् 1955 के मध्य द्वि ध्रुवीयता शिथिल होने लगी और धारा बहुकेन्द्रवाद (Poly-centricism) की ओर बहने लगी।

स्टालिन की मृत्यु के बाद रूसी विदेश नीति और राजनय में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। रूसी नीति फिर से विकासोन्मुख बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बातों ने सोवियत सघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहली बात यह थी कि पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य मे स्थायित्व आ गया। दूसरे सोवियत सघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढने लगी। तीसरे रूस के दक्षिण क्षेत्र में उसका प्रभाव बढने लगा। मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव क्षेत्र में आ गए। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुकता नजर आया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य का विस्तार नहीं हुआ तथापि सोवियत सघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी प्रभावशाली हो गई जितनी पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना था वे थीं—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के

स्थायित्व पर पाश्चात्य मान्यता प्राप्त करना तथा जहाँ सम्भव हो सके वहाँ बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना। स्टालिन की उग्रतावादी कठोर वैदेशिक नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एव तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं उनके फलस्वरूप अब सोवियत राजनय का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मोलेन्कोव ने दिवगत नेता के अन्त्येष्टि सस्कार में ही घोषणा की कि लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा। रूस की इस नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शान्ति-सन्धि हो गई। सोवियत सैनिकों द्वारा फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे खाली कर दिये गए। हिन्द-चीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकल आया। सोवियत सघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुन कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध फिरसे कायम हो गए। मोलेन्कोव के नेतृत्व मे सोवियत रूसी लौह आवरण के सम्बन्ध में भी शिथिलता की नीति बरती जाने लगी। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित मानता था लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शान्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और इसे अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सद्‌भावना प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

खुश्चेव काल (1955-1964) में सोवियत सघ की विदेश नीति और राजनय ने अनेक नई दिशाएँ ग्रहण कीं। लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'यात्रा-कूटनीति' का महत्व बढता गया। पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनैःशनैः परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। पर शीतयुद्ध का परित्याग नहीं किया गया। अनुकूल परिस्थितियों में शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रचारात्मक लाभों को प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे। अल्पविकसित देशों को आर्थिक प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। सोवियत प्रभाव-विस्तार की उत्कण्ठा रखते हुए भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही है कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपों में साम्यवाद प्रचार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका। अणु आयुधों में अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल जाने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। सोवियत सघ ने परमाणु हथियार बनाने का महत्वाकांक्षी कार्यक्रम चलाया। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रण-नीति रची गई।

खुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असम्लग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को भी तीव्र कर दिया। सोवियत सघ द्वारा उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र बनाने

के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को प्रबल समर्थन दिया जाने लगा। खुश्चेव के प्रभाव मे आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्प विकसित या अविकसित देशों के प्रति सोवियत विदेश नीति और राजनय के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्य थे—(i)भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्द्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देश एव राष्ट्रीय सम्मान को अच्छी प्रकार से ध्यान में रखते हुए इनके प्रति पूरी मित्रता एव सौहार्द दिखाना (ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का फायदा उठाते हुए इन्हें पश्चिम से और भी विमुख कर देना (iii) न केवल उपनिवेशवाद-विरोधी वरन् जातिवाद-विरोधी प्रवृतियों को भी उभारना (iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढावा देना (v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अर्थव्यवस्था को विकसित करने की महत्वाकाँक्षा को सहारा देना हो सके तो सोवियत एव पारस्परिक व्यापारों के सम्बन्ध की ओर झुकाना (vi) पश्चिम के विरूद्ध उनके प्रत्येक झगड़े को उकसाना (vii) विदेशी पूँजी या सहायता उनकी स्वतन्त्रता एव सम्मान के विरूद्ध बता कर सन्देह की भावना उभारना तथा (viii) उनके सम्मुख सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सके कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

ब्रेझनेव युग (1964-1982) में खुश्चेववादी नीतियों को ही आगे बढाया गया शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की विचारधारा को पुष्ट किया गया और साथ ही राजनय ने कुछ नई दिशाएँ भी ग्रहण की। यात्रा-राजनय ने अधिक महत्व ग्रहण किया। सितम्बर 1965 मे भारत-पाक सघर्ष का अन्त कराने में उल्लेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनों देशों के बीच झगडा सुलझाने के लिए मध्यस्थता करने के लिए ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन किया गया। रूस ने अपनी विदेश नीति के इस नए पैंतरे ने समूचे विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत सघ ने इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया था। पाकिस्तान के प्रति झुकाव के रूसी राजनय को शीघ्र ही पुन भारत के प्रति झुकाव में मोड़ दिया गया। सोवियत बगलादेश के सम्बन्ध में रूस का दृष्टिकोण भारत समर्थक था। बगलादेश के सकट के समय पीकिंग पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के निर्माण की सम्भावनाओं और उससे उत्पन्न खतरे को देखकर भारत ने 9 अगस्त 1971 को सोवियत सघ के साथ मैत्री-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इस तरह भारत और सोवियत सघ चीन-अमेरिकी सम्बन्धों मे भविष्य मे उत्पन्न होने वाले परिणामों का मुकाबला करने के लिए और अधिक निकट आ गए। सुरक्षा परिषद् में भी रूस ने पाकिस्तान और उसके बड़े आका अमेरिका के मनसूबों पर पानी फेर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट चेतावनी दी कि कोई भी विदेशी ताकत हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करे। रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत पर अपना प्रभाव बनाए रखने की नीति पर चलता रहा ताकि वहाँ से पश्चिम यूरोपीय राजनीति में प्रभावपूर्ण ढग से हस्तक्षेप किया जा सके। अत पूर्वी यूरोप के देशों में पनप रही सोवियत विरोधी प्रवृतियों का सामना करने के लिए उसने वारसा सन्धि सगठन को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा सुदृढ़ बना लिया। रूस ने अमेरिका और पश्चिमी गुट के साथ अवसरानुकूल शीतयुद्ध को उभार देकर भी स्टालिन के समान स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास नहीं किया। सोवियत रूस ने अपना ध्यान यूरोप

और एशिया की ओर केन्द्रित किया लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध में उसका राजनय विशेष सक्रिय नहीं रही।

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं में सोवियत कूटनीति अभी तक जितनी सफल और प्रभावशाली रही उतनी अमेरिकी कूटनीति नहीं। पश्चिमी एशिया दक्षिण पूर्वी एशिया पूर्वी यूरोप आदि सभी क्षेत्रों में सोवियत रूस ने अपना प्रभाव बढ़ाया और अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों की चुनौतियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया।

नवम्बर 1982 में सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी यूरी आन्द्रोपोव (नवम्बर 1982—फरवरी 1984) ने अपने बहुत छोटे कार्यकाल में ही भारी राजनयिक कौशल का परिचय दिया। उनका छोटा कार्यकाल अत्यधिक तनावों से भरा काल रहा किन्तु उन्होंने ब्रेझनेव की नीतियों पर चलते हुए सोवियत जनता का विश्वास अर्जित किया। उन्होंने आणविक निशस्त्रीकरण यूरोप में युद्ध की आशंका कम करने तथा अमेरिका से सम्बन्ध सुधारने पर बल दिया लेकिन साथ ही अमेरिका की राजनैतिक चुनौतियों का सशक्त उत्तर भी दिया। अमेरिका द्वारा नाटो की ओर से यूरोप में नए परमाणु प्रक्षेपास्त्र लगाने पर उन्होंने यह स्पष्ट चेतावनी दे दी कि सोवियत संघ भी उपयुक्त जवाबी कार्यवाही करेगा। यूरी आन्द्रोपोव ने चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने की कूटनैतिक पहल की। उनकी विदेश नीति और कूटनीति का एक मुख्य लक्ष्य यह रहा कि भारत और रूस और निकट आएं। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का समर्थन करते हुए आन्द्रोपोव ने रीगन प्रशासन की कुटिल कूटनीति का सफलतापूर्वक प्रत्युत्तर दिया। यूरी आन्द्रोपोव के उत्तराधिकारी चेरनेंको (फरवरी 1984-मार्च 1985) ने स्पष्ट कर दिया कि वे ब्रेझनेव तथा आन्द्रोपोव की नीति में परिवर्तन करने वाले नहीं है। चेरनेंको ने कठोर और लचीले राजनय का कुशलतापूर्वक उपयोग किया। उन्होंने कहा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर सभी पक्षों के साथ समानता के आधार पर बातचीत करने को तैयार हैं। यद्यपि सोवियत संघ शान्ति चाहता है तथापि वह न तो किसी की धमकी में आएगा और न शस्त्रास्त्रों में किसी देश के बढ़त लेने देगा। स्पष्टतः यह बात अमेरिका को चेतावनी थी। चेरनेंको ने कहा कि सोवियत संघ वर्तमान खतरों को दृष्टिगत कर अपने शान्ति प्रयासों की नीति जारी रखेगा। वह खास तौर से छोटे देशों की सहायता करेगा। उन्होंने पूँजीवादी विस्तार के विरुद्ध संघर्ष कर रहे लोगों को भी सोवियत समर्थन जारी करने का आश्वासन दिया। 27 फरवरी, 1984 को चेरनेंको द्वारा पश्चिमी देशों से समस्याओं को सुलझाने के लिए मिल बैठकर विचार करने का प्रस्ताव किया गया, लेकिन अमेरिका और उसके साथी देशों की नीति सम्भवतः 'प्रतीक्षा करो और देखो' की रही। खेलों को भी राजनयिक चेतावनी और दबाव के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया गया। 19 अप्रेल 1984 को रूस ने प्रथम बार अमेरिका द्वारा ओलम्पिक चार्टर के उल्लंघन को लेकर बहिष्कार की चेतावनी दी और लास ऐंजिल्स में जो ओलम्पिक खेल हुए उनका महत्व रूस और उसके साथी देशों के बहिष्कार के कारण निश्चित रूप से घट गया। वार्ता के राजनय के रूप में अस्त्र परिसीमन पर विचार विमर्श हुआ। जनवरी 1985 में जिनेवा में दोनों महाशक्तियों के बीच अस्त्र परिसीमन वार्ता पुनः आरम्भ हुई जो कि नवम्बर, 1983 में भंग हो गई थी।

11 मार्च 1985 को मिखाइल गोर्बाच्योव चैरनेन्को के उत्तराधिकारी बने। तब से लेकर दिसम्बर 1991 ई. तक का समय गोर्बाच्योव काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में विश्व राजनीति में भारी परिवर्तन हुआ और उसका स्वरूप ही बदल गया। गोर्बाच्योव काल के राजनय की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

प्रथम गोर्बाच्योव ने ग्लासनोस्त (खुलापन) और पेरेस्त्रोइका की नीति को अपनाया। यह सोवियत कूटनीति में मौलिक परिवर्तन था। इससे विश्व के सम्मुख सोवियत सदस्यों से पर्दा हट गया। सोवियत संघ की वास्तविकता पूरे विश्व के सम्मुख उजागर हो गई।

द्वितीय मिखाइल गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियों के कारण सोवियत संघ से एक के बाद एक गणराज्य पृथक होते गये और स्वयं उन्होंने उन गणराज्यों को मान्यता दे दी। तीनों बाल्टिक गणराज्यों लैटविया लिथुआनिया और इस्तोनिया ने सोवियत संघ से अलग होने की घोषणा की। 21 दिसम्बर 1991 ई. को सोवियत संघ से अलग हुए 12 में से 11 गणराज्यों (केवल जार्जिया को छोड़कर) ने एक ऐतिहासिक समझौता सपत्र कर के राष्ट्रमण्डल बनाने का निर्णय लिया। रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन को इस नवीन गणराज्य का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इसके साथ ही विश्व मानचित्र से सोवियत संघ का अस्तित्व समाप्त हो गया। 25 दिसम्बर 1991 ई. को मिखाइल गोर्बाच्योव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके साथ ही एक युग की समाप्ति हो गई। अतः मिखाइल गोर्बाच्योव की नीतियों को सोवियत संघ के विघटन के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है।

तृतीय मिखाइल गोर्बाच्योव के नेतृत्व में सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों में सैनिक हस्तक्षेप करने अथवा उन्हें सैनिक शक्ति के बल पर दबाये रखने की नीति का परित्याग कर दिया। परिणामस्वरूप इन देशों की जनता का अपने अपने शासकों के विरुद्ध जमा आक्रोश फूट पड़ा। इस कारण से पूरे पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासकों का पतन हो गया।

चतुर्थ जर्मनी का एकीकरण मिखाइल गोर्बाच्योव की राजनयिक शैली का महान् उदाहरण माना जायेगा।

पंचम मिखाइल गोर्बाच्योव ने परमाणु हथियारों के परिसीमन करने तथा अन्य विश्व समस्याओं के समाधान करने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपतियों सर्वश्री रोनाल्ड रीगन और जार्ज बुश के साथ शिखर सम्मेलन के राजनय का सहारा लिया। इससे दोनों ही महाशक्तियों के संबंधों में उल्लेखनीय सुधार हुआ और विश्व से शीतयुद्ध का युग समाप्त हो गया।

षष्ठम् मिखाइल गोर्बाच्योव के कार्यकाल में सोवियत संघ और पश्चिमी यूरोप के देशों के बीच संबंध निरन्तर सुधरते गये।

सप्तम् सोवियत संघ ने वारसा संधि संगठन को भंग करने का निर्णय लिया तथा अपने सैनिक व्यय में भारी कटौती करने का निर्णय लिया।

अष्टम् सन् 1991 ई. के खाड़ी युद्ध में सोवियत संघ ने सक्रियता से भाग नहीं लिया फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका और उनके साथी देशों का पलड़ा अत्यधिक भारी हो गया।

यह विश्व राजनीति में सोवियत संघ के समाप्त होने वाले दबदबे की पूर्व अवस्था थी। इस घटना चक्र ने महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के प्रभाव को समाप्त कर दिया।

नवम् मिखाइल गोर्बाच्येव ने भी यात्राओं की कूटनीति का सहारा लिया। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवादी चीन भारत फ्रांस तथा ब्रिटेन इत्यादि देशों की यात्रा की। इन यात्राओं से इन देशों में सोवियत संघ के प्रति सद्भावना में वृद्धि हुई।

दशम् सोवियत संघ की नीति शान्ति की नीति रही। विश्व में शान्ति और सद्भावना की स्थापना करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्ता को भी सोवियत संघ द्वारा मान्यता दी गई। निस्सदेह मिखाइल गोर्बाच्येव एक युग प्रवर्तक थे और उन्होंने अपनी विदेशनीति और राजनय को नई दिशा प्रदान की। लेकिन उनके कार्यकाल में ही सोवियत संघ का न केवल विश्व की महाशक्ति के रूप में पतन हुआ अपितु राष्ट्र के रूप में भी अस्तित्व समाप्त हो गया।

सन् 1917 से 25 दिसम्बर 1991 ई तक अर्थात् सोवियत संघ के विघटन तक के राजनय के इतिहास को देखने पर निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं—

प्रथम पूँजीवादी देशों द्वारा सोवियत संघ की स्थापना से ही उसका विरोध करने की नीति ने उसके राजनय को अविश्वासपूर्ण तथा कठोर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

द्वितीय स्वय सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी सत्ता को सुरक्षित रखना उसके राजनय का मुख्य उद्देश्य रहा है।

तृतीय विश्व के देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार प्रसार करना भी सोवियत राजनय का प्रमुख लक्ष्य विश्व में साम्यवाद का प्रचार प्रसार करना रहा।

चतुर्थ सोवियत संघ ने भी 'सहायता के राजनय' का खुलकर सहारा लिया। असलग्न और विकासशील देशों को इस सहायता के राजनय के माध्यम से प्रभावित करने का प्रयत्न किया गया। सोवियत संघ ने मध्यस्थता के राजनय का भी प्रयोग किया।

पचम् सोवियत संघ द्वारा शिखर सम्मेलन के राजनय का भी सहारा लिया गया। इससे संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सबधों को सुधारने में व्यापक रूप से सहायता मिली तथा शीतयुद्ध का वातावरण कम हुआ।

षष्ठम् सोवियत संघ द्वारा गोर्बाच्येव के शासन के पूर्व तक शक्ति के राजनय का भी सहारा लिया गया। पूर्वी यूरोप के उन देशों में सैनिक हस्तक्षेप किया गया जिनमें सोवियत संघ विरोधी शक्तियाँ सिर उठा रही थी। हगरी चेकोस्लोवाकिया और पौलैण्ड में इसी आधार पर हस्तक्षेप किया गया।

ब्रिटिश राजनय
(British Diplomacy)

ग्रेट ब्रिटेन का क्षेत्रफल लगभग 94307 वर्गमील है जो सम्पूर्ण ससार की स्थलीय क्षेत्र का लगभग 0.2 प्रतिशत है। यह फ्रांस का दो तिहाई, अमेरिका का 30वाँ, तथा सोवियत रूस का 80वाँ भाग है। ब्रिटिश राजनय के प्रारम्भिक काल में उसका राजनय उसकी विशेष भौगोलिक स्थिति समुद्र की शक्ति तथा व्यापार से प्रभावित रहा और आज भी ये तत्व उसकी विदेश नीति तथा उसके राजनय के निर्धारण में महती प्रभाव रखते है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नये परिवेश ने ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय को नयी दिशा दी है। ब्रिटेन के राष्ट्रमण्डलीय स्वरूप अमेरिका के साथ उसके विशेष सम्बन्ध परन्तु

अस्त्रों की दौड़, विश्व शक्ति के रूप में उसके पराभव आदि ने ब्रिटिश विदेशनीति तथा राजनय को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। पर मूल रूप में ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय ने अपनी ऐतिहासिक विरासत का परित्याग नहीं किया है।

ब्रिटेन चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ देश है अतः अपनी रक्षा के लिए नाविक शक्ति पर आज भी वह पूरा ध्यान दिये हुए है। अतीत में "समुद्र की रानी" (Queen of the Seas) होने के कारण ही ब्रिटेन एक सुविशाल साम्राज्य स्थापित कर सका था जिसके साथ उसके घनिष्ठ व्यापारिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध थे। साम्राज्य की रक्षा, व्यापार की निरन्तर वृद्धि अपनी समृद्धि एवं शक्ति को बराबर बनाए रखने हेतु—ब्रिटेन ने एक नया आयाम अंगीकार किया और वह था—शक्ति सन्तुलन की नीति (Balance of Power)। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए निर्मित इस नीति को ब्रिटेन ने आदर्शवादिता पुट देकर विश्व को यह बताया कि उद्देश्य सभी "लघु राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है" जबकि वास्तव में उसका उद्देश्य किसी भी एक राज्य को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देना था। उसके राष्ट्रीय हित की यह माँग थी कि यूरोपीय महाद्वीप पर कोई भी राज्य इतना सशक्त नहीं बन जाए कि उसकी शक्ति उसके राष्ट्रीय हितों तथा उसके व्यापार को चुनौती दे।[1] यदि कोई राज्य शक्तिशाली बनता भी था तो ग्रेट ब्रिटेन उसके विरुद्ध अन्य राज्यों के साथ गुटबन्दी करके शक्ति सन्तुलन स्थापित कर देता था। लुई 16वें तथा नेपोलियन बोनापार्ट के समय फ्रांस तथा हिटलर के समय जर्मनी जब शक्तिशाली हो गए तो ग्रेट-ब्रिटेन ने इसी प्रकार की नीति का अनुशीलन किया। इस नीति के अनुसार ब्रिटेन ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता एवं शत्रुता के सम्बन्ध गतिशील बनाए रखे। यह कहा जाता है कि इंग्लैण्ड का कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं है केवल स्थायी स्वार्थ एवं उद्देश्य हैं। इनसे अनुकूलता रखने वाले राज्य उसके मित्र बन जाते हैं तथा प्रतिकूलता रखने वाले शत्रु बन जाते हैं। अपनी आवश्यकताएँ ब्रिटिश द्वीप की रक्षा, साम्राज्य की सुरक्षा, व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति तथा औद्योगिक विकास—ये सब अतीत में ब्रिटिश नीति के महत्वपूर्ण उद्देश्य थे और आज भी ब्रिटिश विदेश नीति विचारों से नहीं वरन् राष्ट्रीय हितों से प्रेरित है। बिल्जे से लेकर विल्सन और कैलेगर्हन श्रीमति थैचर और जान मेजर तक के सभी प्रधानमन्त्री इसी सिद्धान्त पर कार्य करते रहे हैं। सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि ब्रिटिश राजनय के पीछे सैकड़ों वर्षों का अनुभव है। यह विश्व का सर्वोच्च राजनय है जिसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ हैं।[2] हैटर के अनुसार "अमेरिकी राजनय की भाँति यह चालाक भयभीत करने वाला और फूहड़ नहीं है। यह फ्रांसीसी राजनय से अधिक महत्वपूर्ण तथा कम औपचारिक है।[3]

परम्पराओं पर आधारित होने के कारण ब्रिटिश राजनय रूढ़िवादी रहा है। इसका मौलिक आधार व्यापारिक सिद्धान्त है। एक प्रतिष्ठित व्यापारी की भाँति ब्रिटिश राजनय की साख है जो उनकी विनम्रता, निष्कपटता तथा विश्वास के आधार पर जमी है। यह फ्रांस, इटली अथवा जर्मनी की भाँति पूर्वाग्रहों से बंधा नहीं है और न ही यह पूर्व योजना के आधार पर चलता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि यह तुरन्त कॉफी (Instant Coffee) की भाँति घटनाओं की प्रतिक्रिया पर केन्द्रित है परन्तु यही उसके

1 2 डॉ एम पी राय वही पृष्ठ 399

3 Hayter Diplomacy p 42

लचीलेपन का भी कारण है। इस सन्दर्भ में सर चॉर्ल्स ट्रेवेलियन का भी यही मत है कि "ब्रिटिश जनता किसी दुर्घटना के सम्बन्ध मे तभी विचार करती है जब कोई दुर्घटना घटित होकर उसके समक्ष आए इससे पूर्व उस पर विचार नहीं किया जाता है।" हैटर इस मत से सहमत है। अवसरवादिता की इस नीति के बाद भी ब्रिटेन अपने हितों तथा अपनी स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सजग है। ब्रिटेन की EEC की सदस्यता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आर्थिक सहयोग के माध्यम से ब्रिटेन का राजनय विश्वव्यापी है। आर्थिक सहायता और तकनीकी सहयोग इस राजनय के प्रमुख अग हैं।[1]

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ बड़े योग्य और प्रतिभाशाली होते हैं। उनका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रिटिश राजनय कुलीनतन्त्रीय रहा है और ब्रिटिश राजदूतों को प्राय सर्वत्र सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ब्रिटिश राजनय शालीन और सयमी है। ब्रिटिश राजनयज्ञ आत्मश्लाघी न होकर प्राय पर्दे के पीछे रह कर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहते हैं और लोकतान्त्रिक आचरण तथा भाषा पसन्द करते हैं। निकल्सन का मत है कि ब्रिटिश दूतों को दो विरोधी दृष्टि से देखा जाता है। एक पक्ष इन्हें अकल्पनाशील अनभिज्ञ अकर्मण्य और सुस्त मानता है दूसरा पक्ष इन्हे पूर्ण जानकार विश्वसनीय और सकट के समय शान्त मानता है। कुछ उन्हें कुटिल तो कुछ अन्य इन्हे नैतिकता का मूर्तरूप मानते हैं। इन विरोधी दृष्टिकोणों के बाद भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश राजनय योग्य और कुशल राजदूतों के हाथों मे है। इसका आधार आत्मसयम निष्कपट व्यवहार तर्क साख और मध्य मार्ग है। ब्रिटिश विदेशनीति और उसकी राजनयिक गतिविधियाँ व्यावहारिक रही हैं।[2]

ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय मे कम से कम दो क्षेत्र ऐसे हैं जो उसकी मूलभूत परिस्थितियों से निर्णायक रूप से प्रभावित होते है। नीति निर्माताओं को इन क्षेत्रों में वातावरण के प्रमुख तत्वों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेने होते हैं। ये दो क्षेत्र हैं—राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक कल्याण की देखभाल। प्रथम की दृष्टि से ग्रेट-ब्रिटेन नाटो सन्धि सगठन का सदस्य बना और सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ इसने विशेष सम्बन्ध स्थापित किए। ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों समस्याओं कठिनाइयों और सघर्षों के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया गया उस पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन के बाह्य वातावरण ने उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एव हितों पर गम्भीर रूप से प्रभाव डाला है। बाह्य वातावरण के प्रभाव से ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महत्वपूर्ण समस्याओं में स्वय भागीदार बनता है। यह भागीदारी पुन उसके आन्तरिक साधनों स्रोतों से मर्यादित होती है।

वर्तमान में ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय का एक मुख्य उद्देश्य अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध बनाए रखना है। सन् 1991 के खाड़ी-युद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन ने सयुक्त-राज्य अमेरिका का पूर्ण साथ दिया था। राष्ट्रीय सुरक्षा एवं राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार पर पड़ने वाले दबावों ने उसे अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रेरित किया है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश विदेश नीति में समय-समय पर असमरसता एव असगतियाँ भी दिखाई दी है। असगति का एक उदाहरण यह है कि

1 डॉ एम पी राय वही पृष्ठ 399
2 डॉ एम पी राय वही, पृष्ठ 400

एक ओर यह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ यथासम्भव घनिष्ठ राजनीतिक और सैनिक सम्बन्ध रखता है तथा दूसरी ओर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यों के साथ इसके घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ ब्रिटेन के विशेष सम्बन्धों की एक विशेषता यह है कि ये सम्बन्ध अत्यन्त दीर्घकालीन है। दूसरे ब्रिटेन की दृष्टि से इन सम्बन्धो का मूल्य सैनिक प्रकृति का है और तीसरे यह इस प्रकार के सम्बन्ध हैं कि दोनों ही पक्ष इनका अर्थ अपनी दृष्टि से लगाते है। 19वीं शताब्दी के अन्त मे जब अमेरिका की शक्ति बढ़ी तभी से उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति और राजनय के मुख्य सिद्धान्त बन गए और संयुक्तराज्य के साथ संघर्ष को हर कीमत पर रोकने की चेष्टा की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मनी के विरुद्ध अमेरिका से सन्धि तथा विश्व युद्ध के बाद विकसित सोवियत संघ के साथ संघर्ष आदि की स्थिति मे यह स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका और ब्रिटेन के बीच सन्धि सम्भव और आवश्यक है। ब्रिटेन अमेरिका के साथ बहुपक्षीय नाटो सन्धि संगठन मे शामिल हो गया और उसके बाद व्यापारिक आर्थिक और अणुशक्ति की दृष्टि से दोनों राज्यो के बीच निरन्तर सम्बन्धों का विस्तार हुआ। ब्रिटेन के साथ सहयोग मे अमेरिका की रुचि व्यवहारवादी रही है। ब्रिटेन के राजनयिक और सैनिक क्षेत्रों मे अमेरिका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप के राज्यो के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने मे ब्रिटिश अधिकारियो की रुचि रही है।

ब्रिटिश राजनय के उपयोग का एक साधन राष्ट्रमण्डलीय व्यवस्था है। राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ ब्रिटेन के विशेष सम्बन्धो ने ब्रिटेन को एक ओर अपना प्रभाव बनाए रखने मे तो दूसरी ओर समूचे विश्व के साथ निकट सम्पर्क रखने मे सहायता दी है। राष्ट्रमण्डल की स्थापना के माध्यम से ब्रिटेन ने पुराने उपनिवेशों से सम्बन्ध (व्यापारिक और राजनीतिक) तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए रखा है। ब्रिटिश विदेश सेवा का एक भाग राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ सम्बन्धो को देखता है। ये सम्बन्ध व्यापक है—आर्थिक राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक आदि। इसका दूसरा साधन है जासूसी। ब्रिटिश राजनय भी अमेरिका व रूस की भाँति जासूसी का उपयोग कर सूचनाओं की प्राप्ति करता है। स्मरणीय है कि सभी देश जासूसी का उपयोग करते है।[1] कहा जाता है कि ब्रिटिश राजनय न्याय और कल्याण भावना को अपनाए हुए है। न्याय साख विश्वास आत्म संयम और मानव कल्याण पर आधारित ब्रिटिश राजनय अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा है। इसने कभी भी अत्यधिक तीव्र कदम नहीं उठाए है। यह मध्यमार्ग में विश्वास करता है। जहाँ ब्रिटिश राजनय का विश्व राजनय मे अपना मान सम्मान व प्रतिष्ठा का स्थान है वहीं इसमे दोष भी बताये जाते है। ब्रिटिश व्यक्तिगत चरित्र का मूल आधार व्यक्ति का अपने आप मे सीमित रहना है। ब्रिटिश राजदूत सामाजिक नहीं है। सामाजिकता राजनय मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर ब्रिटिश रुख आदर्शवादिता से प्रेरित होकर शीघ्र यथार्थ धरातल व स्वार्थ का मार्ग अपना लेता है। *स्वाभाविक है कि ऐसी नीति अविवेकी हो जायेगी तथा इसका असफल हो जाना आश्चर्यजनक नहीं होगा।*

1 डॉ एस सी राय वही पृष्ठ 401

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(Diplomacy and International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जिनके अनुसार सभ्य स्वतन्त्र सार्वभौमिक और स्वशासी राज्य शान्तिकाल तथा युद्धकाल में एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। इनका अपना विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष पर यदि कोई प्रतिबन्ध है तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सार्वभौम राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करते हैं अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनके अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या करते है तथा उनके दायित्वों का स्पष्टीकरण करते हैं। ये कानून अन्तर्राष्ट्रीय समाज में व्यवस्था स्थापित करने का काम करते है।

राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मध्य महत्वपूर्ण भेद हैं। राजनय विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय हित से परे अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था को महत्व देता है। राजनय वह कला और साधन है जिसका उपयोग विभिन्न राज्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति तथा विदेश नीति के क्रियान्वयन के लिए अपने राजनयिक प्रतिनिधियों अथवा राजदूतों की सहायता से करते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में उन नियमों या कानूनों का समूह है जो राज्यों के मध्य राजनीतिक आर्थिक व्यापारिक सांस्कृतिक अथवा सैनिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है। राजनय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इसी अर्थ में सम्मान दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यवस्था बनी रहे और राजनय क्रियाशील रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के कुछ मौलिक नियमों के अनुपालन से प्रायः ऐसी परिस्थितियाँ कायम रहने में सहायता मिलती है जिनमें राजनय समुचित रूप से क्रियाशील हो सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के बीच पारस्परिक विश्वास को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे राजनय का आचरण सम्भव बनता है। यदि राज्य, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा नियम या सदाचार की परवाह न कर राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए पूर्णतः राजनय का प्रयोग करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी और सदैव युद्ध की आशंका बनी रहेगी।

राजनयिक प्रतिनिधियों के अधिकार और स्वतन्त्रताएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं। राजनयिक अधिकारीओं की नियुक्ति उनकी स्वीकृति, प्रत्यय पत्र, अधिकार, श्रेणियाँ, उन्मुक्तियाँ आदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून से ही मर्यादित होती है। इस प्रकार जहाँ राजनय राज्यों के मध्य सम्बन्धों का नियमन और राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन करता है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियमों का निर्धारण करता है। राजनय द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने के तरीकों एवं सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि जिस प्रकार कार्य करते हैं वह राजनय का विषय है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय के साधन के रूप में भी उपयोगी है। यह राजनयिक लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए साधन प्रस्तुत करता है। राजनयिकों के लिए सामान्य भाषा, प्रक्रिया सम्बन्धी सुविधा, समझने बुझने का तरीका, विवाद तय करने तथा समझौता करने के मापदण्डों आदि की आवश्यकता रहती है जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनके होने से सन्धि वार्ता सुगम बन जाती है। जिन सन्धियों में अस्पष्टता रहती है वे

अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाती। सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया और रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किया जाता है। राजनय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित तर्क प्रस्तुत किए जाते है।

जब राजनय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने का प्रयास करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रकार से उसका सहायक सिद्ध होता है। यह अन्य राज्यों में एक राज्य के अभिकरणों की रक्षा करता है उसकी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करता है अन्य राज्यों की नीति को प्रभावित करता है तथा राष्ट्रीय सम्पन्नता की अभिवृद्धि करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के सभी तरीकों मे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अनुसरण किया जाता है। सारौंश में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनय का अत्यन्त उपयोगी साधन है। यह एक दृष्टि से राजनय का परिणाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकाँश भाग रिवाजों पर आधारित है। यह कूटनीति द्वारा की गई सन्धि-वार्ताओं एव समझौता वार्ताओं की परम्परा को अपने नियमों का आधार बनाता है। सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy) के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्यतः स्वीकृत अंग बन जाते हैं। कूटनीतिक पत्र व्यवहारों एव औपचारिक घोषणाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है। स्पष्ट है कि ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।[1]

राजनय की परम्पराएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। राजनयिक परम्पराओं से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे जो सहयोग मिला है उसे विभिन्न उदाहरणों सहित प्रस्तुत करते हुए डॉ शील के आसोपा ने लिखा है—

"राजनय की नई तकनीकों एव नए तरीकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को सम्भव बनाया है। वर्तमान शताब्दी के छठे एव सातवें दशक में राजनय की नई तकनीकों का तेजी से विकास हुआ है। प्रथम महायुद्ध के बाद कान्फ्रेंस डिप्लोमेसी पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा। युद्धोत्तरकाल में तो अनेक प्रमुख व्यवस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से ही की गई है। पेरिस पीस सम्मेलन 1919, वाशिंगटन सम्मेलन 1921, लोकार्नो सम्मेलन 1925 जेनेवा डिसआरमामेंट कान्फ्रेंस 1932 तथा 1937 एव द्वितीय महायुद्ध के दौरान काहिरा सम्मेलन, तेहरान सम्मेलन 1943, याल्टा सम्मेलन, पोट्सडम सम्मेलन तथा 1945 में सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए सान फ्रांसिसको सम्मेलन उल्लेखनीय हैं। इन सभी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यवस्थित किया गया तथा इनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियमों का विकास हुआ।

युद्ध के दौरान ही व्यक्तिगत राजनय, सम्मेलनीय राजनय के साथ ही प्रारम्भ हुआ। यह शिखर वार्ता के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। युद्ध सबधी अनेक प्रमुख निर्णय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विंस्टन चर्चिल तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट के बीच बातचीत के दौरान लिये गए। अटलाण्टिक चार्टर 1941, काहिरा सम्मेलन 1943, तेहरान सम्मेलन 1943, याल्टा सम्मेलन 1954, पोट्सडम सम्मेलन 1945, मे व्यक्तिगत राजनय की भूमिका ही प्रमुख रही। रूजवेल्ट, चर्चिल तथा स्टालिन ने तथा बाद मे रूजवेल्ट, स्टालिन तथा एटली ने युद्धोत्तर राजनीति के बारे मे अनेक फैसले किए जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नई दिशा दी। सन्धियों की व्याख्या बाध्यकारिता राजनयिकों के अधिकार, युद्धबन्दियों सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

1 Quincy Wright International Law and the United Nations p 362

युद्ध अपराधियों पर मुकदमें मानव-अधिकार, नर-सहार (जिनोसाइड) निषेधक आदि के विकास मे राज्याध्यक्षों के बीच हुई इस व्यक्तिगत सहमति ने प्रमुख भूमिका निभाई।

राज्याध्यक्षों के व्यक्तिगत प्रतिनिधियों तथा पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने व्यक्तिगत राजनय को और सुदृढ बनाया। रिचर्ड निक्सन के कार्यकाल में हेनरी कीसिंगर ने युद्ध को समाप्त करने साम्यवादी चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने, पश्चिम एशिया के युद्ध को समाप्त करने तथा अरब-इजरायल सन्धि-वार्ता करवाने में महत्वपूर्ण भाग लिया। भारत के दुर्गाप्रसाद धर पी एन हक्सर आदि ने भी बगलादेश की स्थापना के दौरान, भारत-रूस सन्धि के दौरान प्रधान-मन्त्री के विशेष दूत की हैसियत से सम्पूर्ण कार्यवाही में भाग लिया और महत्वपूर्ण निर्णय किए। राजनयिकों के व्यवहार तथा उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को प्रयुक्त करने के ढग से यह स्पष्ट होता है कि अमुक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किन नियमों को मान्यता देता है तथा किन क्षेत्रों में नए नियमों के विकास की आवश्यकता को अनुभव करता है।

राजनयिक व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहयोगी है। राजनयिक वास्तव में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रमुख अभिकर्ता एव माध्यम है, वे अपने राज्य तथा दूसरे राज्य के मध्य सम्बन्धों को ठोस आधार प्रदान करते हैं। राजनयिक व्यवहार से स्वत कानूनों का निर्माण नहीं होता वरन् उससे यह स्पष्ट होता है कि उसका राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के किस नियम के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है। इस प्रकार विभिन्न राजनयिकों के माध्यम से मौजूदा नियमों का निर्धारण होता है और प्रकट स्वीकृति के आधार पर उन्हें ठोस स्वरूप प्राप्त होता है। राजनयिकों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यावहारिक अनुभव होता है अत उनके व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत बन जाते हैं। राजनयिकों के सस्मरणों से इस बात का भी पता चलता है कि जिन देशों में उन्होंने अपने राज्य का प्रतिनिधित्व किया है उन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति क्या विचार अथवा दृष्टिकोण है। जार्ज एफ कैनन, के एम पत्रिकर, जॉन फाआस्टर डलेस, आआइजनहावर, कैनेडी हेनरी कीसिंगर, रिचर्ड निक्सन रीगन आदि के सस्मरणों से हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति उनके राज्यों के दृष्टिकोण की अच्छी झलक मिलती है।

8

राजनयिक अभिकर्त्ता और वाणिज्य दूत : श्रेणियाँ एवं उन्मुक्तियाँ; तृतीय राज्य के सन्दर्भ में स्थिति, राजनयिक निकाय, अग्रत्व का नियम, प्रत्यय-पत्र एवं पूर्णाधिकार

(Diplomatic Agents & Consuls . Their Classes and Immunities; Position in Regard to the Third State, The Diplomatic Body, Principle of Precedence, Credentials and Full Powers)

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के सचालन मे अभिकर्त्ताओं या प्रतिनिधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनयिक अभिकर्त्ताओं का अर्थ ऐसे व्यक्तियों से है जो अपने राज्य और स्वागतकर्त्ता राज्य के राजनीतिक सम्बन्धों का सचालन तय करते है। फ्राँस मे इनको सार्वजनिक मन्त्री (Ministers Public) कहा जाता है। एक राजनयिक अभिकर्त्ता का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्य राज्यों से अपने राज्य के अच्छे सम्बन्धों का तथा अपने देशवासियों के हितों को ध्यान रखे और सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी सरकार को प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। इन अभिकर्त्ताओं की सहायता अनेक पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। स्थायी मिशन के अध्यक्ष के अतिरिक्त कभी कभी विशेष उद्देश्यों के लिए अन्य राजनयिक अभिकर्त्ता भी नियुक्त किए जाते हैं। ये शव यात्रा के समय अथवा किसी समारोह के समय अपने सम्प्रभु या शासनाध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्थायी दूतावासों की स्थापना आधुनिक काल की देन है। मध्य युग मे राज्यों के बीच आपसी सम्बन्ध बहुत कम थे और जो सम्बन्ध थे उनका सचालन विशेष कार्य के लिए भेजे गए प्रतिनिधि द्वारा किया जाता था। अपना कार्य समाप्त होने पर वह वापस आ जाता था। स्थाई राजदूत भेजने की प्रथा 14वीं शताब्दी मे इटली गणराज्य में प्रारम्भ हुई। फ्राँस के लुई 11वें ने अनेक राज्यों की राजधानियों में अपने स्थाई प्रतिनिधि भेजे। बाद मे यातायात और सचार साधनों के विकास के फलस्वरूप राज्यों के आपसी सम्बन्धों का विस्तार हुआ और 17वीं शताब्दी तक प्राय सभी राज्यों ने स्थायी दूत भेजने की परम्परा अपना ली। प्रो फेनविक के कथनानुसार आज कोई भी राज्य शेष ससार से सम्बन्ध विच्छेद कर अलग थलग नहीं रह सकता। उसे विश्व समाज मे सहयोगपूर्वक रहना पडता है।

प्रत्येक स्वतन्त्र-प्रभु सत्ता सम्पन्न राज्य दूसरे राज्यों में अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए राजनयिक अभिकर्ता भेजता है और दूसरे राज्यों के अभिकर्ताओं का स्वागत करता है, किन्तु ऐसा करने के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से बाध्य नहीं है। राजनयिक अभिकर्ता भेजने और स्वागत करने का अधिकार एक अर्द्ध-प्रभु राज्य को भी है या नहीं, इसका निर्णय उस अर्द्ध-प्रभु राज्य तथा उसको प्रभावित करने वाले राज्य के बीच होने वाली सन्धि पर निर्भर करता है। जब तक मिस्र टर्की साम्राज्य का भाग रहा तब तक वहाँ विदेशों से वाणिज्य सन्धियाँ करने का अधिकार था, किन्तु वह स्थायी दूत नहीं भेज सकता था।

राजनयिक अभिकर्ताओं की नियुक्ति राजतन्त्रात्मक राज्यों में सम्राट द्वारा की जाती है। सामान्यतः यह अधिकार संविधान में सम्मिलित कर लिया जाता है। फ्रांस का राष्ट्रपति तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति (सीनेट की सहमति से) राजदूतों की नियुक्ति करता है। भारत में यह शक्ति राष्ट्रपति के नाम से प्रधान मन्त्री द्वारा प्रयुक्त की जाती है। सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्येक देश की राजधानी में केवल एक स्थाई राजनयिक अभिकर्ता नियुक्त किया जाता है। युद्ध के समय तटस्थ मित्र राज्य का प्रतिनिधि एक युद्धरत राज्य में दूसरे युद्धरत राज्य की जनता के हितों की रक्षा करता है। सिद्धान्ततः इस बात में भी कोई आपत्ति नहीं है कि एक ही व्यक्ति को एक से अधिक देशों के प्रतिनिधित्व का कार्य सौंपा जाए। ऐसा प्रायः तब किया जाता है जब कई छोटे राज्य मितव्ययिता हेतु अथवा खर्च-व्यय कम करने के लिए ऐसा किया जाता है।

एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को भेजे जाने वाले दूतों की श्रेणी उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। सामान्यतः एक राज्य जिस श्रेणी के दूतों का स्वागत करता है उसी श्रेणी के दूत प्रेषित करता है। स्विट्ज़रलैण्ड इसका अपवाद है। यहाँ ग्रेट ब्रिटेन तथा अनेक देशों के राजदूतों का स्वागत किया जाता है, किन्तु यह किसी देश में अपने राजदूत नहीं भेजता है।

राजनयिक अभिकर्ताओं की श्रेणियाँ
(Classification of Diplomatic Agents)

दूतों को अनेक प्रकारों में विभाजित किया गया है। भारतीय विचारकों ने दूत की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसकी श्रेणियों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्री कौटिल्य द्वारा दूत को राजा का मुख कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा लोग एक-दूसरे से बातचीत करते हैं। इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य मत का उल्लेख करना आवश्यक है।

भारतीय मत : कौटिल्य ने योग्यता और अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है, ये हैं—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। प्रथम श्रेणी के दूतों में अमात्य जैसी सभी योग्यताएँ, दूसरी में अमात्य पद की कुछ योग्यताएँ और तीसरी में अमात्य पद की आधी योग्यताएँ पर्याप्त मानी गई हैं। प्रथम श्रेणी के दूतों को व्यापक अधिकार और कर्तव्य सौंपे गए थे। इनकी तुलना आधुनिक राजदूतों से की जा सकती है।

दूसरी श्रेणी मे राजदूतों के अधिकार सीमित थे और तीसरी श्रेणी के राजदूतों को केवल सन्देश वाहक मात्र माना गया।

कामन्दक ने भी कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत दूतों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। इन्होंने दूतों के कर्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार दूत को अपने और दूसरे देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने चाहिए दूसरे राज्यों में अपने राजा के प्रभाव तथा गुणों का प्रचार करना चाहिए उसे अन्य राज्य के विभिन्न अंगों की वास्तविक शक्ति का परिचय प्राप्त करके अपने राजा को बताना चाहिए विदेशी राजा के असन्तुष्ट वर्ग को अपने साथ मिला लेना चाहिए आदि आदि।

पाश्चात्य मत प्रो ओपेनहेम ने राजनयिक दूतों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(1) वे दूत राजनीतिक सन्धि वार्ता के लिए भेजा जाता है और (2) वे दूत जो समारोहपूर्ण कार्यों के लिए अथवा अध्यक्षों मे परिवर्तन की सूचना देने के लिए भेजे जाते हैं। विभिन्न राज्य समय समय पर दूसरे राज्यों को विशेष दूत भेजते है जो राजतिलक शादी दाह क्रिया आदि मे भाग लेते है। दोनों प्रकार के दूत एक जैसा स्तर रखते हैं। राजनीतिक दूतों को पुन दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(1) स्थाई और अस्थाई रूप से किसी राज्य मे समझौता वार्ता करने के लिए भेजे गए दूत और (2) किसी कॉग्रेस या सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए दूत। दूसरे प्रकार के राजनीतिक दूत यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते है उसमे बसते नहीं है किन्तु वे निश्चय ही राजनयिक दूत होते है और इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

उल्लेखनीय है कि मध्यकाल तक राजदूतों की श्रेणियाँ नहीं थी। उस समय अग्रत्व की व्यवस्था थी और प्रत्येक देश का दूत अपनी सवारी और गाडी अन्य देशों के दूत स आगे रखने का प्रयत्न करता था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि किसी देश विशेष में प्राप्त अग्रत्व के आधार पर ही उनकी महत्ता तय की जाती है। इसलिए राजदूत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए अपनी चतुराई शौर्य एव ऐश्वर्य का प्रयोग करते थे। प्राथमिकता का निर्धारण सबसे पहले रोम के पोप द्वारा किया गया। उसके अनुसार स्वर्ग की राह दिखाने वाले पोप का स्थान सर्वोपरि था। उसके बाद रोम के सम्राट का स्थान था। सम्राट् के उत्तराधिकारी तीसरी श्रेणी मे रखे गए। इनके बाद फ्रान्स एरागन और पुर्तगाल के शासकों का स्थान था। यह वर्गीकरण राज्यों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार नही किया गया था अत अनेक राजदूत आपस मे इसी प्रश्न पर लड बैठत थे। ऐसे संघर्षों मे कभी कभी द्वन्द्व युद्ध की स्थिति भी आ जाती थी। इस प्रकार दूतावास राजनीतिक कार्य कलापों का क्षेत्र न होकर द्वन्द्व युद्धों का अखाडा बन गए। सन् 1661 ई मे स्वीडन के नए राजदूत के लन्दन आने पर उसके स्वागत के समय गाडियाँ आगे पीछे करने के विवाद को लेकर फ्रॉस तथा स्पेन के राजदूतों मे झगडा हो गया। फ्रॉसीसी चालक गाडी से खीच लिया गया तथा दो घोडे अगविहीन कर दिए गए। एक सैनिक की हत्या कर दी गई। लुई 14वे ने इस कार्य से रुष्ट होकर स्पेन से राजनयिक सम्बन्ध तोड दिए और यह धमकी दी कि यदि लन्दन स्थित स्पेन के राजदूत को दण्डित न किया गया और स्पेन ने फ्रॉस से क्षमा याचना नहीं की तो वह स्पेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा। स्पेन ने कटुता समाप्त करने के लिए फ्रॉस से क्षमा याचना करते हुए क्षतिपूर्ति दी ।

इन विवादों का अन्त करने के लिए तथा विश्व के सभी राज्यों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा 1815 की वियना काँग्रेस ने तथा 1818 की एक्स ला (Aix La Chapelle) काँग्रेस ने विभिन्न प्रकार के दूतों की तीन श्रेणियाँ तथा वरिष्ठता का क्रम निर्धारित किया। वियना काँग्रेस ने दूतों की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया। इसमें छोटे राज्यों के दूतों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। एक्स ला शैपल की काँग्रेस ने आवासी मन्त्री (Ministers Resident) की नई श्रेणी की रचना की। दूतों की ये विभिन्न श्रेणियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

1. राजदूत (Ambassadors)

राजदूत को प्रेषक-राज्य के सम्प्रभु का प्रतिनिधि माना जाता है। प्रारम्भ में केवल राजकीय सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे तथा स्वीकार किए जाते थे। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछ छोटे राज्य भी राजदूत नियुक्त करने लगे। अपने राज्य के सम्प्रभु का प्रतिनिधि होने के कारण राजदूत अनेक विशेषाधिकार सम्मान एवं सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसे स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष से सीधे मिलने और बात करने का अधिकार होता है। राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में राजदूत के ये अधिकार महत्वपूर्ण थे किन्तु आज की लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रियों का महत्व बढ़ जाने से अधिकांशतः राजनयिक कार्य विदेश विभाग स्तर पर ही सम्पादित कर लिये जाते हैं। राजदूतों का अन्य अधिकार यह है कि उन्हें परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग उस समय से ही किया जाता है जब ये राजदूत अपने राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि हुआ करते थे। राजदूत का स्थान, पद प्रतिष्ठा और अग्रता क्रम की दृष्टि से सर्वोपरि होता है। केवल प्रथम श्रेणी के राजनयिक अभिकर्ता को ही राजदूत कहा जाता है।

19वीं शताब्दी के अन्त तक प्रथम श्रेणी के पदों में केवल राजदूत शब्द का ही प्रयोग होता था, किन्तु बाद में यह अलंकार और पूर्ण अधिकारयुक्त शब्दों का भी प्रयोग करने लगा। सन् 1893 से संयुक्त राज्य अमेरिका राजदूत स्तर के राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति नहीं करता था और इसलिए वाशिंगटन भेजे जाने वाले विदेशी राजनयिक अभिकर्ता भी निम्न स्तर के होते थे।

2. पूर्ण अधिकारयुक्त मन्त्री और असाधारण दूत
(Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)

इन्हें दूसरी श्रेणी का राजनयिक अभिकर्ता माना जाता है। ये अपने प्रेषक राज्य के सम्प्रभु के व्यक्तिगत दूत नहीं होते इसलिए इनको राजदूत जैसा सम्मान और अधिकार प्राप्त नहीं होता है। ये राजदूतों की भाँति स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष से सीधे नहीं मिल सकते और न इनको विशेष सम्मान सूचक अधिकार प्राप्त होते हैं। इनको सौजन्य के कारण परम श्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु यह उनका अधिकार नहीं है। पोप के अन्तरनिशियो नामक दूत इस श्रेणी में आते हैं।

यूरोप में अस्थाई कार्यों के लिए भेजे जाने वाले दूतों के लिए असाधारण शब्द का प्रयोग किया जाता था ताकि उनमें तथा वहाँ स्थाई रूप से रहने वाले मन्त्रियों के बीच अन्तर

किया जा सके। बाद मे इसके साथ पूर्ण अधिकारी शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा इन्हें प्रेषक राज्य समस्त शक्तियाँ प्रदान करता है।

3 आवासी मन्त्री (Ministers Resident)

यह राजनयिक अभिकर्ताओं की तीसरी श्रेणी है। 1818 के एक्स लॉ शैपल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से इस नए वर्ग का प्रारम्भ हुआ। व्यवहार में इनमें तथा द्वितीय श्रेणी के दूतों मे विशेष अन्तर नहीं है। इनका औचित्य यह था कि ग्रेट ब्रिटेन ऑस्ट्रिया फ्रांस आदि की महाशक्तियाँ यह चाहती थी कि उनके तथा निम्न शक्तियों के दूतों मे अन्तर रहे तथा इनके दूतों को अधिक प्रतिष्ठा न दी जाए। इन दूतों को परमश्रेष्ठ के रूप में सम्बोधित करने की शिष्टता भी नही बरती जाती है। आजकल आवासी मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

4 कार्यदूत (Charge D'Affairs)

इस वर्ग के दूत उपर्युक्त दूतों की भाँति राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्यों के अध्यक्ष के लिए नहीं भेजे जाते वरन् एक राज्य का विदेश मन्त्रालय दूसरे राज्य के विदेश मन्त्रालय के लिए भेजता है। फलतः इन दूतों को दूसरों की भाँति विशेष सम्मान विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त नही होती हैं। ये दूत अपनी नियुक्ति के प्रत्यय पत्र राज्य के अध्यक्ष को न सौंप कर विदेश मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। भारत में मैक्सिको मंगोलिया और इथियोपिया आदि राज्यों के कार्यदूत होते हैं।

किसी देश में स्थित सभी दूतों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic Corps) कहा जाता है। इनमें वरिष्ठतम दूत को डायन (Doyen) अथवा दूत शिरोमणि कहा जाता है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य आपस मे जिन दूतों का आदान प्रदान करते हैं उन्हें उच्चायुक्त (High Commissioner) कहते हैं। भारत में वाणिज्य दूतों के अलावा राजदूत उच्चायुक्त और दूतों की अन्य श्रेणियाँ विद्यमान है।

परम्परागत रूप से राज्य प्राय समान श्रेणी के राजनयिक दूतों का आदान प्रदान करते हैं। व्यवहार मे इस नियम के अपवाद भी हैं। आजकल यह प्राचीन परम्परा टूट चुकी है जिसके अन्तर्गत केवल बडे राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे जाते थे। अब किसी छोटे देश के लिए महाशक्ति द्वारा राजदूत भेजना एक प्रकार से छोटे राज्य के अहम् को सन्तुष्ट करना है।

राजदूत या मन्त्री के नीचे एक राजनयिक मिशन मे सैकडो व्यक्ति कार्य करते हैं। आवश्यकता के समय मिशन के सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों के बीच अन्तर किया जाता है। सरकारी सेवी वर्ग वह है जिसके सभी सदस्य प्रेषक राज्य के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किए जाते है। गैर सरकारी सेवी वर्ग मे रसोइया माली तथा मिशन के अधिकारियों के सेवक होते हैं। इनकी स्थिति के सम्बन्ध मे पर्याप्त विवाद है। अनेक राज्यो मे सौजन्य वश ही इनको राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती है।

राजदूतो के अग्रत्व का क्रम उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निश्चित होता है। यह नियम वियना काँग्रेस मे निर्धारित किया गया था। आजकल इस नियम का कई राज्य अनुसरण नही करते और वे राजदूतो की ज्येष्ठता उनके प्रमाणपत्र उपस्थित

किए जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं। भारत में इसी परम्परा का पालन किया जाता है।

दूतों की नियुक्ति
(Appointment of Envoys)

राजनयिक अभिकर्ताओं की नियुक्ति करते समय उनकी आवश्यक योग्यता और गुणों का निर्धारण प्रेषक राज्य स्वयं करता है। वह ऐसे लोगों को दूत बनाकर भेजता है जो उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति कर सके। दूसरे राज्य को यह अधिकार है कि वह कारण बताए बिना ही अन्य राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत न करें। दूतों की नियुक्तियों के सम्बन्ध में कुछ निम्नलिखित उल्लेखनीय बातें महत्वपूर्ण मानी जाती हैं—

पूर्व स्वीकृति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में कई ऐसे उदाहरण हैं जब एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत नहीं किया गया। सन् 1885 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने मि कीले (Mr Keiley) को दूत बनाकर इटली भेजा किन्तु इटली सरकार ने उसका स्वागत नहीं किया क्योंकि 14 वर्ष पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में एक आम सभा में बोलते हुए कीले ने पोप के प्रदेश के इटली में विलय का विरोध किया था। इस प्रसंग में पत्र-व्यवहार में ऑस्ट्रिया-हंगरी सरकार ने बताया कि दूसरे राज्यों को प्रतिनिधि भेजने से पहले उन राज्यों की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। सन् 1893 में अमेरिकी विदेश मन्त्रालय ने राजदूत नियुक्त करते समय विदेशी सरकारों से पहले ही पूछ लिया कि क्या उनको प्रस्तावित नामजद व्यक्ति स्वीकार होगा। तब से यह व्यवहार एक स्वीकृत नियम बन गया है। वर्तमान में राजदूतों की नियुक्ति के पूर्व संबंधित देश से स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है।

महिला राजदूत : महिलाओं को राजनयिक नियुक्त करने के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं है। इतिहास में महिला राजदूतों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सर्वप्रथम फ्रांस के लुई चौदहवें ने पोलैण्ड में महिला राजदूत की नियुक्ति की थी। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में महिला राजदूतों की नियुक्ति का कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत ने महिला राजदूतों की नियुक्ति की। भारत की श्रीमति विजयलक्ष्मी पण्डित को सोवियत रूस (1948-49), संयुक्त राज्य अमेरिका (1949-51) और ग्रेट ब्रिटेन (1954-62) आदि देशों में राजदूत बनाकर भेजा गया था।

प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) : राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति करते समय राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्यय-पत्र दिया जाता है। इसमें यह सूचना रहती है कि अमुक व्यक्ति को अमुक देश का राजदूत बनाया जा रहा है। प्रत्यय-पत्र के दो रूप होते हैं— (1) मूल प्रत्यय-पत्र जो एक मोहरबन्द लिफाफा होता है और (2) इसकी प्रतिलिपि जो खुली रहती है। दूसरे देश में पहुँचने पर प्रतिनिधि अपने आगमन की सूचना हेतु विदेश मन्त्रालय को अपने प्रत्यय-पत्र की प्रतिलिपि भेज देता है। मूल प्रत्यय-पत्र को एक विधिवत् समारोह में स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित किया जाता है। कार्यदूत को दिए गए प्रत्यय-पत्र पर विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं और इसे स्वागतकर्ता राज्य के विदेश मन्त्री को अर्पित किया जाता है।

स्थाई राजदूत को अपने साधारण कार्य व्यापार सम्पन्न करने के लिए प्रत्यय पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी अभिलेख की आवश्यकता नहीं होती किन्तु जब उसे कुछ विशेष कार्य सौंपे जाते हैं तो उसे पूर्ण अधिकार पत्र (Full Power) प्रदान किया जाता है। ये शक्तियाँ सम्बन्धित कार्य के अनुसार सीमित अथवा असीमित हो सकती हैं। इस पर राज्य के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं।

संयुक्त राजदूत साधारणत एक राज्य प्रत्येक राज्य के लिए अलग राजनयिक अभिकर्त्ता भेजता है किन्तु कुछ परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति को कुछ राज्यों में दूत कर्म करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। उदाहरण के लिए, भारत स्थित अमेरिकी राजदूत नेपाल में भी अमेरिकी राजदूत के कर्त्तव्य का पालन करता है। इसी प्रकार लन्दन में भारत का उच्चायुक्त आयरलैण्ड और स्पेन के लिए दूत का कार्य करता है। यूगोस्लाविया स्थित भारतीय राजदूत यूनान तथा बल्गारिया के लिए भी दूत का कार्य करता है। इसी तरह स्वीडन में स्थित भारतीय राजदूत डेनमार्क और फिनलैण्ड के लिए मैक्सिको का पनामा के लिए और इटली का अल्बानिया के लिए दूत का कार्य करता है।

प्रारम्भ में राज्य विदेशों में अपने एक से अधिक प्रतिनिधि नियुक्त करते थे। वर्तमान में भी ऐसा किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका में राजदूत के अतिरिक्त मन्त्री स्तर के एक या अधिक व्यक्ति भी नियुक्त किए। ऐसी स्थिति में एक को वरिष्ठ बनाया जाता है और अन्य उसके अधीनस्थ कार्य करते हैं।

विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
(Privileges and Immunities)

वर्तमान में राजनयिक प्रतिनिधियों को अपने कार्य एवं दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए अनेक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। ये विशेषाधिकार रिवाजी एवं अभिसमयात्मक कानूनों पर आधारित होते हैं। राजदूतों के स्वतन्त्र कार्य संचालन के लिए ही ऐसी व्यवस्था की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विचारक ओपेनहीम के कथनानुसार "राजनयिक प्रतिनिधि राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका गौरव होता है। वे अपने कार्यों को पूरी तरह तभी सम्पन्न कर सकेंगे जब उन्हें विशेषाधिकार प्रदान किए जाएँगे।" आजकल सामान्यत निम्नलिखित विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को उचित माना जाता है—

व्यक्तिगत अनतिक्रम्यता (Personal Inviolability)

राजनयिक अभिकर्ताओं को उतना ही पवित्र माना जाता है जितना राज्य के अध्यक्ष को। अत उनको जीवन-रक्षा की विशेष सुविधा दी जाती है तथा उन्हें स्वागतकर्ता राज्य के कानूनी क्षेत्राधिकार से अलग रखा जाता है। राजदूत पर किया गया आक्रमण उसके राज्य पर किया गया आक्रमण माना जाता है जो युद्ध का कारण बन जाता है। राजदूत को दी गई सुरक्षा बिना शर्त अथवा पूर्ण नहीं होती। यदि राजनयज्ञ कोई गैर कानूनी कार्य करता है तो स्वागतकर्त्ता राज्य आत्म रक्षा के लिए कदम उठा सकता है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत को शारीरिक क्षति पहुँचाना मारना अथवा बन्धन मे रखना निन्दनीय कार्य बताया है। कौटिल्य के अनुसार दूत चाण्डाल होने पर भी अवध्य

है। महाभारत के शान्तिपर्व मे भीष्म ने युधिष्ठर को बताया कि दूत को मारने वाला नरकगामी और भ्रूण हत्या के पाप का भागी होता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्यायालयों के निर्णयों द्वारा यह सुस्थापित हो चुका है कि किसी राजदूत को बन्दी बनाना तथा उसका माल जब्त करना अवैध है यहाँ तक कि शत्रु राज्य के दूत को हानि पहुँचाना भी उचित नहीं है। यदि उत्तेजना मे किसी दूतावास को क्षति पहुँचाई जाती है तो सम्बन्धित राज्य को इसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।

स्पष्ट है कि दूत की अवध्यता का अर्थ उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना है। यही अनतिक्रम्यता होती है। इसके अनुसार दूत का शरीर इतना पवित्र माना जाता है कि कोई व्यक्ति हिंसा या उपद्रव द्वारा उसकी क्षति नहीं कर सकता है। न्यायालय उस पर मुकदमा चला कर दण्डित नही कर सकते। दूत के सहयोगी व्यक्तियों और वस्तुओं को सुरक्षा प्रदान की जाती है। उसका परिवार अनुचर वर्ग गाडियाँ पत्र व्यवहार आदि अनतिक्रम्य समझे जाते है। देश का दण्ड विभाग उस पर लागू नहीं होता है। इस सन्दर्भ मे राजदूत का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह आत्मनियन्त्रण से काम ले और स्वागतकर्त्ता देश के कानून का आदर करे। लॉर्ड मेहोन के कथनानुसार, "यदि कोई दूत स्वागतकर्त्ता राज्य की सरकार के विरुद्ध षडयन्त्र करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करता है। उसके विशेषाधिकारों की शर्त यह है कि वह अपने कर्त्तव्यो की सीमा का उल्लघन नहीं करेगा। यदि उसने ऐसा किया तो स्वागतकर्त्ता राज्य अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है। यदि कोई राजदूत स्वय ही आग मे कूद पडे तो अनतिक्रम्यता का दावा नही कर सकता। यदि वह अपने को अनियन्त्रित भीड मे डाल दे तो उसके अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती।

2 राज्य क्षेत्र बाह्यता (Extra Territoriality)

राजदूत एव उनके परिवार के सभी सदस्यों को स्वागतकर्त्ता राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। उन्हे स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती है। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे एक नया विकास है प्राचीन विचारको के लिए यह अज्ञात था। पहली बार इसे ग्रोशियस की रचनाओं मे स्पष्ट किया गया। प्रो ओपनहॅम के मतानुसार राज्य क्षेत्र बाह्यता एक कल्पना मात्र है क्योंकि राजनयज्ञ यथार्थ मे स्वागतकर्त्ता राज्य के प्रदेश मे रहता है। वह राज्य के कानूनी दायित्व से मुक्त नही होता किन्तु वहा के न्यायालय के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहता है। अनेक मामलों मे यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य क्षेत्र बाह्यता केवल साहित्यिक अर्थ मे महत्व रखती है। सन् 1934 मे बर्लिन स्थित अफगान राजदूत की हत्या हो गई। इस मामले मे जर्मन न्यायालय ने यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास मे घटित यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर है।

3 निवास की उन्मुक्ति (Immunity of Domicile)

राजदूत को निवास स्थान सम्बन्धी उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। स्वागतकर्त्ता राज्य की पुलिस न्यायालय तथा न्यायालय का कोई कर्मचारी इसमे प्रवेश नहीं कर सकता। यदि इस क्षेत्र मे कोई अपराधी प्रवेश कर जाए तो दूतावास के अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे उसे राज्य सरकार को सौंप दे। अपने इस विशेषाधिकार का दुरुपयोग कर दूतावास अपराधियों के अडडे नहीं बनने दिए जा सकते। ऐसा होने पर राज्य आवश्यक कार्यवाही

कर सकता है। घुड़साल एवं मोटर गैरेज को निवास स्थान का भाग माना जाता है। निवास क्षेत्र में राज्य के अधिकारियों का प्रवेश दूतावास के अधिकारी की अनुमति से ही होता है। अनेक बार दूतावास शरण पाने के इच्छुक अपराधियों को शरण देता है। यदि राज्य न्यायिक कार्यवाही के लिए उस अपराधी की माँग करे तो दूतावास का कर्त्तव्य है कि सरकार को सौंप दे। यदि राजदूत ऐसा न करे तो स्वागतकर्त्ता राज्य उसे शारीरिक क्षति पहुँचाने के अतिरिक्त कोई भी कार्यवाही कर सकता है।

4 विदेशी दूतावास में शरणदान (Asylum Foreign Legations)

दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग-अलग व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। प्रारम्भ में अधिकांश राज्यों के दूतावासों में ऐसी शरणदान परम्परा थी। आजकल यह केवल दक्षिण अमेरिका के राज्यों में है। दूसरे राज्यों में दूतावासों को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है कि वे अपनी इमारतों में राजनीतिक अपराधियों को शरण दे सकें। यदि कोई राजदूत ऐसा करता है तो स्थानीय सरकार शक्ति का प्रयोग कर अपराधी को पकड़ सकती है। मानवीय दृष्टि से ऐसे लोगों को दूतावास में शरण दी जा सकती है जो उत्तेजित भीड़ या गैर कानूनी कार्य करने वालों के आक्रमण से भयभीत हों। राजनीतिक अपराधियों को इस प्रकार की शरण दी जा सकती है।

5 फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति
(Exemption from Criminal Jurisdiction)

राजनयिक अभिकर्त्ताओं को स्वागतकर्त्ता राज्य के फौजदारी क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान की जाती है। कानून और व्यवस्था के नाम पर उनको बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न पुलिस द्वारा उनको पकड़ कर उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इनसे यह आशा की जाती है कि अपराध न करें और स्वागतकर्त्ता राज्य के कानून का स्वेच्छा से पालन करें। ऐसा न करने पर उन्हें प्रेषक राज्य को वापिस भेजने तथा उनके देश द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। राजा या राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र में शामिल होने वाले दूतों को स्वदेश वापिस जाने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

6 दीवानी क्षेत्राधिकार उन्मुक्ति
(Exemption from Civil Jurisdiction)

दूतावासों के सदस्यों पर कोई दीवानी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। उन्हें ऋण न चुकाने पर बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न ही उनकी गाड़ियाँ, घोड़ों तथा साज समान को जब्त किया जा सकता है। ग्रोशियस का कहना था कि "राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति ऋणों की अदायगी या सुरक्षा के लिए न्यायालय या सम्प्रभु राजा के आदेशों से जब्त नहीं की जा सकती।" यह विशेषाधिकार राजदूत को चिन्तामुक्त रहकर कार्य करने के लिए दिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में 1708 में एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार यदि राजदूत कर्ज अदा नहीं करता है तो उसके विरुद्ध सम्मन जारी नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में काँग्रेस के कानून द्वारा राजदूत के विरुद्ध की गई कार्यवाही को असाँविधानिक घोषित किया गया है। दीवानी क्षेत्राधिकार से मुक्ति के कुछ अपवाद भी हैं।

7. गवाही देने से उन्मुक्ति (Exemption from Witnessing)

राजदूत को किसी मामले में गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उसे गवाही के लिए न तो किसी न्यायालय में बुलाया जा सकता है और न ही घर जाकर कोई अधिकारी उसकी गवाही ले सकता। यदि वह स्वयं गवाही देने के लिए सहमत हो तो न्यायालय उसकी साक्षी का लाभ उठा सकते हैं। सन् 1881 में अमेरिकी राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के समय वेनेजुएला का राजदूत वहाँ उपस्थित था। वह अपनी सरकार से अनुमति प्राप्त करके गवाह बन गया। राजदूत चाहे तो गवाह देने की प्रार्थना को ठुकरा सकता है। सन् 1856 में हालैण्ड के राजदूत ने एक नर-हत्या काण्ड देखा था, किन्तु अदालत में इसकी गवाही देने से इन्कार कर दिया।

8. पुलिस से उन्मुक्ति (Exemption from Police)

राजदूत को स्वागतकर्ता राज्य की पुलिस के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है और वहाँ की पुलिस के आदेश एवं नियम उस पर बाध्यकारी नहीं होते। दूसरी ओर जिन विषयों पर पुलिस नियन्त्रण रखती है उन पर राजदूत मनमानी नहीं कर सकता है। यह आशा की जाती है कि राजदूत उन सभी आज्ञाओं एवं नियमों का पालन करेगा जो उसके मार्ग में बाधक नहीं हैं और समाज की सामान्य सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं। यदि राजदूत ऐसा न करे तो प्रेषक सरकारों से उसे वापिस बुलाने की प्रार्थना की जा सकती है।

9. करों से उन्मुक्ति (Exemption from Taxes)

स्थानीय सरकार राजदूत पर आयकर या दूसरे प्रत्यक्ष कर नहीं लगा सकती। वह स्वागतकर्ता राज्य की सम्प्रभुता का विषय नहीं बनाया जा सकता। उससे मकान, बिजली, सफाई, नल आदि सेवाओं का मूल्य लिया जा सकता है। कुछ देशों में सौजन्यवश यह भी नहीं लिया जाता। दूसरे प्रकार के अप्रत्यक्ष कर लिए जा सकते हैं। वियना अभिसमय में दूतों को करों से मुक्त रखने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। वहाँ इन पर लागू होने वाले करों की सूची बनाई गई। राजदूत एवं उसके परिवार के सदस्य व्यक्तिगत उपयोग के लिए जो चीज मँगाते हैं उन पर कोई सीमा-शुल्क अथवा चुंगी नहीं ली जाती है।

10. धार्मिक अधिकार (Right of Religion)

राजदूत को धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। वह अपने विश्वास के अनुसार पूजा और उपासना कर सकता है। उसका धर्म स्थानीय धर्म और विश्वास से भिन्न हो सकता है। वह अपनी उपासना के लिए राजदूतावास परिसर में ही मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद आदि का निर्माण करा सकता है।

11. पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता (Freedom of Communication)

राजनयिक दूत को अपनी सरकार के साथ पत्र व्यवहार करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। स्थानीय सरकार द्वारा उसके पत्र-व्यवहारों का निरीक्षण नहीं किया जाता।

12. व्यावसायिक कार्य (Business Activities)

कुछ लेखकों के मतानुसार राजदूतों को व्यापारिक कार्यों की उन्मुक्ति नहीं देनी चाहिए। यदि राजदूत के पास उसके कार्यालय और निवास के अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्पत्ति है

तो इस पर कर लगाया जा सकता है। एक राजदूत द्वारा निजी व्यवसाय किए जाने पर अभियोग चलाया जा सकता है। अनेक विचारक इस मत का समर्थन करते हैं किन्तु समस्या यह है कि राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति और उन्मुक्ति के बीच अन्तर किस प्रकार किया जाए।

13 अनुचर वर्ग के लिए उन्मुक्तियाँ (Immunities for Retinue)

राजदूत को जो विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं वे एक सीमा तक उसके अनुचर वर्ग को भी प्राप्त होते हैं। इनमें दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी दूत के व्यक्तिगत सेवक उसके परिजन तथा नौकर चाकर शामिल होते हैं। राजदूत द्वारा अपने अनुचर वर्ग की पूरी सूची स्वागतकर्ता राज्य के विदेश मन्त्रालय को सौंपी जाती है। इस सूची के अलावा किसी व्यक्ति को कोई राजनयिक विशेषाधिकार नहीं दिया जाता है।

राजदूत की पत्नी या पति को उक्त सभी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। यदि राजदूत चाहे तो उसके पारिवारिक सदस्यों के विशेषाधिकार को निरस्त भी किया जा सकता है। दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी परामर्शदाता सचिव तथा सहचारी इत्यादि को दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की जाती है। राजदूत के निजी नौकरों के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम नहीं है किन्तु उन्हें प्राय दीवानी उन्मुक्ति और सीमित फौजदारी उन्मुक्ति प्राप्त होती है। राजदूत के सन्देशवाहकों को पूर्ण दीवानी और फौजदारी उन्मुक्ति प्रदान की जाती है।

तृतीय राज्य के सन्दर्भ में राजनयिक अभिकर्त्ता की स्थिति
(Position of Diplomatic Agent in Regard to Third State)

प्रत्येक राजनयिक अभिकर्त्ता को पद ग्रहण के लिए जाते समय या अपनी सरकार को प्रतिवेदन देने के लिए लौटते समय तीसरे राज्य की सीमाओं में होकर जाना पड़ता है। अत प्रश्न यह उठता है कि इस तीसरे राज्य में राजदूत की स्थिति क्या होनी चाहिए। राजदूत को न केवल रास्ता पाने के लिए तीसरे राज्य से सम्बन्ध रखना पड़ता है वरन् अन्य दो स्थितियों में भी यह आवश्यक बन जाता है—

(1) यदि राजदूत एक ऐसे युद्ध प्रवृत्त राज्य में है जहाँ अन्य राज्यों द्वारा सैनिक अधिकार किया जा चुका है (2) यदि तीसरे राज्य द्वारा उसके कार्य में हस्तक्षेप किया जाता है। तीसरे राज्य में इन राजनयिक अभिकर्त्ताओं की स्थिति से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

शान्तिकाल में निर्दोष गमन (Passage in time of Peace)

जब एक राजनयिक अभिकर्त्ता अपने राज्य से जाते समय या अपने राज्य को आते समय तीसरे राज्य में होकर गुजरता है तो उसकी स्थिति एव अधिकार कैसे होंगे इस सम्बन्ध में विचारकों ने भिन्न मत प्रकट किए हैं। स्मैलजिंग (Schmelzing) के कथनानुसार "राजदूत केवल उसी राज्य के प्रदेश में समस्त राजनयिक विशेषाधिकारों का उपभोग करता है जिसमे उसे भेजा गया है। अपनी यात्रा के दौरान वह जिन राज्यों में होकर गुजरता है उनमे वह अनतिक्रम्यता या अन्य विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता जब तक कि वहाँ के सम्प्रभु को अपना प्रत्यय पत्र न दिखाए। तीसरे राज्य में से यात्रा करने वाला

राजनयज्ञ एक साधारण व्यक्ति की भाँति होता है। परम्परा के अनुसार शान्ति काल में मित्र राजदूत बिना किसी बाधा के स्वतन्त्रतापूर्वक तीसरे राज्य से गुजर सकते हैं तथा कुछ समय विश्राम भी ले सकते हैं। इनको नियमित राजदूत की भाँति आदर और कुछ विशेषाधिकार प्रदान किए जाते हैं। यह एक राजनैतिक सौजन्य है कोई राजनयिक दायित्व नहीं है।

आजकल सभी राज्य इस बात से सहमत है कि उनके राजनयिक प्रतिनिधि अपना गन्तव्य स्थान के मध्यवर्ती राज्यों में होकर स्वतन्त्रतापूर्वक एवं निर्विघ्न जा आ सकें। उन्हें सभी उपयुक्त सुविधाएँ और सौजन्य प्रदान किया जाएँ। राजदूत के पास एक पासपोर्ट होना चाहिए जिसमें उसका पूरा परिचय दिया गया हो। तीसरे राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति की दृष्टि से इन तीन स्थितियों में अन्तर किया जा सकता है—

(1) जब एक दूत अपने देश से अपने गन्तव्य या देश के लिए अपने मार्ग में तीसरे राज्य से गुजरता है (2) जब वह अस्थायी रूप से तीसरे राज्य में निवास करता है और (3) जब वह अपनी मर्जी से तीसरे राज्य में ठहरता है। अन्तिम स्थिति में राजदूत को कोई उन्मुक्ति नहीं दी जाती।

युद्धकाल में गमन का अधिकार (Passage in time of War)

एक राजदूत युद्धकाल में तीसरे राज्य में होकर गमन कर सकता है अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित परिस्थितियों के अनुसार दिया जाता है—

1 जब प्रेषक राज्य तीसरे राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में हो ऐसी स्थिति में राजदूत को तीसरा राज्य गमन का अधिकार नहीं देता। वह उसे रोककर युद्ध बन्दी बना लेता है। ऐसा करके वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं करता। रिवियर (Rivier) के कथनानुसार यदि दो राज्यों के बीच युद्ध है तो राजदूत को सुरक्षा की दृष्टि से बन्दी बनाया जा सकता है। हर्स्ट (Hurst) के कथनानुसार यदि युद्धरत राज्य का राजदूत तटस्थ राज्य के जहाज में यात्रा कर रहा है तो उस जहाज को रोककर सैनिक न्यायालय के सम्मुख निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। सन् 17— में फ्रांस ने इंगलैण्ड और हनोवर के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार हनोवर फ्रांस के लिए शत्रु देश बन गया। जब फ्रांस के राजदूत ने बर्लिन जाते हुए हनोवर में होकर गुजरना चाहा तो उसे उसके भाई सहित युद्ध बन्दी बना लिया गया। कुछ महीनों तक उन्हें बन्दी बनाए रखा गया। सन् 1917 में जब संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में शामिल हो गया था वाशिंगटन स्थित जर्मन राजदूत को जर्मनी वापस जाना पड़ा। उसकी यात्रा की सुरक्षा का प्रबन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रार्थना पर मित्र राज्यों ने किया। इस दृष्टान्त में यद्यपि जर्मनी और मित्र राज्यों के बीच संघर्ष था किन्तु अमेरिका के हस्तक्षेप से उन्होंने जर्मन दूत को युद्ध बन्दी नहीं बनाया।

2. जब स्थानवर्ती राज्य का तृतीय राज्य से युद्ध हो सन् 1[illegible]0[illegible] में जब स्वीडन और पोलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था तो स्वीडन जाते हुए फ्रांसीसी राजदूत को पोलैण्ड के प्रदेश से गुजरते हुए बन्दी बना लिया गया। जब फ्रांस की सरकार ने इसका विरोध किया तो जवाब में यह कहा गया कि राजदूत के पास पासपोर्ट होना चाहिए था।

स्वागतकर्त्ता राज्य पर तीसरे राज्य की सशस्त्र सेनाओं का आक्रमण होने की स्थिति मे दो बाते उल्लेखनीय हैं—(i) यदि आक्रान्त राज्य की सरकार राजधानी से अपने देश के किसी अन्य कस्बे में चली जाए तो प्रश्न यह उठता है कि क्या राजनयिक अभिकर्त्ता को भी अपना निवास उसी कस्बे में बदल लेना चाहिए अथवा राजधानी में ही बना रहना चाहिए। इसका निश्चय वह स्वयं और उसकी सरकार करेगी। (ii) यदि स्वागतकर्त्ता राज्य पर तीसरे राज्य की सेनाओं का अधिकार हो जाए तो राजदूत का यह दायित्व है कि उस नगर को छोड़ दे। तटस्थ राज्यों के राजदूतों को भी ऐसी स्थिति मे हटना पड़ेगा जब तक कि उनकी सरकार नई सरकार से स्वीकृति प्राप्त न करले। सन् 1914 में जब जर्मनी की सेनाओं ने लग्जमबर्ग पर अधिकार कर लिया तो जर्मन सरकार ने लग्जमबर्ग मे आए फ्रौंस और बेल्जियम के राजदूतों को वापस जाने को कहा। जब 1914 मे जर्मनी की सेनाओं ने बेल्जियम के अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया तो बेल्जियम की सरकार फ्रौंसीसी प्रदेश मे चली गई और वहाँ स्थित अन्य विदेशी राजदूतों ने भी उसका अनुगमन किया।

सामान्य बाते (General Considerations)

एक राज्य को भेजा गया राजनयिक अभिकर्त्ता अपनी सरकार की अनुमति के बिना उस राज्य तथा अन्य राज्य के विवादों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नही रखता है। यदि वह बोलता है तो स्वागतकर्त्ता राज्य या अन्य राज्य अथवा दोनों उसकी स्वयं की सरकार से शिकायत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे राजनयिक विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों की सीमा के अन्तर्गत रहकर आवश्यक कार्यवाही कर सकते है। जब राजदूत अपने स्वागतकर्त्ता राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे दखल देने लगता है तब तीसरे राज्य के सम्बन्ध मे उसका कोई विशेषाधिकार नहीं रहता है। सन् 1734 मे पोलैण्ड स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने पोलैण्ड तथा रूस के युद्ध मे सक्रिय भाग लिया था। उसे रूसियों ने युद्ध बन्दी बना लिया और फ्रौंस द्वारा विरोध किए जाने पर भी 1736 तक नहीं छोड़ा गया।

राजनयिक निकाय
(The Diplomatic Body)

राजनयिक निकाय एक देश के सभी राजनयिक प्रतिनिधियों का सामूहिक नाम है। इसमे मिशनों के सभी अध्यक्ष पार्षद सचिव और सहचारी शामिल होते हैं। इनके अतिरिक्त राजनयिक कार्यालय से सम्बन्धित सभी कर्मचारी भी इसके भाग होते हैं। कुछ देशों मे राजनयिक निकाय की सूची समय समय पर प्रकाशित की जाती है। इसमे मिशन के सदस्यों की पत्नियाँ और वयस्क पुत्रियों को भी शामिल किया जाता है।

राजनयिक निकाय का अध्यक्ष वरिष्ठतम राजदूत होता है जिसे डोयन या डीन (Doyen or Dean) कहते हैं। डोयन अथवा डीन का यह कर्त्तव्य है कि राजनयिक मिशन और अन्य निकायों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की रक्षा करे। इस पदाधिकारी के कार्य सीमित तथा मुख्यत औपचारिक होते हैं। वह सार्वजनिक अवसरों पर अपने साथियो का अभिभावक होता है तथा राजनयिक निकायों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियो की रक्षा करता है। वह उत्सवों के समय दूसरे राजनयिक मिशनों के अध्यक्षों को सन्देश देता है। वह अपने राजनयिक निकायों के सभी रिकार्ड्स रखने के लिए उत्तरदायी होता है और अपने साथियो की ओर से जो कुछ भी कहता है या लिखता है उसके सम्बन्ध मे पहले उनसे विचार विमर्श

की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। एक राजनयिक मिशन का अध्यक्ष किसी प्रश्न पर संयुक्त कार्यवाही में केवल तभी शामिल होता है जब उसकी सरकार उसे अनुमति प्रदान कर देती है।

वरिष्ठतम राजनयिक प्रतिनिधि की पत्नी को डोयनी कहा जाता है। इसका कार्य स्वागतकर्ता राज्य के सम्मुख राजनयिक निकाय की महिलाओं को परिचय देना होता है। जिस राजनयिक मिशन का अध्यक्ष अविवाहित होता है उसकी महिलाओं के सन्दर्भ में डोयनी का यह कार्य विशेष महत्व रखता है। जिन राज्यों में राजनयिक निकाय के सदस्यों की संख्या अधिक होती है तथा जहाँ सम्राट के सामने डोयनी द्वारा राजनयिक निकाय की प्रत्येक महिला का नामोच्चारण करने की परम्परा है वहाँ डोयनी का पद महत्वपूर्ण बन जाता है। नीदरलैण्ड की परम्परा के अनुसार किसी राजनयिक मिशन के अध्यक्ष की नवागन्तुक पत्नी का वहाँ के विदेश मन्त्री की पत्नी तथा राजनयिक निकाय की अन्य महिलाओं से परिचय कराते समय डोयनी साथ देती है।

अग्रता का नियम
(Principle of Precedence)

अग्रता का अर्थ (The Meaning of Precedence)

अग्रता का अभिप्राय उस प्रचलित नियम से है जिसका ध्यान किसी देश के राज्य-स्तरीय समारोह तथा सामाजिक समारोहों या राजनीतिक परिषदों आदि में उस देश में स्थित विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के स्थान ग्रहण के क्रम में रखना पड़ता है। यह सिद्धान्त प्रारम्भ में अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। उस समय प्रत्येक राजदूत अपने राज्याधिपति के सम्मान और गौरव का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। अतः व्यवहार में एक राजदूत के रूप में स्वयं राज्याधिपति ही विदेश में उपस्थित रहता था। इसके फलस्वरूप अग्रता के सिद्धान्त ने जन्म लिया। राज्य के सामाजिक समारोहों में प्रत्येक राजनयिक प्रतिनिधि को उसके राज्याधिपति की श्रेष्ठता के अनुसार ही स्थान दिया जाता था। इस प्रकार सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठित राज्य के राजदूत को सबसे पहला स्थान और सबसे कम शक्ति तथा गौरव वाले राज्य के राजदूत को अन्तिम स्थान दिया जाता था। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह नियम श्रेष्ठ तथा उपयुक्त था, किन्तु व्यवहार में यह समस्या उपस्थित होती थी कि किसी राज्य की शक्ति, गौरव तथा सम्मान की श्रेष्ठता को मापने का कार्य कौन करे और किस प्रकार करे। उस काल में ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं थी जिसके मत को सभी राज्य मान्यता देने को तैयार होते। इस प्रश्न पर उस समय तक कोई लिखित सन्धि या समझौता भी नहीं था। फलतः अग्रता के प्रश्न पर राज्यों के बीच आए दिन विवाद होते रहते थे। कभी-कभी यह विवाद सशस्त्र संघर्ष के रूप में भी परिणत हो जाते थे।

इतिहास में अग्रता (Precedence in History)

वियना काँग्रेस तक ईसाई राज्यों के लिए अग्रता का निर्णय पोप द्वारा किया जाता था। वह इस दृष्टि से स्वयं को मान्य प्रधान स्थान पर, रोमन साम्राज्य के सम्राट को द्वितीय स्थान पर तथा फ्रांस के राजा को मान्य तृतीय स्थान पर रखता था। पोप के इस वर्गीकरण से भी राज्य सन्तुष्ट नहीं थे। अनेक बार उनके बीच गम्भीर विवाद छिड़ जाते थे। 16वीं

और 17वी शताब्दियों के राजनयिक इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। उस समय अग्रत्व के नियम के दो अन्य उल्लेखनीय परिणाम भी होते थे—

1 राजदूत को अपने सम्प्रभु के गौरव तथा सम्मान की दृष्टि से तड़क भडक प्रदर्शित करने मे पर्याप्त व्यय करना पडता था। यह सब उसके स्वय की जेब से होता था। फलत जब वे सेवामुक्त होते थे तो उन पर कर्ज का अत्यधिक भार हो जाता था।

2 अपनी बनावटी शान शौकत के कारण राजदूत निम्न स्तर के राजकर्मचारियो और दूसरे गैर सरकारी व्यक्तियों से मिलना अपने सम्मान और शोभा के विपरीत मानते थे। वे आवश्यक सामग्री का सकलन केवल निश्चत स्त्रोतों से ही कर पाते थे।

सन् 1815 की वियना काँग्रेस मे अग्रत्व के सन्दर्भ मे कुछ निर्णय लिए गए थे। इसके अनुसार राजनयिक वर्ग को कई श्रेणियों मे विभाजित किया गया। विभिन्न राज्य इन निर्धारित श्रेणियों के अनुसार अपने अग्रत्व का निर्धारण करने लगे। सोवियत सघ ने इस व्यवस्था से भिन्न जून 1918 मे अपनी सभी राजनयिक दूतों को एक ही श्रेणी प्रदान कर दी और उन्हे पूर्ण सत्ताधारी प्रतिनिधि कहा जाने लगा। यह एक अकेली व्यवस्था होने के कारण चल नहीं सकी और सोवियत सघ को धीरे धीरे पुराना वर्गीकरण अपनाना पड़ा।

वियना काँग्रेस मे यह निर्धारित हुआ कि अग्रत्व की दृष्टि से राजनयिक प्रतिनिधियो की चार श्रेणियाँ अपने क्रम से स्थान पाएँगी और प्रत्येक वर्ग के राजनयिक प्रतिनिधियो मे पहले नियुक्त होने वाले को अग्रत्व पहले और बाद मे नियुक्त होने वाले को बाद मे प्रदान किया जाएगा।

किसी राजदूत की मृत्यु, स्थानान्तरण और त्याग पत्र की स्थिति मे उसके अग्रत्व का प्रश्न अधिक जटिल बन जाता है। इस प्रश्न का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सहायता से किया जा सकता है। जब अग्रत्व का निर्णय नियुक्ति की तिथि के आधार पर करते है तो सबसे पुराने राजदूत को सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। उस देश मे स्थित सभी राजनयज्ञो मे वरिष्ठ होने के कारण उसे वरिष्ठ दूत या डोयन (Doyen) की उपाधि प्रदान की जाती है। आजकल अग्रत्व के नियम का महत्व पूर्ववत् नहीं है। यह परिवर्तन मुख्यत दो कारणों से हुआ है—

(क) सन् 1806 मे पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया तथा विश्व राजनीति मे प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों का विकास होने लगा। अब कोई राज्य किसी से श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जाता किन्तु प्रत्येक राज्य की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता का आदर किया जाता है तथा छोटे बडे और धनी निर्धन सभी राज्यों को समानता प्रदान की जाती है।

(ख) वियना काँग्रेस के बाद से सधियों पर हस्ताक्षर करने के लिए विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा एकांतरता (Alternate) का नियम व्यवहार मे लाया जाने लगा। तदनुसार किसी सन्धि की जिस प्रति पर कोई राजदूत हस्ताक्षर करता था वह उसे दूसरे पक्ष को देता और दूसरे राजदूत द्वारा हस्ताक्षर की गई प्रति को अपने पास रखता था। इस प्रकार राज्यों के बीच समानता का विचार पनपने लगा। इतने पर भी समारोहो तथा सम्मेलनो आदि मे आज भी राजदूत अमात्य आदि को उनके अग्रत्व का ध्यान रखकर ही स्थान दिया जाता है। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक देश की अपनी परम्परा व नियम होते है। जिन्हे दूसरे देश के राजनयज्ञ स्वीकार करते हैं।

वर्तमान व्यवहार (The Present Practice)

राजनयिक अभिकर्ताओं की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं तथा प्रत्येक श्रेणी में अग्रता का निश्चय राज्यनीतिज्ञ के राजनयज्ञ के आने की सरकारी सूचना के आधार पर किया जाता है। कतिपय लेखकों के मतानुसार अग्रता या वरिष्ठता का निश्चय उस तिथि के आधार पर किया जाना चाहिए जब राजनयज्ञ द्वारा अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए गए हों।

जब प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता राज्य के सम्प्रभु का स्वर्गवास हो जाता है या सरकार बदल जाती है तो राजनयज्ञों को नए प्रत्यय-पत्र जारी किये जाते हैं। इनके राजनयज्ञों के पद में आने की तिथियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः यह समस्या उठती है कि क्या इसके आधार पर राजनयज्ञों के अग्रता या वरिष्ठता में अन्तर किया जाए। इस सम्बन्ध में विचारकों के मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में 8 मार्च 1818 में एक विवाद उत्पन्न हुआ था। मामला यह था कि डेनिश राज्य में जो राजनयज्ञ 'डेवन' था उसके राज्य की सरकार बदल गई और इसलिए उसको नए प्रत्यय पत्र भेजे गए इस पर उसके कुछ साथियों ने यह मत प्रकट किया कि अब उसकी वरिष्ठता समाप्त हो गई तथा उसका पद उसके साथियों के बाद हो गया है परन्तु बहुमत की राय इस मत के विपरीत थी। सन् 1830 में राजनयिक निकायों के अध्यक्षों ने पेरिस में यह स्वीकार किया कि नए प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करने की तिथि चाहे कुछ भी हो, उनकी वरिष्ठता अपरिवर्तित रहेगी। यही व्यवस्था 1848 तथा 1852 में भी की गई। आजकल इसी मत का आदर किया जाता है।

अग्रता के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य के सम्प्रभु के अपने नियम होते हैं। यदि वहाँ स्थित विदेशी राजनयज्ञ कोई भिन्न नियम स्वीकार कर ले तो सम्प्रभुता के नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि अग्रता के सम्बन्ध में कभी कोई सन्देह उत्पन्न होता है तो ऐसी स्थिति में स्वागतकर्ता राज्य का निर्णय मान्य समझा जाता है।

जब राजदूत और राजनयिक निकायों के अन्य अध्यक्षों को आमन्त्रित किया जाता है तो उन्हें उनके सम्मान के आधार पर स्थान प्राप्त होता है। स्थान का निश्चय स्थानीय नियमों के आधार पर किया जाता है। उत्सवों और समारोहों में शामिल होने या न होने की बात साधारण है किन्तु यदि किसी राजदूत को उत्सव में बुलाया नहीं जाता तो इसे गम्भीर विषय माना जाता है और अतीतकाल में इसके परिणामस्वरूप राज्यों के बीच कटुता भी पैदा हुई। सन् 1750 में बर्लिन स्थित रूसी राजदूत को किसी समारोह में आमन्त्रित किए गए व्यक्तियों की सूची से छोड़ दिया गया था, क्योंकि अनुमान था कि वह उस समय राजधानी में नहीं था। इस घटना का रूसी सरकार द्वारा घोर विरोध किया गया और दोनों राज्यों के राजनयिक सम्बन्ध लम्बे काल तक विच्छिन्न रहे। राजतन्त्रात्मक देशों में राजनयिक निकाय का स्तर राज-परिवार के सदस्यों के बाद रखा जाता है। गणराज्यों में उनका अग्रता स्पष्ट नहीं रहता है। फ्रांस में राजनयिक निकाय का स्थान सीनेट और द्वितीय सदन के अध्यक्षों के बाद रहता है। अमेरिका में यह उपराष्ट्रपति के बाद आता है।

राज्य के किसी समारोह में राजनयज्ञ की अनुपस्थिति को कभी-कभी पर्याप्त राजनीतिक महत्व दिया जाता है। सन् 1818 में फ्रांस के राजा के जन्मदिन-समारोह में पर्शिया के राजदूत की अनुपस्थिति की जनता में पर्याप्त चर्चा रही तथा यह अनुमान लगाया गया कि दोनों सरकारों के बीच मतभेद हैं। एक राज्य की सरकार अपने राजदूत को यह निर्देश

भेजती है कि वह अमुक समारोह में भाग ले। सन् 1823 में ब्रिटेन ने अपने पेरिस स्थित राजदूत को पेनिनसुला में फ्रांस की विजय के समारोहों में भाग लेने से रोक दिया था। जब राजदूत स्वागतकर्ता राज्य के सम्प्रभु से व्यक्तिगत बैठकों में मिलते हैं तो भी अग्रत्व के क्रम का ध्यान रखा जाता है।

प्रत्यय-पत्र एवं पूर्णाधिकार
(Credentials and Full Powers)

जब राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति की जाती है तथा वह स्वीकृति योग्य प्रमाणित होता है तो उसे अनेक प्रमाण-पत्र दिए जाते हैं। इनमें प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसमें यह बताया जाता है कि सम्बन्धित व्यक्ति मान्य प्रतिनिधि है। इस पर प्रेषक राज्य की मुख्य कार्यपालिका के हस्ताक्षर होते हैं तथा स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को सम्बोधित होता है। कार्यवाहक दूत (*Charges D' Affairs*) के सन्दर्भ मे इस पर विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं तथा वह विदेश मन्त्री को सम्बोधित किया जाता है। प्रत्यय-पत्र में दूत का परिचय होता है उसमें उसके मिशन के सामान्य लक्ष्य का उल्लेख होता है उसमें प्रेषक राज्य अपना पूरा विश्वास प्रकट करता है तथा स्वागतकर्ता राज्य से प्रार्थना की जाती है कि वह भी राजनय में पूर्ण विश्वास प्रकट करे। राजनयज्ञ के मिशन का औपचारिक कार्य तब प्रारम्भ होता है जब वह अपना प्रत्यय-पत्र स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित कर देता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न देश अलग अलग प्रक्रिया अपनाते हैं किन्तु एक सामान्य व्यवहार यह है कि प्रत्यय पत्र स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष द्वारा एक समारोह में ग्रहण किए जाते हैं। जब एक राजदूत या असाधारण दूत नियुक्त होकर अन्य राज्य में आता है तो वह आते ही स्वागतकर्ता राज्य को अपने आगमन की सूचना तथा राज्याध्यक्ष को अपना प्रत्यय-पत्र अर्पित करने की अभिलाषा व्यक्त करता है। तत्पश्चात् विदेश मन्त्रालय राज्याध्यक्ष के सचिवालय से बात करके इस कार्य के लिए तिथि समय तथा प्रक्रिया का उल्लेख कर देता है। स्वागतकर्ता राज्य का विदेश मन्त्री या अन्य अधिकारी अपने राज्याध्यक्ष को राजदूत से परिचित कराता है।

राजतन्त्रात्मक राज्य को भेजे जाने वाले राजदूत वहाँ के राजा की मृत्यु अथवा सरकार बदलने पर पद से हट जाते हैं तथा उन्हें नए प्रत्यय-पत्र जारी किए जाते हैं। गणतन्त्रात्मक राज्य में ऐसा करना जरूरी नहीं होता है। वहाँ सम्प्रभुता जनता में निहित रहती है और इसलिए राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के बदलने पर नए प्रत्यय-पत्र जारी करना आवश्यक नहीं माना जाता है।

आवासी राजनयज्ञ (Resident Diplomat) को दिए गए प्रत्यय-पत्र में पूर्ण शक्तियाँ अथवा सन्धि-वार्ता का अधिकार शामिल होता है। पूर्ण शक्तियाँ (Full Powers) द्वारा उन सीमाओं को परिभाषित किया जाता है जिनके अन्तर्गत राजनयज्ञ सन्धि वार्ता करने की क्षमता रखता है तथा उसके कार्यों को उसकी सरकार द्वारा बाध्यकारी समझा जाता है। प्रेषक राज्य अपने राजनयज्ञ के कार्यों के अनुसमर्थन का अधिकार अपने पास ही सुरक्षित रखता है। विशेष दूत के लिए उसके प्रत्यय-पत्र के साथ पूर्णशक्ति सूचक एक अन्य पत्र (Letter of Patent) भी दिया जाता है। जब एक दूत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने

के लिए किसी राज्य में भेजा जाता है तो उसे अपना शक्ति सूचक पत्र वहाँ की सरकार को प्रस्तुत नहीं करना पड़ता वरन् प्रतिनिधि परस्पर ही आदान प्रदान कर लेते हैं।

राजनयज्ञों को प्रेषक राज्य द्वारा कुछ निर्देश और अनुदेश भी दिए जाते हैं ताकि उनके मिशन का सही मार्गदर्शन हो सके। इसमें समय समय पर वृद्धि एवं परिवर्तन भी किया जाता है। वे परिस्थिति के अनुसार सामान्य अथवा विशेष लिखित अथवा मौखिक गुप्त अथवा सार्वजनिक हो सकते हैं। सामान्यत ये लिखित एवं गुप्त होते हैं तथा दूत अपनी सरकार की अनुमति के बिना इनको प्रकाशित नहीं कर सकता। कभी कभी दूत को दो प्रकार के निर्देश दिए जाते हैं। कुछ निर्देश गुप्त होते हैं तथा अन्य अगोपनीय होते हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सभी दूतों तथा स्वागतकर्त्ता राज्य को बताया जा सकता है।

राजदूत को स्वदेश से स्वागतकर्त्ता राज्य तक पहुँचने के लिए पासपोर्ट दिया जाता है। इसके आधार पर मार्ग में आने वाले राज्य उसकी विशेष स्थिति से परिचित हो जाते हैं। वे उसे सुरक्षा एवं अन्य सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं। पासपोर्ट राजदूत के साथ साथ उसके परिवार के सदस्यों को भी प्रदान करते हैं। राजनयज्ञ को कुछ अन्य कागजात एवं अभिलेख भी दिए जाते हैं जिनसे वह स्वदेश एवं विदेशों के विदेश मन्त्रालयों के संगठन तथा कार्य का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने दायित्वों का सही निर्वाह कर सके।

राजनयिक मिशन की समाप्ति
(Termination of Diplomatic Mission)

राजनयिक मिशन सरकार की भाँति नहीं होते जिनका कानूनी अस्तित्व व्यक्तियों के बदलने पर भी बना रहता है। वास्तव में प्रत्यय पत्र व्यक्तिगत आलेख होते हैं। इसलिए राजनयिक मिशन की समाप्ति सम्बन्धित राजदूत के मर जाने पर या स्वदेश की सरकार द्वारा उसे वापस बुला लिए जाने पर हो जाती है और उसके उत्तराधिकारी द्वारा नया प्रत्यय पत्र जारी किया जाता है। यह निर्धारित करने के लिए सुस्थापित नियम नहीं है कि विदेशी सरकार में किस प्रकार के परिवर्तन मिशन की औपचारिक समाप्ति का कारण बन जाते हैं विदेशी सम्प्रभु की मृत्यु के बाद सामान्यत नए प्रत्यय पत्रों की माँग की जाती है। आजकल संवैधानिक राजतन्त्र या प्रजातन्त्र व्यवस्था की स्थापना के कारण स्थिति में परिवर्तन आ गया है।

प्रो ओपेनहीम के मतानुसार निम्नलिखित कारणों से दौत्यकार्य अथवा राजनय की समाप्ति होती है

1 मिशन का उद्देश्य पूरा होने पर दूत मण्डल को जिस उद्देश्य के लिए भेजा गया है उसके पूरा होने पर वह समाप्त हो जाता है। कई बार दूत किसी समारोह में भाग लेने के लिए भेजे जाते हैं जैसे शादी दाह संस्कार राजतिलक सरकार के अध्यक्ष बदलने की सूचना देने सम्मेलनों या काँग्रेसों में राज्य का प्रतिनिधित्व करने, इत्यादि। यह कार्य सम्पन्न होते ही राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु घर लौटने तक राजदूत के विशेषाधिकार बने रहते हैं।

2 प्रत्यय पत्र की अवधि समाप्त होना यदि राजनयज्ञ को सीमित काल का प्रत्यय पत्र दिया गया है तो उसका मिशन समय समाप्त होते ही समाप्त हो जाएगा। उदाहरण के

लिए एक राजदूत को वापस बुलाने और नया राजदूत नियुक्त करने के अन्तराल मे राजनयिक रूप से राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए अस्थाई तौर पर किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है।

3 वापस बुलाना *राजदूत को भेजने वाला राज्य उसे वापस भी बुला सकता है।* इसकी विधि यह है राजनयज्ञ अपने राज्य के अध्यक्ष से वापस बुलाने (Recall) का प्रत्यय पत्र प्राप्त करता है। इसे वह स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को अर्पित करता है। यदि वह कार्यदूत है तो यह पत्र उसे विदेश मन्त्री द्वारा दिया और लिया जाएगा। इस पत्र से सम्बन्धित राजनयज्ञ को वापसी का पारपत्र (Passport) मिल जाता है। उसके विशेषाधिकार घर लौटने तक बने रहते है।

वापसी का कारण राजदूत का त्याग पत्र उसकी पदोन्नति या प्रेषक एव ग्रहणकर्ता राज्य के बीच मनमुटाव और तनाव की वृद्धि आदि कुछ भी हो सकता है। वापस बुलाने का एक कारण राजनयज्ञ का दुराचरण भी हो सकता है। ऐसी स्थिति मे स्वागतकर्ता राज्य अपनी प्रार्थना करता है कि राजनयज्ञ को वापस बुला लिया जाए। यदि स्वागतकर्ता राज्य अपनी प्रार्थना पर जोर दे और प्रेषक राज्य राजनयज्ञ के कार्य को दुराचरण न माने तो *उससे उत्पन्न तनाव के कारण राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते है।*

4 दूत की पदोन्नति *जब एक राजनयज्ञ अपने पद पर रहते हुए ही उच्चतर श्रेणी* पर पदोन्नत कर दिया जाता है तो उसका मिशन एक प्रकार से समाप्त हो जाता है और उसे नया प्रत्यय पत्र प्राप्त करना पडता है।

5 पद विमुक्ति यदि स्वागतकर्ता राजनयज्ञ को पद से हटा दे तो उसका मिशन समाप्त हो जाता है। इसका कारण राजनयज्ञ का दुराचरण अथवा प्रेषक एव ग्रहणकर्ता राज्य के बीच उत्पन्न विवाद हो सकता है।

6 पारपत्र की माँग *वापस न बुलाए जाने पर भी एक राजनयज्ञ स्वागतकर्ता राज्य* के व्यवहार से दुःखी होकर स्वय पारपत्र की माँग कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप राजनयिक सम्बन्ध टूट भी सकते हैं और नहीं भी।

7 युद्ध छिड़ना यदि प्रेषक और स्वागतकर्ता राज्य के बीच युद्ध छिड जाता है तो दोनों देश अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं। वापसी पर रास्ते मे उनके विशेषाधिकार बने रहते हैं।

8 सौंविधानिक परिवर्तन यदि प्रेषक एव स्वागतकर्ता राज्य का अध्यक्ष सम्प्रभु है तो उसके मरने *या पद से हट जाने के कारण उसके द्वारा भेजा गया या स्वीकार किया गया* राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है तथा सभी राजनयज्ञों को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते हैं। उस समय तक उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त रहेगे तथा उनकी वरिष्ठता यथावत् बनी रहेगी।

9 सरकार मे क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता राज्य मे क्रान्तिकारी आन्दोलन के परिणामस्वरूप *यदि नई सरकार बन जाए तो राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। सभी राजनयज्ञो को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते है।* उसकी वरिष्ठता यथावत् बनी रहती है। ऐसा भी हो सकता है कि क्रान्ति के परिणाम जानने के लिए न तो नए

प्रत्यय पत्र भेजे जाएँ और न ही राजनयज्ञों को वापस बुलाया जाए। ऐसी स्थिति में राजनयज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार सभी विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं।

10 राज्य का विलय यदि प्रेषक अथवा ग्रहणकर्त्ता राज्य का अन्य किसी राज्य में विलय हो जाता है तो उसके राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। यदि विलय ग्रहणकर्त्ता राज्य का हुआ है तो विलयकर्त्ता राज्य सभी राजनयज्ञों को प्रदेश छोड़ने के लिए कहेगा। ये राजनयज्ञ अपने साथ अपनी सम्पत्ति ले जाएँगे। यदि विलय प्रेषक राज्य का हुआ है तो समस्या यह पैदा होती है कि दूतावास की सम्पत्ति किसे सौंपी जाए। यह राज्यों के उत्तराधिकार की समस्या है।

11 राजनयज्ञ की मृत्यु मिशन की समाप्ति का एक अन्य कारण राजनयज्ञ की मृत्यु है। ज्योंही राजदूत की मृत्यु होती है उसके कागजातों पर तुरन्त मोहर लगा देनी चाहिए। यह कार्य स्वर्गीय राजदूत के दूतावास के ही किसी सदस्य द्वारा किया जाएगा। स्थानीय सरकार द्वारा विशेष प्रार्थना न की जाए।

यद्यपि राजनयज्ञ की मृत्यु के साथ मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु उसके परिवार के सदस्यों और दूतावास के अन्य कर्मचारियों के विशेषाधिकार उनके प्रस्थान करने तक बने रहते हैं। उनके प्रस्थान के लिए एक समय निश्चित कर दिया जाता है। स्वागतकर्त्ता राज्य के न्यायालयों का राजदूत की सम्पत्ति और व्यक्तियों पर क्षेत्राधिकार नहीं होता। उससे मृत्यु कर की माँग भी नहीं की जा सकती।

12 जासूसी के कारण जब दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तियों का दुरुपयोग कर गुप्तचर का कार्य करते हैं और स्वागतकर्त्ता राज्य की गुप्त सैनिक सूचनाएँ अपने राज्य को भेजते हैं तो उन्हें वापस बुलाने की माँग की जा सकती है।

राजनयिक मिशनों की समाप्ति के उदाहरण
(Some Examples of Termination of Diplomatic Missions)

उपर्युक्त कारणों में से किसी भी एक अथवा अधिक कारणों से राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है

1 दक्षिण अफ्रीकी संघ ने वहाँ बसे हुए भारतीयों के साथ जातीय भेदभाव और पक्षपात की नीति बरती। भारत सरकार ने इसके विरुद्ध शिकायत की और 1946 में वहाँ से उच्च आयुक्त को वापस बुला लिया तथा उसका कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंप दिया। वस्तुस्थिति उग्र होने पर 1954 में भारत सरकार ने वहाँ अपना दूतावास बन्द कर दिया।

2 जुलाई 1953 में भारत ने लिस्बन से अपना दूत वापस बुला लिया क्योंकि पुर्तगाल सरकार ने गोवा के प्रश्न पर समझौते की बात करना बन्द कर दिया था।

3 सन् 1809 में अमेरिकी सरकार ने वाशिंगटन स्थित ब्रिटिश दूत जेक्सन की वापसी की माँग की क्योंकि उसने एक भोज के समय कुछ आपत्तिजनक बातें कही थीं। ब्रिटिश सरकार ने उसे वापस बुला लिया।

4 सोवियत संघ ने 1952 में अमेरिकी राजदूत जॉर्ज केनन को वापस बुलाने की माँग की क्योंकि उसने बर्लिन में समाचारपत्रों के संवाददाताओं को कुछ ऐसे वक्तव्य दिए थे जो सोवियत सरकार के प्रतिकूल थे। अमेरिका ने वापसी के कारणों को पर्याप्त नहीं समझा।

केनन को यद्यपि वापस बुला लिया गया किन्तु कोई नया दूत उसके स्थान पर नहीं भेजा गया। दूतावास का परामर्शदाता ही यह कार्य करता रहा।

5 सोवियत संघ ने 27 जून 1963 को पीकिंग से मास्को स्थित चीनी दूतावास के तीन कर्मचारियों को वापस बुलाने की माँग की क्योंकि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल के उस पत्र को रूस में वितरित किया जिसके प्रकाशन पर सोवियत सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। 30 जून को ये चीनी अपने देश को वापस चले गए।

6 अक्तूबर 1954 में सोवियत संघ की गुप्त पुलिस ने अमेरिकी दूतावास की कुछ स्त्रियों को पकड़ा जो मास्को में गुण्डागर्दी कर रही थीं। अमेरिका के विरोध पर सोवियत संघ ने माँग की कि अमेरिकी दूतावास के सहचारी की पत्नी श्रीमती सोमरलेट को वापस बुला लिया जाए। यह माँग मनोरंजक होने के साथ साथ अभूतपूर्व भी थी।

7 2 जनवरी 1961 को क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो ने अपने एक भाषण में कहा कि 300 कर्मचारियों में से 80 प्रतिशत गुप्तचारी का कार्य कर रहे थे। अत यह माँग की गई कि इनकी संख्या घटाकर 11 कर दी जाये। शेष कर्मचारी 48 घंटे के अन्दर वापस बुला लिए जाएँ। संयुक्तराज्य अमेरिका ने यह अनुभव किया कि इतने कम कर्मचारियों से दूतावास नहीं चल सकता अत उसने क्यूबा से राजनयिक संबंध तोड़ दिया।

8 डोमीनियन गणराज्य ने वेनेजुएला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास में (24 जून 1960) सहयोग दिया था इसलिए अमेरिकी राज्यों के संगठन की विदेश मन्त्रियों की बैठक में यह निश्चय किया गया कि अमेरिकी महाद्वीप के सभी राज्य इससे अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दें और इसका आर्थिक बहिष्कार करें। फलत सभी अमेरिकी राज्यों ने इससे अपने दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिए।

9 इंडोनेशिया और फिलीपाइन दोनों राज्य मलेशिया संघ के निर्माण के विरुद्ध थे इसलिए इस संघ की स्थापना होते ही उन्होंने इससे अपना दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिया।

वाणिज्य दूत
(Consuls)

वर्तमान में राष्ट्रों द्वारा की गई सन्धियाँ व्यापारिक हैं। ये प्राय द्विपक्षीय होती हैं जिनसे राज्य एक दूसरे को अधिक से अधिक व्यापारिक सुविधाएँ देने का प्रावधान रखते हैं। इसी उद्देश्य से राज्य एक दूसरे देशों मे वाणिज्य दूतावास (Consullor office) खोलते हैं। आज राजदूतों का एक मुख्य कार्य व्यापारिक गतिविधियों मे अभिरुचि प्रदर्शित करना है। एक राजदूत का तो यहाँ तक कहना है कि एक समय था जब राजदूत राजाओं के साथ घूमा फिरा करते थे परन्तु आज हम चीजे बेचने वाले (Carpet begging salesmen) व्यक्ति बन कर रह गये हैं। राजनय के प्रारम्भिक काल में जबकि राजदूत राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते थे वे व्यापार की वार्ताओं से दूर रहते थे। व्यापारिक काम करने मे अपना अपमान समझते थे। यह वास्तव में इतिहास की ओर लौटना हो गया है क्योंकि वर्तमान वैनिस की दूतीय व्यवस्था का प्रारम्भ व्यापार से ही हुआ था।[1]

डॉ एम पी राय वही पृष्ठ 315

वाणिज्य दूत संस्था की जड़ें मध्य युग में निहित हैं। इटली, स्पेन और फ्रांस के व्यावसायिक नगरों में व्यापारीगण चुनाव द्वारा अपने साथियों में से एक या दो व्यापारियों को व्यापारिक विवादों में पंच नियुक्त कर देते थे। इनको वाणिज्य दूत कहा जाता था। 15वीं शताब्दी में हॉलैण्ड तथा लन्दन में इटली के वाणिज्य दूत थे और ब्रिटेन के वाणिज्य दूत इटली, हॉलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे आदि राज्यों में भी वाणिज्य दूत थे। बाद में यह प्रथा कम हो गई। 17वीं शताब्दी में स्थायी दूतावासों की स्थापना के साथ-साथ वाणिज्य दूतों के कार्य पर्याप्त घट गए। राष्ट्रीय सम्प्रभुता की मान्यता का विकास होने के साथ ही इन वाणिज्य दूतों को अपने देशवासियों पर दीवानी एवं फौजदारी क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने की अनुमति नहीं दी गई। 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, नौपरिवहन एवं जहाजरानी का विकास हुआ। फलतः सरकारों को वाणिज्य दूतों की संस्था का महत्व और उपयोगिता समझ में आने लगी। शीघ्र ही इनको विदेशों में गैर-राजनीतिक कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा जाने लगा। इसके बाद इस संस्था का विस्तार हुआ। आज संसार में विभिन्न श्रेणियों के हजारों वाणिज्य दूत (Consuls) पाये जाते हैं। वाणिज्य दूत राजनयिक सेवा का अभिन्न अंग हैं और उनका उतना ही महत्व है जितना राजनयज्ञों का। आज के युग में आर्थिक राजनय (Economic Diplomacy) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण अंग है तथा लगभग प्रत्येक देश के विदेश मन्त्रालयों में आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित विशेष विभाग खोल रखे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्लाउडन समिति (Plowden Committee) का तो यह मत था कि प्रत्येक राजदूत को व्यापारिक क्षेत्र में भी कार्य करने का अनुभव होना चाहिए।[1]

वाणिज्य दूतों का कानूनी स्तर और श्रेणियाँ
(Legal Status and Classification of Consuls)

वाणिज्य दूत अपने देश के दूसरे देश में नियुक्त दूत होते हैं, परन्तु वे राजनयिक प्रतिनिधि नहीं होते हैं।[2] इन दूतों का कार्य अपने राष्ट्र के वाणिज्य-सम्बन्धी कार्य करना तथा वाणिज्य-हितों का संरक्षण करना होता है, क्योंकि इनका मुख्य कार्य अपने देश के वाणिज्य-हितों की सुरक्षा करना होता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत इन्हें राजनयिक प्रतिनिधि नहीं माना जाता। ये दूत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। वाणिज्य-दूतों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण 1963 के वियना-अभिसमय (Vienna Convention of 1963) में किया गया था।

यद्यपि राजनयिक एवं वाणिज्य अधिकारी मूल रूप से भिन्न होते हैं तथा उनकी कानूनी प्रकृति में पर्याप्त भिन्नता रहती है फिर भी अनेक राज्यों ने इन दोनों कार्यों को एक ही व्यक्ति में मिलाने का प्रयत्न किया है। राजनयिक अधिकारियों को वाणिज्य दूत की कुछ शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं और वाणिज्य दूतों को सीमित मात्रा में राजनयिक अधिकारियों के कार्य दिए जाते हैं। यह प्रबन्ध उस राज्य की सहमति से किया जाता है जिसमें अधिकारी को भेजा जा रहा है। दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले अधिकारी का स्तर तय करने के सम्बन्ध में समस्या उठ सकती है।

1. Plowden Committee Report, pp. 55-63
2. *J G Starke*, An Introduction to International Law, p. 449

सन् 1963 के *वियना अभिसमय* के अनुच्छेद 9 के अनुसार वाणिज्य-दूतों को निम्नलिखित 4 श्रेणियों मे बाँटा गया है

(1) कौंसल्स जनरल (Consuls-General) प्रथम श्रेणी के वाणिज्य दूतों को कौंसल्स जनरल कहते हैं तथा यह मुख्य वाणिज्य-दूतावास के प्रधान होते हैं।

(2) कौंसल्स (Consuls) इस प्रकार के वाणिज्य दूत दूसरी श्रेणी मे आते हैं तथा कुछ नगरों में ये भी अपने दूतावास के प्रतिनिधि होते हैं। परन्तु ये कौंसल्स-जनरल के नीचे होते हैं।

(3) वाइस कौंसल्स (Vice-Consuls) ऊपर वाली दो श्रेणियों के नीचे होते हैं तथा बहुधा ये कौंसल्स-जनरल तथा कौंसल्स के सहायक होते है। कुछ राज्यों मे इनकी नियुक्ति कौंसल्स-जनरल द्वारा की जाती है।

(4) कौंसलर्स एजेन्ट्स (Consular's Agents) कौंसलर्स एजेन्ट्स सबसे निम्न श्रेणी के वाणिज्य-दूत होते हैं तथा इनकी नियुक्ति कौंसल्स जनरल या कौंसल्स के द्वारा की जाती है।

वाणिज्य-दूतों की नियुक्ति बहुधा राष्ट्रों के अध्यक्ष द्वारा की जाती है तथा ग्रहण करने वाले राज्य उन्हें एक अनुमति पत्र जारी करके स्वीकार करते हैं।[1]

वाणिज्य दूतों के कार्य (Functions of Consuls)

वाणिज्य दूतों द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत प्रेषक राज्य एवं उसके राष्ट्रिकों के हितों की ग्रहणकर्ता राज्य मे रक्षा करना।

(2) दोनों देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहन करना और आर्थिक सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक सम्बन्धों का विकास करना।

(3) प्रेषक राज्यों की सरकार के लिए ग्रहणकर्ता राज्य के आर्थिक सांस्कृतिक और वैज्ञानिक जीवन के विकास की परिस्थितियों के सम्बन्ध मे प्रतिवेदन देना। रुचिशील व्यक्तियों एवं फर्मों के लिए भी इसकी सूचना देना।

(4) प्रेषक राज्यों के राष्ट्रिकों का पारपत्र एवं यात्रा सम्बन्धी कागज प्रसारित करना और उस राज्य की यात्रा के इच्छुक लोगों को वीसा तथा ऐसे ही दूसरे आलेख सौंपना।

(5) प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों की सभी वैध तरीकों से पूरी-पूरी सहायता करना।

(6) लिखित पत्रों को प्रमाणित करने वाले एवं नागरिक पंजीकरणकर्त्ता के रूप मे कार्य करना तथा कुछ प्रशासनिक कार्य सम्पन्न करना। ग्रहणकर्त्ता राज्य के प्रदेश मे प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों के उत्तराधिकार सम्बन्धी हितों की रक्षा करना।

(7) ग्रहणकर्ता राज्य के न्यायालयों एवं अन्य अधिकारियों के सामने प्रेषक राज्य के उन राष्ट्रिकों का प्रतिनिधित्व करना जो किसी कारणवश अपने अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानून के अनुसार इन अधिकारों की प्राविधिक रूप से रक्षा की जा सकती है।

1 एस के कपूर *अन्तर्राष्ट्रीय विधि*, पृष्ठ 283 84

(8) प्रेषक राज्य के न्यायालयों के लिए प्रमाण देने हेतु न्यायिक आलेखों अथवा कार्यकारी आदेशों के रूप में स्थित सन्धियों या ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानूनों के अनुसार कार्य करना।

(9) प्रेषक राज्य की राष्ट्रीयता वाले जलपोतों, उस राज्य में पंजीकृत यानों एवं पनडुब्बियों का ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानूनों एवं विनियमों के अन्तर्गत पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण करना, जहाज के कागजों की परीक्षा करना तथा उन पर मोहर लगाना, जल यात्रा के दौरान घटने वाली किसी भी घटना की जाँच पड़ताल करना, जहाज के मालिक, नौकरों एवं नाविकों के झगड़ों को यथासम्भव प्रेषक राज्य के कानून के अनुसार तय करना।

कभी कभी प्रेषक राज्य एक वाणिज्य दूत को तीसरे राज्य में अपने कार्य सम्पन्न करने की शक्ति भी सौंप देता है। यह अन्य दोनों राज्यों की सहमति के बाद ही किया जाता है। वाणिज्य दूतों का कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि के साथ-साथ वाणिज्य दूतों के अधिकार और कर्त्तव्य महत्त्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। वाणिज्य दूत स्वीकारी राज्य की आर्थिक स्थिति, उस देश में उपलब्ध आर्थिक अवसरों, सफर एवं यातायात, जहाजरानी, कीमतों, व्यावहारिक प्रतियोगिताओं, वाणिज्य तथा औद्योगिक संस्थानों आदि की सूचनाएँ एकत्र कर अपने देश की सरकार को भेजता है। सरकार यह रिपोर्ट अपने देश के व्यापारियों को देती है जिससे कि वे अपने आयात-निर्यात के आवश्यक निर्णय ले सकें। वाणिज्य दूतों का कर्त्तव्य है कि वे अपने देश की व्यापारिक वृद्धि के लिए नए बाजारों की प्राप्ति हेतु प्रयास करते रहें। उन्हें देखना होता है कि उनके देश के साथ की गई व्यापारिक सन्धियों का ठीक प्रकार से पालन हो रहा है या नहीं। किसी भी वाणिज्य दूत का यह अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह देश के व्यापार को प्रोत्साहित करे। अपने देश की कम्पनियों तथा स्थानीय और विदेशी कम्पनियों के मध्य व्यापारिक झगड़ों के समाधान में भी वाणिज्य दूत की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राजदूत के अतिरिक्त वाणिज्य दूत विभिन्न रूपों में अपने देश के नागरिकों को सहायता तथा संरक्षण देता है—जैसे हस्ताक्षर को प्रमाणित करना, उन्हें शरण दिलवाना, उनके विवाहों का पंजीकरण करना, जन्म और मृत्यु का पंजीकरण करना आदि। वाणिज्य दूत उनके प्रवक्ता तथा पारिवारिक डॉक्टर व वकील की भाँति है जो उन्हें समय समय पर परामर्श देता रहता है। बस्क का मत है कि विदेश में अपने देश का अकेला प्रतिनिधि होने के कारण उसका जन सम्पर्क का कार्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है। न्यूनाधिक रूप में यदि उसे 'जन-सम्पर्क अधिकारी' कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वह विदेशों में अपने देश के नागरिकों का मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) होता है। इस प्रकार कान्सल में उन सब कार्यों को करने की योग्यता होनी चाहिए जो एक व्यापारी, नागरिकता प्रदान अधिकारी, आव्रजन अधिकारी, योग्य प्रशासक, रिपोर्टर, सूचना वितरक, दस्तावेजकार, वकील आदि में होती है। ग्राहम स्टुअर्ट के मत में कान्सल "Master as well as a jack of all trades होना चाहिए।[1]

वाणिज्य दूतों के साथ-साथ उनकी पत्नियों को भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। उन्हें एक पादरी की भाँति घर और मुसीबत के मारों की कहानी सुननी पड़ती

1 डॉ. एम. पी. राय, वही, पृष्ठ 329-30.

है बीमारों की देखभाल करनी पड़ती है आए दिन लोगों के झगड़ों का निपटारा करना पड़ता है पर्यटकों आदि की समस्याओं का समाधान निकालना पड़ता है। उनका व्यवहार हर समय मुस्कराने वाली "स्वागतकर्ता स्त्री (Receptionist) की भाँति होता है।[1]

वाणिज्य दूतों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ (Privileges and Immunities of Consuls)

वाणिज्य दूतों की स्थिति राजनयिकों जैसी नहीं होती है। व्यवहार में कई राज्य विदेशी वाणिज्य दूतों को राजनयिकों जैसे विशेषाधिकार नहीं सौंपते। इनको विदेशी राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा ग्रहणकर्ता राज्य स्वीकार करता है। ये नियुक्तिकर्ता राज्य के एजेन्ट माने जाते हैं। वाणिज्य दूत अपने प्रेषक राज्य का सभी अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में प्रतिनिधित्व नहीं करते। इनको केवल सीमित कार्य सौंपे जाते हैं जिनका उद्देश्य केवल स्थानीय होता है। उनकी सार्वजनिक प्रकृति के कारण वे जनसाधारण से भिन्न माने जा सकते हैं। यद्यपि कानूनी रूप से वे किसी विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते किन्तु जनसाधारण से वे भिन्न होते हैं।

वाणिज्य दूत अपने राज्य के सरकारी अधिकारी होते हैं। वे उसके व्यापारिक और आर्थिक हितों की रक्षा करते हैं। रिवाज के अनुसार उन्हें विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है ताकि वे अपने कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकें। उनका कार्यालय तथा आलेख कुछ सीमा तक अनतिक्रम्यता रखते हैं। उपद्रव तथा अशान्ति के समय वाणिज्य दूत पर किया गया आघात उस राज्य के लिए अपमानजनक माना जाता है। यदि वाणिज्य दूत राजनयिक एजेन्ट भी है तो इसके लिए मुआवजे की माँग की जाती है।

वाणिज्य दूतों के विशेषाधिकारों का आधार कानून न होकर अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य है। वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में की जाने वाली सन्धियों में भी इनके विशेषाधिकारों का उल्लेख कर दिया जाता है। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं—

1 व्यावसायिक और गैर व्यावसायिक वाणिज्य दूतों के बीच प्राय भेद किया जाता है। प्रथम श्रेणी वालों को अधिक विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं।

2 वाणिज्य दूतों को स्थानीय दीवानी और फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नहीं किया जाता किन्तु व्यावसायिक वाणिज्य दूतों पर फौजदारी क्षेत्राधिकार प्राय गम्भीर प्रकृति के अपराधों तक सीमित रहता है।

3 अनेक सन्धियों में यह प्रतिपादित किया जाता है कि वाणिज्य दूतों के कागज पत्र अनतिक्रम्य होंगे और उनकी जाँच नहीं की जाएगी। वाणिज्य दूतों को अपने कार्यालय के आलेख और पत्र व्यवहार अपने निजी कागजों से अलग रखने चाहिए।

4 वाणिज्य दूत का भवन भी अनतिक्रम्य माना जाता है। स्थानीय पुलिस न्यायालय आदि का कोई भी अधिकारी वाणिज्य दूत की विशेष अनुमति के बिना इन भवनों में प्रवेश नहीं कर सकता। वाणिज्य दूत का यह कर्त्तव्य है कि इन भवनों में शरण लेने वाले अपराधियों का समर्पण कर दे।

1 डॉ एम पी राय वही पृष्ठ 329 30

5 व्यावसायिक वाणिज्य दूतों को प्रायः सभी प्रकार के करों और ड्यूटियों से मुक्त रखा जाता है। वे गवाह के रूप में न्यायालय में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं हैं। वे अपने प्रमाणों को या तो लिखित रूप में भेज सकते हैं अथवा किसी आयोग द्वारा उनके भवन में गवाही ली जा सकती है।

6 सभी प्रकार के वाणिज्य दूत अपने भवन के दरवाजे पर नियुक्तिकर्ता राज्य के हथियार रख सकते हैं और भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहरा सकते हैं।

7 राजनयिक एजेन्टों की भाँति वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों को ग्रहणकर्ता राज्य द्वारा विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है और उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनके शरीर, स्वतन्त्रता और सम्मान पर होने वाले आक्रमण को रोकने के लिए सभी उचित कदम उठाए जाते हैं। वाणिज्य दूतावास के सदस्य, उनके परिवार और सेवी वर्ग को ग्रहणकर्ता राज्य के नियमों तथा कानूनों से मुक्त रखा जाता है। निवास की अनुमति, विदेशियों का पंजीकरण और कार्य की अनुमति से सम्बन्धित नियम उन पर लागू नहीं होते हैं।

8 संकटकाल में राजनयिकों को अनेक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु वाणिज्य दूतों की स्थिति अस्पष्ट है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसा नहीं है जो तीसरे राज्य को अपने प्रदेश में होकर वाणिज्य दूतों को निकलने की अनुमति देता हो। यह विशेषाधिकार अब स्वीकार कर लिया गया है।

वाणिज्य दूतों के उपर्युक्त अधिकार के वर्णन के साथ यह जानना उपयुक्त है कि इनका उपभोग करने वाले वाणिज्य दूतावास के सभी सदस्यों का यह नैतिक कर्तव्य है कि ग्रहणकर्ता राज्य के नियमों और कानूनों का आदर करें। वाणिज्य दूतावास के प्रदेश का प्रयोग ऐसे रूप में नहीं करना चाहिए जो वाणिज्य दूत के कार्यों से असंगत है। विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों का उपभोग करने वाले वाणिज्य दूत अधिकारियों और दूसरे लोगों को ग्रहणकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

वाणिज्य दूतावास की समाप्ति
(Termination of Consular Office)

वाणिज्य दूत का कार्यालय अनेक कारणों से समाप्त हो सकता है। इनमें से कुछ कारण सन्देहास्पद हैं जबकि दूसरे कारण सन्देहहीन हैं। सन्देहहीन कारणों में सामान्य रूप से मान्य हैं—वाणिज्य दूत की मृत्यु, वापिस बुला लेना या पद से हटा देना, नियुक्तिकर्ता एवं स्वागतकर्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाना आदि। जब वाणिज्य दूत की मृत्यु हो जाए अथवा दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ जाए तो उसके अभिलेखों (Archives) को स्थानीय अधिकारियों द्वारा नहीं छेड़ा जाना चाहिए। वे या तो वाणिज्य दूतावास के किसी कर्मचारी की देख-रेख में रहें अथवा दूसरे राज्य के वाणिज्य दूत को सम्भला दिए जाएँ, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी न आ जाए अथवा शान्ति स्थापित न हो जाए।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एवं कारण भी हैं जिनके उपस्थित होने पर वाणिज्य दूत का कार्यालय बन्द भी हो सकता है और नहीं भी। जब सम्बन्धित राज्य क्रान्ति, विद्रोह या आक्रमण के कारण दूसरे राज्य में मिल या उसके अधिकार में चला जाए तो वाणिज्य दूत

के कार्यालय का रहना या न रहना निश्चित नहीं होता। सामान्यत वह समाप्त ही हो जाता है क्योंकि नई सत्ता पुरानी सत्ता द्वारा स्वीकृत वाणिज्य दूत को प्राय स्वीकार नहीं करती है।

राज्य का अध्यक्ष अथवा राजनीति व्यवस्था बदलने पर वाणिज्य दूत का कार्यालय समाप्त नहीं होता। न तो नई नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं और न नए प्रत्यय पत्र देने पड़ते हैं।

वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध मे 1963 का वियना अभिसमय अनेक नई व्यवस्थाएँ रखता है। सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा के 18 दिसम्बर 1961 के प्रस्ताव पर वियना में 4 मार्च 1963 से 23 अप्रैल 1963 तक एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें पर्याप्त विचार विमर्श के बाद एक समझौता स्वीकार हुआ। यह वियना अभिसमय वाणिज्य दूतों की श्रेणियों विशेषाधिकारों उन्मुक्तियों उद्देश्यों एव कार्यसचालन आदि विषयों के सम्बन्ध मे नियमन करता है।

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि मे राजनयज्ञों का योगदान
(Role of Diplomats in the Promotion of National Interest)

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि को ध्यान मे रखते हुए विदेश नीति के उद्देश्यों तथा राजनय के लक्ष्यों की प्राप्ति का मुख्य उत्तरदायित्व राजनयज्ञों पर होता है। राष्ट्रीय हित का सरक्षण और सवर्द्धन बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि उस देश के राजनयज्ञ कितने कुशल हैं। उनके कार्यों और महत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कौटिल्य ने अपने विख्यात ग्रन्थ अर्थशास्त्र में लिखा है— 'अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुँचाना सन्धियों को कायम रखना अपने राज्य के हितों की यदि आवश्यक हो तो डरा धमका कर भी रक्षा करना मित्र बनाना फूट डालना गुप्त सगठन बनाना गुप्तचरों की गतिविधियों के बारे मे जानकारी करना जो सन्धियाँ अपने हित में न हो उन्हें निष्फल बनाना उस देश के (जिसमें वह नियुक्त हो) शासनाधिकारियों को अपने पक्ष मे करना आदि राजदूत के कर्त्तव्य हैं।''

कौटिल्य ने राजदूत के जिन कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है सामान्यत वे सभी आधुनिक राजनयज्ञों के लक्ष्य हैं जिनसे राष्ट्रीय हित साधन होता है। हम उन्हे आधुनिक राजनयज्ञों में सम्मिलित कर सकते हैं—सरकार के अध्यक्ष विदेश सचिव तथा उनके विदेश अधिकारी दूसरे देशों में स्थित राजनीतिज्ञ कर्मचारी वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने वाले सैनिक तथा अन्य विशेषज्ञ सेवी वर्ग आदि। इनके अतिरिक्त अन्य लोग भी होते हैं जैसे भ्रमणशील राजदूत व्यक्तिगत प्रतिनिधि सैलानी लोग आदि। राजनय और राजनयज्ञों का आज स्थाई महत्व स्वीकार कर लिया गया है।

राज्य के नाम मात्र के अध्यक्ष जैसे ग्रेट ब्रिटेन के राजा या रानी भारत का राष्ट्रपति आदि विदेशी मामलों में मूलत औपचारिक योगदान करते है। वे जब विदेश भ्रमण पर जाते हैं तो उनका उद्देश्य मुख्यत सद्भावना की अभिवृद्धि होता है। सरकारों के अध्यक्ष अपने देश के राजनय मे व्यक्तिगत रूप में भाग लेते हैं।

राजनयज्ञ के क्षेत्र मे सर्वाधिक सक्रिय कार्यकर्त्ता विदेशी मामलों के राज्य सचिव होते हैं। विदेश सम्बन्ध उनका मुख्य कार्य है। वे जीवन भर राजनयिक वार्ताएँ करते हैं अन्य

देशों के दौरे करते हैं सम्मेलनों मे उपस्थित होते हैं तथा महत्वपूर्ण सौदेबाजियों की तैयारी करते हैं। वे अपने राज्याध्यक्षों को परामर्श देने के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा विदेशी मामलों के सम्बन्ध में उनको सूचित करते रहते हैं। अपने विदेश कार्यालय एव विदेश सेवा की बहुत बड़ी नौकरशाही पर शासन करना भी उनका उत्तरदायित्व है। वे मन्त्रिमण्डल तथा अन्य नीति सम्बन्धी बैठकों में उपस्थित होते हैं। सयुक्तराज्य अमेरिका के विदेश सचिवों ने 1945 के बाद अपना अधिकाँश समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उपस्थित रहने में व्यतीत *किया। अनुमानत यह कहा जाता है कि जॉन फास्टर डलेस (John Foster Dulles)* ने अपने पाँच वर्ष के कार्यकाल में प्रति वर्ष एक लाख हवाई मील से भी अधिक यात्रा की। इतनी लम्बी यात्रा करके वे चाद तक जाकर वापस आ सकते थे। यही सारी यात्रा उन्होंने दुनिया के अन्य नेताओं के साथ बातचीत के लिए की। विदेश सचिव डीन रस्क ने स्वय अधिक यात्रा करने की अपेक्षा यह उचित समझा कि दूसरे लोग ही वाशिंगटन आएँ। भूतपूर्व विदेश मन्त्री डॉ हेनरी कीसिंगर ने भी पश्चिमी एशिया में कैम्प डेविड समझौता कराने में अथक भागदौड की। उनके राजनय को 'शटल राजनय' की सज्ञा दी जाती है। वर्तमान अमेरिकी विदेशमन्त्री जेम्स बेकर ने भी खाडी युद्ध के पश्चात् अरबों और इजरायलियों में शान्ति स्थापित करने की दिशा में अथक प्रयास किया। परिणामस्वरूप सन् 1991 का मेड्रीड सम्मेलन सपन्न हुआ। जनवरी 1992 में वाशिंगटन में फिलीस्तीनियों और इजरायलियों के बीच होने वाली वार्ता में भी विदेशमत्री की उल्लेखनीय भूमिका है।

आज राजनय में सलग्न अनेक लोग ऐसे हैं जिनको हम व्यावसायिक विशेषज्ञ कह सकते हैं। इनमें हम नागरिक सेवकों एव विशेषज्ञों को सम्मिलित करेंगे जो विदेश दूतावासों एव देश में विदेश कार्यालय में कार्य करते है। ये अधिकारी विदेशी सम्बन्धों के प्रचलित पहलुओं को सम्पादित करते हैं। ये अध्ययन प्रतिवेदन एव निर्देशन तैयार करते हैं। दूसरे देशों के अधीनस्थ अधिकारियों के साथ विचार करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जाने वाले प्रतिनिधि मण्डल के स्टाफ का काम करते हैं। उनके कार्य मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं—प्रथम यह कि अपने मालिकों के काम को सम्पन्न करें और दूसरा यह कि ये दूसरों के *कार्यों का पता लगाएँ। व्यावसायिक विशेषज्ञों का यह एक दल एक दिन में सगठित* नहीं हो जाता। आज के युग की परिस्थितियों में एक योग्य विदेश सेवा के विकास के लिए पर्याप्त समय एव अनुभव की आवश्यकता होती है।

सरकारें समय समय पर विशेष गुप्त दूत (Emissary) नियुक्त करती हैं जो महत्वपूर्ण अवसरों पर विशेष समझौते करते हैं तथा सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने हेरी हापकिंस (Harry Hopkins) को अपना विश्वास प्रदान किया और राज्य सचिव तथा सम्बन्धित राजधानियों के राजदूतों की अवहेलना करके कई *बार चर्चिल और स्टालिन के पास गुप्त वार्ता के लिए भेजा। इसी प्रकार राष्ट्रपति आइजनहावर* ने अपने भाई मिल्टन आइजनहावर को अनेक विशेष अवसरों पर प्रयुक्त किया। राजदूत एवरल हैरीमैन (Averell Harriman) को राष्ट्रपति ट्रूमैन, कैनेडी और जॉनसन द्वारा अनेक विशेष अवसरों पर नियुक्त किया गया। ये सारी नियुक्तियाँ राज्य के अध्यक्ष के विशेषाधिकार हैं। यह तो हो सकता है कि कुछ देशों को प्रभावित करने वाले देश की किसी विशेष समस्या में गुप्त दूत राजदूत की अपेक्षा अधिक कुशल हो किन्तु फिर भी सम्भावना यह रहती है

कि वह उस देश के राजदूत के प्रभाव एव सम्मान को कम कर देगा और ऐसी स्थिति में इस तकनीक का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

आज के जटिल वातावरण मे राज्यों के आपसी सम्बन्ध राजनीतिक आर्थिक सुरक्षात्मक एव वैज्ञानिक अनेक विषयों से युक्त हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि सरकारों के विभिन्न विभागों के सेवीवर्ग को राजनयिक सम्बन्धों में तथा नीति निर्माण में भाग लेने *का अवसर दिया जाए अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सर्वाधिक सक्रिय भाग लेने वालों में सशस्त्र* सेनाओं एव सुरक्षा सस्थानों के सदस्य होते हैं। नाटो देशों के सुरक्षा सचिव तथा उनके अधीनस्थ अधिकारी जब नाटो की बैठकों में नए सुरक्षा प्रबन्धों पर विचार करते हैं तो एक प्रकार से राजनय में उलझ जाते हैं। इसी प्रकार जब जन स्वास्थ्य अधिकारी विश्व स्वास्थ्य सगठन (W H O) की बैठक में भाग लेते हैं या राजकोष के प्रतिनिधि विश्व बैंक की बैठक में भाग लेते हैं तो व भी राजनय में उलझ जाते हैं। इसी प्रकार से पारस्परिक सुरक्षा सांस्कृतिक सम्बन्ध आर्थिक एव तकनीकी सहायता कार्य आदि भी किसी न किसी प्रकार से राजनय से सम्बन्ध रखते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में राजनयिक प्रतिनिधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

9

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और कार्य-सम्पादन
(International Meetings and Transactions)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनयिक प्रक्रियाओं का विशेष महत्व है। शान्ति प्रयत्नकारी और समुदाय निमात्री राजनयिक प्रक्रियाओं के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का शमन और विश्व शान्ति की स्थापना सम्भव है। राजयिक प्रक्रियाओं से आशय अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के उन सभी मॉडलों से है जिनसे राज्य पारस्परिक विवादों को सुलझाने आपसी सहयोग को बढाने और सामान्य उद्देश्यों के लिए आपसी सूझ-बूझ उत्पन्न करने को प्रयत्नशील रहते हैं। राजनयज्ञों को प्राय संधि-वार्ताकार कहा जाता है जो अपनी वार्ताओं के माध्यम से विश्व के विभिन्न देशों के बीच सामुदायिक भावना जाग्रत करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन राजनयिक प्रक्रियाओं का ही मॉडल है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन सम्मेलनों के माध्यम से कितनी ही बार संघर्षों को रोका गया है विश्व-शान्ति को आगे बढाया गया है विभिन्न महत्वपूर्ण सामान्य निर्णयों पर पहुँचा गया है और कई दृष्टियों से मानव-जाति की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया गया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद आयोजित शान्ति सम्मेलनों में विश्व के राजनीतिक मानचित्र और तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त करने की दिशा में जो प्रभाव डाला वह सर्वविदित है। अन्तर्राष्ट्रीय कार्य सम्पादन के दो मोटे रूप हैं—सामान्य राजनयिक मार्ग एव विशिष्ट राजनयिक कार्य के लिए प्राय सभी देश विश्व के दूसरे देशों की राजधानियों में अपने स्थायी राजनयिक अभिकर्त्ता रखते हैं। दोनों पक्षों के बीच राजनयिक आदान प्रदान इन्हीं स्थायी राजनयिक अभिकर्त्ताओं के माध्यम से किया जाता है। स्थायी सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का दूसरा मुख्य स्रोत वाणिज्य दूत होते हैं। वाणिज्य दूत सेवा यद्यपि राजनयिक सेवा का ही एक रूप है किन्तु यह राजनीतिक स्तर की सेवा नहीं है। फिर भी अनेक राज्यों ने इन दोनों कार्यों को एक ही व्यक्ति में मिलाने का प्रयास किया है। राजनयिक अधिकारों को वाणिज्य दूत की कुछ शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं और वाणिज्य दूतों को सीमित रूप में राजनयिक अधिकारियों के कार्य दिए जाते हैं। यह प्रबन्ध उस राज्य की सहमति से किया जाता है जिसमें अधिकारी को भेजा जा रहा है। दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले अधिकारी का स्तर तय करने के सम्बन्ध में समस्या उठ सकती है। इसके बावजूद भी वर्तमान समय की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए सामान्य स्थायी राजनयिक मार्ग या सूत्र अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं अत कुछ विशिष्ट राजनयिक मार्ग भी खोजे गए हैं यथा—सम्मेलन, यात्राएँ आपसी पत्र-व्यवहार सन्धियों की वार्ताएँ आदि। हम यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों पर विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

काँग्रेस तथा सम्मेलन
(Congress and Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से काँग्रेस और सम्मेलन में मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों मे उच्चाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार विमर्श और समाधान के लिए मिलते हैं। दोनों में राजनीतिक प्रश्नों पर निर्णय लिया जाता है और सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों का समाधान किया जाता है। काँग्रेस शब्द का प्रयोग अतीत काल मे उच्चाधिकारियों की ऐसी सभाओं के लिए किया गया था जो प्रादेशिक बँटवारे व शान्ति स्थापना के लिए आयोजित की गई थीं। उदाहरण के लिए वियना काँग्रेस (1814 15), पेरिस काँग्रेस (1856), बर्लिन काँग्रेस (1878) का नाम लिया जा सकता है जो क्रमश नेपोलियन के युद्ध क्रिमियन युद्ध तथा रूसी टर्की युद्ध के बाद आयोजित की गई थीं। अब अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं जैसे—लन्दन सम्मेलन (1830 33) लन्दन सम्मेलन (1912 13), पेरिस शान्ति सम्मेलन (1919 तथा 1946-47) आदि।

काँग्रेस तथा सम्मेलन मे नाम के साथ साथ कुछ अन्य सूक्ष्म अन्तर भी होता है जैसे—

1 प्रारम्भ मे काँग्रेस का आयोजन प्राय तटस्थ प्रदेश मे किया जाता था। इसकी अध्यक्षता मध्यस्थों द्वारा की जाती थी। सन् 1806 मे पवित्र रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से पूर्व सम्राट का मुख्य प्रतिनिधि ही काँग्रेस की अध्यक्षता करता था। 19वीं शताब्दी मे काँग्रेस का आयोजन किसी सम्बन्धित राज्य में ही किया जाने लगा तथा उस राज्य के विदेश मन्त्री द्वारा कार्यवाही की अध्यक्षता की जाने लगी।

सम्मेलन के रूप में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन यूनान सम्बन्धी विषयों पर लन्दन मे (1827-32) आयोजित किया गया। सम्मेलनों का आयोजन इसमे भाग लेने वाली किसी महाशक्ति के प्रदेश में किया जाता है तथा उसकी अध्यक्षता वहाँ के विदेश मन्त्री द्वारा की जाती है।

2 कांग्रेस मे भाग लेने वाले पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि (Plenipotentiaries) निर्णायक होते हैं तथा विचाराधीन समस्याओं पर वे स्वय निर्णय लेते है। दूसरी ओर सम्मेलन केवल परामर्शदाता समूह का होता है। आर्गिल के ड्यूक (The Duke of Argyle) के मतानुसार "कांग्रेस मूलत समझौता कराने वाला एक न्यायालय है। यह एक ऐसी सभा है जिसमें विवादपूर्ण विषयों को विचार विमर्श तथा आपसी समझौता द्वारा सुलझाया जा सकता है।"

आजकल 'कांग्रेस तथा सम्मेलन' शब्दों का अन्तर समाप्त हो गया है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मिलन को सम्मेलन (Conference) का नाम दिया जाता है तथा इनमे विभिन्न प्रश्नों पर विचार विमर्श कर निर्णय लेने का प्रयास किया जाता है।

सम्मेलन का स्थान
(The Place of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने के लिए स्थान का चयन अनेक तरीकों से किया जाता है। कभी इन्हें सम्मेलन का सुझाव देने वाले राज्य की राजधानी मे और कभी समस्या से सम्बन्धित राज्य में बुलाया जाता है। कभी इस हेतु एक ऐसा केन्द्रीय स्थान चुना जाता

है जहाँ सभी पक्ष सुविधापूर्वक एकत्रित हो सकें अथवा जहाँ निष्पक्षतापूर्ण और शान्त वातावरण मे विचार विनिमय किया जा सके। जब किसी बहुपक्षीय सन्धि में परिवर्तन के लिए सम्मेलन आयोजित किया जाता है तो उसके स्थान का निश्चय पहली बैठक के स्थान के आधार पर या सन्धि मे उल्लिखित प्रावधान के आधार पर या पूर्व सन्धि में व्यक्त सामान्य धारणा के आधार पर किया जाता है।

सम्मेलन की तैयारियाँ
(Preliminary Ground-work for Conference)

कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल तभी आयोजित किया जाता है जब कोई ऐसी समस्या या विवाद उत्पन्न हो जाए जिसे सम्बन्धित पक्षों के आपसी विचार-विमर्श द्वारा सुलझाया जाना उचित हो। उदाहरण के लिए 1864 में जेनेवा सम्मेलन इसलिए आयोजित किया गया था ताकि युद्ध में घायल सैनिकों की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त निरूपित किए जा सकें। स्विटजरलैण्ड ने इस सम्मेलन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इस सम्मेलन मे स्वीकृत सिद्धान्तों एव समाधानों में आवश्यकता एव परिस्थितियों के अनुसार क्रमश 1868 1906, 1929 तथा 1949 में सशोधन किए गए।

सम्मेलन के लिए राज्यों को आमन्त्रित करने स पूर्व सम्बन्धित सरकारें आपस में विचार विमर्श करती हैं। यदि सम्मेलन का आयोजन युद्धोपरान्त शान्ति स्थापना हेतु किया जा रहा हो तो पहले युद्धरत राज्यों के बीच युद्धविराम होता है। सम्मेलन से पहले ही यह निश्चित करने का प्रयास किया जाता है कि इसमें किन किन समस्याओं पर किस सीमा पर विचार किया जाएगा। यदि किसी प्रश्न पर सहमति न हो सके तो उस पर प्रारम्भिक विचार विमर्श द्वारा समझौतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाता है। यह प्रारम्भिक तैयारी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कोई भी औपचारिक विचार-विनिमय उस समय तक फलदायक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें भाग लेने वालों के विचार परस्पर मिलते न हों।

सम्मेलन के लिए विभिन्न राज्यों को निमन्त्रण प्राय उस राज्य की सरकार द्वारा दिया जाता है, जहाँ यह आयोजित किया जा रहा है अथवा जिसके तत्वावधान में आयोजित किया जा रहा है। कभी कभी निमन्त्रण की औपचारिकता का निर्वाह अन्य राज्य सरकार भी कर देती है। 1899 के हेग शान्ति-सम्मेलन का प्रस्ताव रूस के सम्राट् ने रखा था किन्तु निमन्त्रण नीदरलैण्ड की सरकार द्वारा प्रसारित किए गए। सन् 1906 के अल्जीयर्स के सम्मेलन के निमन्त्रण मोरक्को के सुल्तान द्वारा भेजे गए थे जबकि इसका आयोजन स्पेन मे किया गया था। सम्मेलनों का आयोजन सयुक्तराज्य सघ के अगों या विशेष अभिकरणों द्वारा किया जाता है। ये सम्मेलन सघ के मुख्य कार्यालय में अथवा अन्यत्र हो सकते हैं। सन् 1946 मे आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सन् 1951 में महासभा के प्रस्ताव के आधार पर शरणार्थियों और राज्यहीन लोगों के सम्बन्ध मे एक सम्मेलन बुलाया गया था।

सम्मेलन के प्रतिनिधि
(Representatives of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में राजनयिक प्रतिनिधियों को प्रमुख शक्तिसम्पन्न प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता है जिनकी सहायता के लिए अन्य अधिकारियों की व्यवस्था की जाती है।

अवसर और विचारणीय विषय के महत्व के आधार पर ही एक प्रमुख प्रतिनिधि के सहयोगियों की संख्या निर्धारित की जाती है। इन सहयोगियों में आवश्यक कानूनी या तकनीकी योग्यता सम्पन्न अधिकारी सचिव अनुवादक आदि सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक राज्य के पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि और उसके सम्पूर्ण स्टाफ को उस राज्य का प्रतिनिधि मण्डल कहा जाता है। ये सभी एक साथ एक समूह के रूप में बैठते हैं। कभी कभी एक राज्य एक से अधिक पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि भी नियुक्त करता है।

पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों को जैसा कि इनके नाम से विदित होता है इनकी सरकार द्वारा पूर्ण अधिकार प्रदान किए जाते है। ये सम्मेलन के सदस्यों से सन्धि वार्ता कर अन्तिम समझौता कर सकते हैं। जब कोई राज्य एक से अधिक पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि नियुक्त करता है तो वह उन सभी को पूरी शक्तियाँ प्रदान करता है जिनका प्रयोग वे पृथक रूप से अथवा सामूहिक रूप से करते हैं। इन्हें ग्रहणकर्ता राज्य द्वारा विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं। प्रेषक राज्य पहले से ही ग्रहणकर्ता राज्य को इनके नाम भेज देता है। यदि इनकी यात्रा के बीच में कोई अन्य राज्य भी पड़े तो उस राज्य की सरकार को भी मिशन के उद्देश्य की सूचना दे दी जाती है।

सम्मेलन की भाषा
(Languages at Conference)

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सामान्यतः फ्रॉसीसी भाषा का प्रयोग किया जाता था किन्तु दो विश्वयुद्धों के बीच अंग्रेजी भाषा का प्रयोग भी सामान्य हो गया। सन् 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन और 1921 22 के वाशिंगटन सम्मेलन में अंग्रेजी और फ्रॉसीसी भाषा का अधिकृत प्रयोग किया गया था। राष्ट्रसंघ के सम्मेलनों में भी इन दोनों भाषाओं का प्रयोग होता था। जब कुछ राज्यों का सम्मेलन किया जाता था तो उसके लिए उन्हीं में से किसी राज्य की भाषा को कार्यवाही के लिए अपना लिया जाता था। आजकल सम्मेलनों में मुख्यतः अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक साधनों की सहायता से भाषणों का दूसरी भाषाओं में भी तुरन्त अनुवाद हो जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मेलनों में अंग्रेजी फ्रॉसीसी रूसी चीनी तथा स्पेनी आदि भाषाओं का प्रयोग किया जा सकता है। उनके अभिलेख इन भाषाओं में तैयार किए जाते है। सन् 1854 के लन्दन सम्मेलन में अंग्रेजी फ्रॉसीसी और जर्मन भाषा का प्रयोग किया गया था। पान अमेरिकी सम्मेलनों में स्पेनी भाषा का प्रयोग किया जाता है किन्तु अभिलेख फ्रॉसीसी स्पेनी और अंग्रेजी भाषाओं में रखे जाते हैं।

सम्मेलन का अध्यक्ष
(President of Conference)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का अध्यक्ष प्रायः उस राज्य का मुख्य प्रतिनिधि होता है जहाँ सम्मेलन का आयोजन होता है और वह राज्य उसमें भाग लेता है। यह प्रतिनिधि प्रायः उस राज्य का विदेश मन्त्री होता है। वियना कॉंग्रेस (1814 15) में पूर्ण अधिकार प्राप्त फ्रॉसीसी प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर आस्ट्रेलिया के काउण्ट मेटरनिख को अध्यक्ष चुना गया। सन् 1856 की पेरिस कॉंग्रेस में आस्ट्रिया के प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर फ्रॉस के विदेश मन्त्री ने अध्यक्षता

की। सन् 1878 की बर्लिन काँग्रेस में राजकुमार बिस्मार्क को अध्यक्ष चुना गया। किसी सम्मेलन में एक से अधिक व्यक्तियों को भी क्रमिक रूप से अध्यक्ष चुना जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अध्यक्ष का मुख्य कार्य यह है कि सम्मेलन के प्रारम्भ में उसके उद्देश्यों तथा लक्ष्यों पर प्रकाश डालते हुए कार्यवाही प्रारम्भ करे, अपने सचिवालय के सदस्यों का निश्चय करे और सभी प्रतिनिधियों से औपचारिक रूप से विचार विमर्श कर उनका मत जाने। वह सम्मेलन के दौरान वाद विवाद को निर्देशित व नियन्त्रित करता है। अन्तिम बैठक में अध्यक्ष के कार्यों और सेवाओं के लिए सदस्यों द्वारा धन्यवाद का प्रस्ताव पारित किया जाता है।

अग्रत्व
(Precedence)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अग्रत्व की दृष्टि से अंग्रेजी वर्णमाला के क्रम को आधार बनाया जाता है। परम्परागत रूप से उनके बैठने का स्थान क्रमशः अध्यक्ष की दायीं तथा बायीं ओर होता है। आजकल सामान्य व्यवहार यह है कि सभी प्रतिनिधिगण अपने वर्णमाला के क्रम के अनुसार बैठते हैं। अध्यक्ष के निकट बैठने वाले व्यक्ति का स्थान या तो किसी तरीके से निर्णय किया जाता है अथवा उसके लिए लॉटरी डाली जाती है। शान्ति-सम्मेलनों में युद्धरत राज्यों के प्रतिनिधिगण दो विरोधी दलों के रूप में बैठते हैं।

सम्मेलनों की प्रक्रिया
(The Procedure of Conferences)

सम्मेलनों में कार्यवाही की प्रक्रिया उसके विचारणीय विषय के अनुसार निर्धारित की जाती है। प्रक्रिया के नियम प्रारम्भ में ही निर्धारित कर लिए जाते हैं। कभी-कभी सम्मेलन में विशेष मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के लिए अलग-अलग समितियों की नियुक्ति की जाती है। समितियाँ अपना सभापति चुनती हैं और कार्यवाही के नियम बनाती हैं। विचार-विमर्श के बाद वे अपना प्रतिवेदन सम्पूर्ण निकाय के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। आवश्यकता के समय वे अपनी उपसमितियों का भी चयन करती हैं जो अपना मूल प्रतिवेदन समिति को प्रस्तुत करती हैं। समिति में एक प्रतिवेदक (Rapporteur) नियुक्त किया जाता है जो समिति में होने वाले विचार-विमर्श को एक प्रतिवेदन के रूप में संहिताकृत करता है। यह समिति के निर्णयों को सम्मेलन के सामने प्रस्तुत करने वाला एक मुख्य प्रवक्ता का रूप धारण कर लेता है।

सम्मेलन अपने कार्यों के अनुसार समय-समय पर बैठकें करता रहता है। प्रथम बैठक औपचारिक प्रकृति की होती है। इसमें मुख्यतः अध्यक्ष का चुनाव, समितियों की नियुक्ति, सचिव का नामांकन आदि कार्य सम्पादित होते हैं। इसके बाद समितियों के प्रतिवेदन प्राप्त करने तथा उन पर विचार करने के लिए समय-समय पर बैठकें होती हैं। यदि सदस्यों के बीच समितियों के प्रतिवेदन पर अधिक मतभेद नहीं होता तो उनकी सिफारिशों को अन्तिम सन्धि में शामिल कर लिया जाता है। यह सन्धि सम्मेलन की बैठकों में तीन वाचनों से होकर गुजरती है। प्रथम वाचन में सन्धि का प्रारूप तैयार किया जाता है। दूसरे वाचन में संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं और यदि आवश्यक हो तो उस प्रारूप को पुन

समिति के पास भेजा जाता है। तीसरा वाचन औपचारिक प्रकृति का होता है तथा उसमे सन्धि को अन्तिम रूप से पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

सभी महत्वपूर्ण सम्मेलनों में कार्यवाही का अभिलेख रखने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक बैठक के समय सचिव या सचिवों द्वारा बैठक की तिथि समय स्थान पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के नाम तथा भाग लेने वाले राज्यों के नाम आदि का उल्लेख करते हुए कार्यवाही का अभिलेख तैयार किया जाता है। इस पर सभी उपस्थित प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर कराये जाते हैं तथा अध्यक्ष एव सचिवों के भी हस्ताक्षर होते है। इसे प्राय अगली बैठक में पढा और स्वीकार किया जाता है। जब अन्तिम रूप से सन्धि स्वीकृत हो जाती है तो उसकी मूल प्रति उस राज्य की सरकार के पास रखी जाती है जहाँ सम्मेलन होता है तथा प्रतिलिपियाँ भाग लेने वाले पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों मे वितरित कर दी जाती हैं। आजकल अभिलेख रखने का कार्यक्रम औपचारिक तथा कम नियमित हो गया है। सम्मेलन के प्रारूप घोषणाओं आदि को सम्मेलन के अभिलेखों के रूप मे वितरित किया जाता है।

सन्धियों पर हस्ताक्षर का क्रम अग्रेजी वर्णमाला के क्रम मे रहता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इटली के साथ की गई शान्ति सन्धि पर पहले पाँच महाशक्तियों (क्रमश सोवियत सघ ब्रिटेन सयुक्तराज्य अमेरिका चीन तथा फ्रांस) ने हस्ताक्षर किए तथा उनके बाद अग्रेजी वर्णमाला के क्रम में सभी मित्र राज्यों एव सहयोगी राज्यों ने तथा सबसे अन्त मे इटली ने हस्ताक्षर किए।

प्राचीन काल मे सम्मेलन के कार्य का अधिकाँश भाग अग्रत्व और औपचारिकताओं से सम्बन्धित रहता था। उसमे यह निर्णय करना होता था कि सन्धि वार्ताएँ लिखित हों अथवा मौखिक हों कुछ राज्यो को शामिल किया जाए अथवा नहीं किया जाए कुछ सम्प्रभुओं की पदवियो को मान्यता दी जाए या नहीं दी जाए आदि। इतिहास साक्षी है कि निजमेगेन (Nijmegen) की काँग्रेस (1676 79) मे फ्राँस और स्पेन के बीच शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर के लिए सन्धि की दो प्रतियाँ तैयार की गई थीं— एक फ्राँसीसी भाषा मे दूसरी स्पेनी भाषा मे। उन्हें अग्रेज मध्यस्थ के निकट मेज पर रख दिया गया। तीन फ्राँसीसी पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने एक दरवाजे से प्रवेश किया और उसी क्षण दूसरे दरवाजे से स्पेन के तीन अधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों ने प्रवेश किया। वे एक साथ एक जैसी कुर्सियों पर बैठे और एक ही समय अलग अलग प्रतिलिपियों पर दोनों ने हस्ताक्षर किए।

सम्मेलन में किन राज्यों को भाग लेना चाहिए यह प्रश्न प्राय उठाया जाता है। 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन के सम्बन्ध मे प्रो एम्परली ने लिखा है कि प्रथम प्रश्न तो इससे सम्बन्धित था कि किन राज्यों को सम्मेलन में प्रतिनिधित्व दिया जाए। अन्त यह निर्णय लिया गया कि इसमे वे सभी राज्य भाग ले जिन्होने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी अथवा उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिए थे। तटस्थ राज्यों को भी उन वाद विवादों मे शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया गया जिनके विशेष हित प्रभावित होते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक सम्मेलन की रचना का प्रश्न अनेक बार उठा है। 18 फरवरी 1954 की बर्लिन वार्ता मे जेनेवा सम्मेलन की रचना के लिए विस्तृत प्रावधान किए गए।

सम्मेलन का सचिव
(The Secretary of Conference)

सम्मेलन में प्रमुख सचिव प्रायः उस देश का अधिकारी होता है जहाँ सम्मेलन का आयोजन किया जाता है बशर्ते कि वह राज्य स्वयं भाग ले रहा हो। सचिवालय सम्मेलन के अध्यक्ष के नियन्त्रण के अधीन कार्य करता है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य सम्मेलन का अभिलेख तैयार करना तथा सौंपे गए अन्य कार्य भी सम्पन्न करना है। वह भाषणों और अभिलेखों के अनुवाद करता है तथा प्रेस से पत्र-व्यवहार भी सम्पन्न करता है। जब एक सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ या उसके तत्वावधान में आयोजित किया जाता है तो सचिवालयी सेवा संयुक्त राष्ट्रसंघ या विशेष अभिकरण के सचिवालय द्वारा प्रदान की जाती है। ये कार्य जिस ब्यूरो द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं वह अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के निर्देशन में कार्य करता है तथा सम्मेलन के महासचिव द्वारा उसकी सहायता की जाती है। सम्मेलन की कार्यवाही में सचिव की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के कुछ उदाहरण
(Some Examples of International Conferences)

यह उपयुक्त होगा कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और उनके कार्य सम्पादन को कुछ प्रमुख उदाहरणों के परिप्रेक्ष्य में समझें।

वियना काँग्रेस (The Vienna Congress, 1815)

नेपोलियन बोनापार्ट के जीवनकाल में जिस प्रकार उसके कार्यों का यूरोप के सभी राष्ट्रों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार उसके पतन का भी उन सब पर गहरा प्रभाव पड़ा। नेपोलियन के पतन ने यूरोप में जिन विविध समस्याओं और प्रश्नों को जन्म दिया, उसकी पृष्ठभूमि में आस्ट्रिया की राजधानी वियना में यूरोपीय राष्ट्रों का वह महत्वपूर्ण सम्मेलन (1815) में सम्पन्न हुआ जो 'वियना काँग्रेस' के नाम से विख्यात है। एक ओर तो वाटरलू के युद्ध में 18 जून, 1815 को नेपोलियन को अन्तिम रूप से पराजित कर दिया गया और दूसरी ओर इस युद्ध से कुछ दिन पूर्व ही काँग्रेस ने अपने निर्णय ले लिए जिन पर 9 जून, 1815 को विभिन्न राज्यों ने हस्ताक्षर कर दिए। वियना काँग्रेस के इन्हीं निर्णयों से 19वीं शताब्दी की यूरोपीय राज्य-व्यवस्था (State System) की आधारशिला रखी गई।

सम्मेलन के प्रतिनिधि : इतिहास में इससे पहले कभी प्रसिद्ध नेताओं का इतना बड़ा सम्मेलन नहीं हुआ था। इस सम्मेलन में टर्की के अतिरिक्त यूरोप के अन्य सभी देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। राजा, महाराजा, राजकुमार, सेनापति, कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ आदि सभी प्रमुख व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त लेखकों की संख्या में पत्र-प्रतिनिधि, वैज्ञानिक, प्रध्यापक, धर्माचार्य आदि भी सम्मेलन में शामिल हुए। वियना सम्मेलन में आए हुए मेहमानों के ऊपर केवल आस्ट्रियन सरकार का ही लगभग 8 लाख पौण्ड व्यय हुआ। वियना सम्मेलन में कुल मिलाकर 90 बड़े महाराजा और 68 राजा या उनके प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। आस्ट्रिया का सम्राट फ्रांसिस प्रथम अपने योग्य प्रधान मन्त्री मेटरनिख के साथ इस काँग्रेस का सम्पूर्ण प्रबन्ध कर रहा था। रूस का जार अलेक्जेन्डर प्रथम अपने मन्त्री नेसलरोड तथा जर्मनी के विख्यात नेता स्टाइन के साथ उपस्थित था।

प्रशा का राजा फ्रेडरिक विलियम तृतीय, हार्डनबर्ग और फोनहुम्बोल्ड्स को साथ लेकर आया था। पोप का प्रतिनिधि कार्डिनल साल्वे, फ्रांस का मन्त्री तेलेरां, इंगलैण्ड का विदेश मन्त्री कैसलरे तथा सेनापति वैलिंग्टन आदि सम्मेलन में उपस्थित थे।

वियना कॉंग्रेस की प्रमुख समस्याएँ वियना कॉंग्रेस के सम्मुख कुछ अत्यन्त गम्भीर समस्याओं के समाधान के निम्नलिखित प्रश्न सामने थे

1 नेपोलियन की सहायता करने वाले यूरोपीय राजाओं को किस प्रकार का दण्ड दिया जाए ?

2 नेपोलियन के युद्धों ने यूरोप के मानचित्र को ही बदल दिया था।

3 तीसरी समस्या क्रान्ति की भावना की थी। यद्यपि फ्रांस की क्रान्ति समाप्त हो चुकी थी, नेपोलियन का पतन हो गया था, फिर भी स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त लगभग सारे यूरोप में फैल चुके थे। सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मुख यह विकट समस्या थी कि नई प्रवृत्तियों को किस प्रकार रोका जाए ? ये प्रतिनिधि और राजनीतिज्ञ अत्यन्त प्रतिक्रियावादी थे। ये पुरातन व्यवस्था को फिर से कायम करना चाहते थे। यह कार्य असम्भव था, लेकिन ये अपने प्रयत्नों से बाज नहीं आए।

4 सम्मेलन के प्रमुख धार्मिक और उससे सम्बन्धित संस्थाओं की सम्पत्ति का भी प्रश्न था। नेपोलियन ने चर्च को एक राजकीय संस्था बना दिया था। नेपोलियन के पतन के बाद अब चर्च की समस्या फिर उपस्थित हुई। निरंकुश शासन की पुनर्स्थापना के साथ ही उससे सम्बन्धित संस्थाओं और पोप की शक्ति की पुनर्स्थापना भी आवश्यक थी।

5 कॉंग्रेस के सम्मुख एक गम्भीर प्रश्न यूरोप में शान्ति स्थापित करना और युद्ध की सम्भावनाओं को रोकने का उपाय खोजना था।

वियना कॉंग्रेस की कार्य प्रणाली यद्यपि वियना कॉंग्रेस एक महान सम्मेलन था जिसमें यूरोप के भाग्य का निर्धारण किया जाना था, लेकिन इसकी कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं थी, न तो कोई प्रस्ताव पेश होते थे और न ही इस पर मतदान कराये जाने की ही कोई व्यवस्था थी। नाचघरों में राज्यों की सीमाएँ तय हो जाती थीं। नाच तमाशे देखते हुए, दावतें खाते हुए, राज्यों को बढ़ाने या घटाने का फैसला हो जाता था। गम्भीर से गम्भीर राजनीतिक मामले तमाशों और संगीत सम्मेलनों में तय कर लिए जाते थे। किसी ने हँसी मजाक में कोई बात कही, यदि वह औरों को पसन्द आ गई, तो मान ली गई। इस सम्बन्ध में जनता की इच्छा अनिच्छा की किसी को परवाह नहीं थी। इसी कारण किसी ने कॉंग्रेस को पशुओं का वार्षिक मेला कहा था। सर्वसाधारण जनता के साथ ऐसा व्यवहार किया गया था मानो वे पशु हों तथा जिनका क्रय विक्रय हो रहा हो।

सम्मेलन में रूस, आस्ट्रिया, प्रशा और इंग्लैण्ड के शक्तिशाली प्रतिनिधि जो चाहते थे *हो जाता था। ये राज्य ही अधिक से अधिक लूट का माल स्वयं हड़प जाने का प्रयत्न कर* रहे थे। नैतिकता के सिद्धान्त ताक पर रख दिए गए थे। विजयी राष्ट्र अपने स्वार्थ में लिप्त *थे, छोटे राज्यों का कोई सम्मान नहीं था। विचारों के आदान प्रदान का कोई महत्व नहीं* था। कॉंग्रेस का कोई निश्चित सभापति नहीं था। मेटरनिख ही सम्मेलन के प्रधान और मन्त्री दोनों का कार्य करता था। वह जिस ढंग से चाहता, कार्य चलाता था। *आस्ट्रिया*, प्रशा, रूस और ब्रिटेन इन चार मुख्य राज्यों ने आपस में गुप्त फैसला कर लिया था कि

सब मामलों पर वे पहले आपस मे निश्चय कर लेंगे और काँग्रेस के सम्मुख पेश करेंगे। केवल फ्रॉस का प्रतिनिधि तेलेरा ही एक ऐसा था जिसे निर्बल राष्ट्रों की चिन्ता थी। वह एक पराजित देश का प्रतिनिधि था इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक भी था। वह इन छोटे राज्यों की सहायता से अपने देश के हितों की रक्षा करना चाहता था। उसका आग्रह था कि काँग्रेस का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होना चाहिए पर प्रशा का फानहुम्बोल्ड्स उसे जबाव देता था जिसकी लाठी उसकी भैंस। वास्तव में विजयी राज्यों के प्रतिनिधि अपनी ताकत के बल पर मनमानी करने पर तुले हुए थे पर उनके स्वार्थों में टकराहट थी और तेलेरॉं इन मतभेदों से लाभ उठाने मे लगा हुआ था। उसने बड़े राज्यों को छोटे राज्यों के बारे में मनमाने निर्णय लेने के अधिकार की भर्त्सना की और उनको आठ राज्यों की एक समिति बनाने के लिए राजी किया। ये आठ राज्य थे ब्रिटेन रूस फ्रॉस आस्ट्रिया स्पेन, प्रशा पुर्तगाल और स्वीडन। इसके अतिरिक्त विविध समस्याओं पर विचार करने के लिए दस उप समितियों का भी गठन हुआ। इसमें अलग अलग राज्यों के विवादों को सुलझाने के लिए अलग अलग उप समितियाँ थीं। किन्तु फिर भी बडे राज्य उप समितियों और आठ राज्यों के निर्णयों की उपेक्षा कर मनमानी करते रहे।

वियना काँग्रेस की इस दशा के कारण ही यह कहा गया है कि "वियना काँग्रेस कोई काँग्रेस नहीं थी उसके सिद्धान्त असगत थे और उसकी व्यवस्था परिस्थिति को अस्त व्यस्त बनाने वाली थी।" काँग्रेस का न कोई औपचारिक उद्घाटन समारोह हुआ था, न प्रतिनिधियों का विधिवत् स्वागत। एक साथ सभी प्रतिनिधि कभी मिले भी नहीं। उनके बीच अनेक सन्धियाँ हुई थीं और बाद में उन सबको मिलाकर 1815 की अन्तिम सन्धि हो गई थी। यही काँग्रेस के कार्यों का 'संग्रह' था।

काग्रेस के मार्गदर्शन का सिद्धान्त सम्मेलन की कोई निश्चित कार्यविधि न होने के कारण अवसरवादी लाभ उठाकर अपने ढग से काम कर रहे थे। आस्ट्रिया प्रशा और इग्लैण्ड इस ताक में थे कि जटिल विषयों का जाल बिछाकर अपने स्वार्थों की सिद्धि करें। फ्रॉस का तेलेरॉं अपने शिष्ट स्वभाव की आड में कुटिल नीति छिपाए हुए था। मेटरनिख बडी सावधानी से चालें चल रहा था जिससे आस्ट्रिया की सीमाओं का विस्तार हो सके। प्रशा इग्लैण्ड तथा रूस भी घात लगाए बैठे थे। इस तरह आदर्शवादी नीति और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की आड में कूटनीति और सकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों के खेल खेले जा रहे थे। सभी अपना उल्लू सीधा करने में लगे थे और अपने कार्यों को न्यायोचित बताते थे।

ऐसे वातावरण मे काफी विचार विनिमय के बाद भी जब यूरोप के राष्ट्र किसी निर्णय पर न पहुँच सके तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि सम्मेलन असफल हो जाएगा और यूरोपीय आकाश में फिर से युद्ध के बादल मडराने लगेंगे। ऐसी स्थिति की सम्भावना दिखाई देने पर अन्त में सभी राज्यों ने विचारणीय सिद्धान्तों पर निर्णय किया। अपने स्वार्थों को नियन्त्रित करते हुए सबने मौलिक सिद्धान्तों की एकता स्वीकार की। वियना काँग्रेस के इस प्रकार तीन मार्गदर्शक सिद्धान्त बने। प्रथम सिद्धान्त था न्याय्यता अथवा वैधता (Legitimacy) का द्वितीय सिद्धान्त था विजयी राष्ट्रों को पुरस्कार तथा पराजितों को दण्ड देने का तथा तृतीय सिद्धान्त था यूरोप में शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का। इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए काँग्रेस ने विभिन्न देशों के लिए अलग अलग निर्णय लिए अथवा प्रादेशिक व्यवस्थाएँ कीं।

मूल्यॉकन वियना सम्मेलन ऊँचे आदर्शों और पवित्र उद्देश्यों की घोषणाओं के साथ आरम्भ हुआ। सम्मेलन का आयोजन इसलिए किया गया था कि यूरोपीय समाज का पुनर्निर्माण हो यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था मे सुधार लाया जाए और प्रदेशों के न्यायपूर्ण विभाजन द्वारा स्थानीय शान्ति की स्थापना की जाए। लेकिन यह सब केवल दिखावे या कहने के लिए ही ठीक था अन्यथा वास्तविकता इसके विपरीत थी। कॉंग्रेस के सचिव के ही शब्दों मे 'कॉंग्रेस मे बडे बडे शब्दों का प्रयोग उसे प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए किया *गया था किन्तु वास्तव मे वियना में एकत्र राजनीतिज्ञों का मुख्य उद्देश्य विजित प्रदेशों का* आपस मे बँटवारा करना था। वास्तविक अर्थ मे यह सम्मेलन यूरोप के शक्तिशाली सम्राटों का झमेला ही था। उन्हे अपने स्वार्थों का ध्यान था। अपनी स्वार्थ सिद्धि के आगे जन साधारण के हितों और अधिकारों की उन्हे कोई परवाह नहीं थी।

अनेक गम्भीर कमियों और आरोपों के यह भी मानना पडेगा कि वियना कॉंग्रेस से अनेक लाभ भी हुए। यूरोप के इतिहास मे कॉंग्रेस का जो महत्व है उसे कम करके नहीं आँका जा सकता। युद्धों से बुरी तरह थके हुए यूरोप मे शान्ति स्थापित करने मे यह कॉंग्रेस सफल हुई। वियना कॉंग्रेस का महत्व इस बात मे भी है कि यूरोप के इतिहास मे यह पहला अवसर था जब यूरोप के सम्पूर्ण राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। इससे कम से कम राज्यों को यह तो अनुभव हुआ कि परस्पर मिलकर और बातचीत करके भी किसी समझौते पर पहुँचा जा सकता है। ऐलिसन फिलिप्स ने लिखा है कि 'वियना सम्मेलन के निर्णयों से 1815 से 19वीं शताब्दी का राजनीतिक प्रभाव आरम्भ हुआ और सम्पूर्ण यूरोप के प्रमुख शासकों का नवीन समाज के निर्माण के लिए एकत्रित होना नवीन परम्परा का द्योतक था। जर्मनी और इटली के एकीकरण की दिशा मे भी वियना कॉंग्रेस ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य अनजाने ही कर डाले। इस तरह कॉंग्रेस ने 19वीं शताब्दी के यूरोप के नव निर्माण की आधारशिला रखी जो इसकी एक महान् सफलता थी। वियना कॉंग्रेस ने एक ऐसी व्यवस्था (यूरोपीय व्यवस्था Concert of Europe) का निर्माण किया जिससे युद्ध रोका जा सके। इस यूरोपीय व्यवस्था को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कह सकते हैं। इसकी आधारशिला पर ही आगे चलकर राष्ट्रसघ का निर्माण हुआ। इस सगठन के कारण ही यूरोपीय राज्यों में सहयोग की भावना का विकास हुआ जो बहुत समय तक चलती रही। वियना कॉंग्रेस पर यह आरोप लगाया गया कि उसके निर्णय स्थायी नहीं हुए। इस आलोचना का उत्तर देते हुए प्रो हार्नशा ने लिखा है कि 'वियना सम्मेलन के प्रतिनिधि ईश्वर के अवतार नहीं थे। जितना स्थायित्व मानव शक्ति में निहित है उतना ही स्थायित्व उन्होंने (वियना के निर्णायकों ने) देने का प्रयत्न किया था। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि वियना सम्मेलन के साथ पुराने युग का अन्त और नए युग का आरम्भ हुआ।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन 1919
(Peace Conference of Paris 1919)

28 जुलाई 1914 से प्रारम्भ होने वाले प्रथम महायुद्ध का अन्त मित्रराष्ट्रो की विजय में हुआ। 11 नवम्बर 1918 को युद्धविराम सन्धि पर जर्मन प्रतिनिधियो और मित्रराष्ट्रो की सेनाओं के जनरल *मार्शल फौच द्वारा* हस्ताक्षर हुए। शस्त्रो का युद्ध तो समाप्त हो गया किन्तु कूटनीतिक दाव पेचों का युद्ध शुरू हुआ। अब सबसे बडा और महत्वपूर्ण प्रश्न शान्ति

की भाँति व्यवहार करता था। जहाँ युद्ध चार वर्षों में समाप्त हुआ, वहाँ विजित देशों के साथ शान्ति सन्धियाँ करने में 5 वर्ष का समय लग गया।

स्थान, प्रतिनिधि और समस्याएँ: युद्ध समाप्त होने पर फ्रांस की राजधानी पेरिस को शान्ति-सम्मेलन के लिए उपयुक्त स्थान चुना गया, क्योंकि फ्रांस ने युद्ध में सक्रिय भाग लेकर जर्मनी के आक्रमणों का प्रतिरोध करने में बड़ी वीरता दिखाई थी, अतः उसे यह सम्मान दिया गया। शान्ति सम्मेलन में केवल मित्रराष्ट्रों को ही आमन्त्रित किया गया, जो राष्ट्र इस युद्ध में पराजित हुए थे उन्हें नहीं बुलाया गया। उनकी आवश्यकता केवल तब समझी गई जब शान्ति सन्धियों पर हस्ताक्षर करने का अवसर आया। सोवियत रूस में साम्यवाद की स्थापना हो चुकी थी, उसने धुरी राष्ट्रों (जर्मनी आदि) से समझौता भी किया था, अतः उसको प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन 15 जनवरी, 1919 को आरम्भ हुआ। इसमें 32 राज्यों के 70 प्रमुख प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इनमें विश्व के विशिष्ट राजनीतिज्ञ थे ही साथ ही साथ अमरीकन राष्ट्रपति, 11 प्रधानमन्त्री और 12 विदेश मन्त्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ अनेक सचिव, सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। अन्य प्रतिनिधि मण्डलों की संख्या सैकड़ों में थी।

शान्ति-सम्मेलन का कार्य जब शुरू हुआ तो उसके सामने अनेक समस्याएँ विद्यमान थीं:

1. यह समस्या उठ खड़ी हुई कि सन्धि प्रारम्भिक होनी चाहिए, अथवा अन्तिम?

2. सम्मेलन में इतने प्रतिनिधि आए थे कि सम्मेलन के कार्य का सुचारु रूप से संचालन सम्भव नहीं था। अतः पहले 10 सदस्यों की एक परिषद् (Council of Ten) बनाई गई, लेकिन बाद में मार्च, 1919 में चार व्यक्तियों की परिषद् (Council of Four) बनी। ये चार व्यक्ति अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटेन प्रधानमन्त्री लायड जॉर्ज, फ्रांस का प्रधानमन्त्री क्लेमेंशो और इटली का प्रधानमन्त्री आरलैण्डो थे। इन्हें जॉर्ज, फ्रांस का प्रधानमन्त्री क्लेमेंशो और इटली का प्रधानमन्त्री आरलैण्डो थे। इन्हें चार बड़े (Big Four) कहा गया। अप्रैल, 1919 में आरलैण्डो रुष्ट होकर लौट गया तो निर्णयों का भार विल्सन, लॉयड जॉर्ज और क्लेमेंशो—इस त्रिमूर्ति पर आ गया।

3. सम्मेलन के लिए पेरिस का चुनाव दुर्भाग्यपूर्ण था। डॉ. सेन्स के शब्दों में "पेरिस एक शिविर था और वहाँ पर प्रत्येक असन्तुष्ट था। सम्पूर्ण वातावरण सन्देह, घृणा, सन्ताप और द्रोह से व्याप्त रहा था।"

4. पेरिस का शान्ति-सम्मेलन एक 'विजेता गोष्ठी' (Victor's Club) थी। इसमें पराजित राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को भाग नहीं लेने दिया गया। इससे सम्मेलन में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हुईं।

5. पेरिस के शान्ति-स्थापक अपनी आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करना चाहते थे। वे अपने कार्य से अपने-अपने देश के निर्धन मनुष्यों को, जो बदले की भावना से जल रहे थे, सन्तुष्ट करना चाहते थे। अतः सम्मेलन में आपस में टकराहट रही।

6. सम्मेलन के सामने कोई सुनिश्चित और स्पष्ट योजना नहीं थी।

7 सम्मेलन का संगठन बड़ा दोषपूर्ण था। इसकी कार्य पद्धति भी बहुत अपूर्ण थी। सम्मेलन के सभी महत्वपूर्ण निर्णय 'त्रिमूर्ति' (विल्सन क्लेमेंसो लॉयड जॉर्ज) द्वारा किए जाते थे। पूर्ण सम्मेलन का कार्य केवल इन निर्णयों पर मोहर लगाना मात्र था।

8 अन्तिम कठिनाई वैयक्तिक तत्व (Personal Element) थी। विल्सन लॉयड जॉर्ज क्लेमेंसो और आरलैण्डो में किसी प्रकार की समानता न थी। अपनी अपनी ढपली अपने अपने राग वाली बात थी। पेरिस सम्मेलन के चारों कर्णधारों के विरोधी व्यक्तित्व और स्वभाव से शान्ति सम्मेलन में बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुईं। सम्मेलन में आदर्शवाद और भौतिकवाद में संघर्ष चलता रहा। ऐसे वातावरण में किसी एक पक्ष की पूर्ण विजय सम्भव न थी अतः दोनों पक्षों ने ही समन्वय की भावना अपनाई। फिर भी विल्सन के आदर्शवाद की अपेक्षा क्लेमेंसो का भौतिकवाद अधिक विजयी हुआ।

शान्ति सम्मेलन के मूल आधार *शान्ति सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ होने पर यह* प्रश्न उपस्थित हुआ कि शान्ति रचना अर्थात् विभिन्न शान्ति सन्धियों का आधार क्या हो ? सम्मेलन पर एक ओर तो विल्सन के आदर्शवाद का प्रभाव था तथा दूसरी ओर यूरोपीय राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय हितों को प्रधानता देकर राजनीतिक यथार्थवाद का प्रतिपादन करने पर तुले हुए थे। *ऐसे वातावरण में शान्ति रचना के एक से अधिक आधार निरूपित हुए और* उन्होंने अपनी अपनी भूमिका अपने ढंग से अदा की। शान्ति रचना के ये मूल आधार जिन्होंने शान्ति निर्माताओं के निर्णयों को प्रभावित किया निम्नलिखित छह थे

(क) अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन और जर्मनी का यह मत था कि शान्ति सन्धियों का आधार वे सिद्धान्त होने चाहिए जो विल्सन ने युद्धकाल में प्रतिपादित किए थे। युद्धकाल में विल्सन ने चार बार सह राष्ट्रों के युद्धोद्देश्यों की व्याख्या की थी। पहली बार 8 जनवरी 1918 को काँग्रेस के समक्ष भाषण करते हुए उसने अपने चौदह सूत्री कार्यक्रम को पेश किया था। इसके बाद 11 फरवरी 1918 को काँग्रेस के ही सामने उसने अपने चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके उपरान्त 4 जुलाई 1918 को उसने 4 लक्ष्यों की घोषणा की और फिर 27 सितम्बर को 5 व्याख्याओं की स्थापना की।

(ख) इंग्लैण्ड फ्राँस इटली आदि मित्रराष्ट्र युद्ध के समय ही की गई गुप्त सन्धियों के आधार पर शान्ति समझौते की रूपरेखा निर्धारित करना चाहते थे।

(ग) शान्ति निर्माताओं द्वारा प्रतिपादित नियमों को रूस की साम्यवादी क्रान्ति ने भी बड़ा प्रभावित किया। वे रूस को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् से बहिष्कृत तथा अछूत रखना चाहते थे। सम्मेलन के प्रत्येक निर्णय पर रूसी क्रान्ति का अज्ञात भय छाया हुआ था।

(घ) स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीयता की भावना का विकसित होना भी समझौते का एक महत्वपूर्ण आधार रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने इस सम्मेलन के अनेक निर्णयों को प्रभावित किया।

(ङ) अमेरिका ब्रिटेन फ्राँस और इटली के राष्ट्रीय हितों ने सम्मेलन पर निश्चित रूप से अमिट छाप छोड़ी।

(च) अन्त में ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि का भी पेरिस सम्मेलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

अध्यक्ष और समितियाँ सम्मेलन का अध्यक्ष क्लेमेंसो को चुना गया। यह एक औपचारिकता थी कि जिस देश में सम्मेलन हो उस देश का प्रधानमन्त्री या अधिकारी को

सम्मेलन का अध्यक्ष चुना जाता है। इसके अलावा क्लेमैसो का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। अत उसी की अध्यक्षता मे शान्ति सम्मेलन का सारा कार्य सम्पादित हुआ। महत्वपूर्ण विषयो की जाँच के लिए तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए अनेक समितियाँ बनाई गई। इन समितियों में अनिवार्य रूप स ब्रिटेन सयुक्तराज्य अमेरिका फ्रॉस और इटली के प्रतिनिधि रहते थे। इनके अलावा इनमे अन्य देशों के भी प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन विशेष समितियों की सख्या 52 तक हो गई थी। मुख्य समितियाँ युद्ध के उत्तरदायित्व क्षतिपूर्ति की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विधान जर्मनी के उपनिवेशो का बँटवारा बन्दरगाहों जल मार्गों तथा रेल मार्गों के नियमों के निर्माण से सम्बन्धित थीं। साथ ही राष्ट्रसघ की रूपरेखा क्या होगी इस सम्बन्ध मे भी एक समिति बनाई गई। इस समिति का अध्यक्ष स्वय अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन था। इनके अलावा अन्य अनेक समितियाँ अपनाई गईं जो सन्धि के विविध विषयों से सम्बन्धित थीं। इनका प्रतिवेदन काफी महत्वपूर्ण होता था। इससे शान्ति सम्मेलन का कार्य बहुत ही सफल हो गया।

मूल्यॉकन पेरिस के शान्ति सम्मेलन द्वारा शान्ति की शर्तें पाँच सन्धियों में रखी गईं जिनके नाम इस प्रकार हैं वर्साय की सन्धि आस्ट्रिया के साथ सेण्ट जर्मन की सन्धि बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि हगरी के साथ ट्रियनो की सन्धि और टर्की के साथ सेव्र की सन्धि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मनी के साथ सन्धि ही प्रस्तावित शान्ति सम्मेलन की महत्वपूर्ण सफलता थी।

पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने युद्धों को समाप्त करने के लिए लडे जाने वाले युद्ध के बाद विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया लेकिन मानव जाति का यह दुर्भाग्य था कि यूरोप का राजनीतिक वातावरण निरन्तर विस्फोटक होता गया राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही अल्पसख्यकों के हितों के लिए की गई सन्धियों की शर्तों के प्रति कोई वचन नहीं निभाया गया और अन्तत 1938 में ससार को द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका का शिकार बनना पडा। पेरिस की शान्ति सन्धियाँ इसलिए सफल रहीं कि प्रथम तो सम्बन्धित पक्षों ने सन्धि की शर्तों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं निभाया द्वितीय फ्रॉस में क्लेमैंसो सरकार का पतन हो गया और उग्रवादी पोऑकार सरकार सत्तारूढ हुई जिसने प्रारम्भ से ही ऐसी नीति अपनाई कि जिसके फलस्वरूप सन्धि की शर्तें बेकार हो जाएँ और फ्रॉस को खुलकर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। वास्तव मे फ्रॉस की राजनीति में पोऑकार का पुन प्रवेश यूरोप के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शान्ति सन्धियों से अमेरिका का सम्बन्ध विच्छेद भी बडा घातक सिद्ध हुआ। सन्धियों को ससार के एक महानतम् देश के समर्थन से वंचित हो जाना पडा और उनको कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो प्रतिशोध की आग में जल रहे थे। यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यदि सन्धि की शर्तों का सभी पक्षों की ओर से उचित पालन हुआ होता तो पेरिस की शान्ति सन्धियों की यह दुर्दशा न होती जो बाद में हुई।

सैनफ्रॉसिस्को सम्मेलन, 1945

5 मार्च 1945 को सयुक्त राज्य अमेरिका रूस ब्रिटेन तथा चीनी गणतन्त्र की ओर से याल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार 45 अन्य राष्ट्रों को आमन्त्रित किया। पोलैण्ड को

आमन्त्रित नहीं किया गया क्योंकि चार प्रस्तावक राष्ट्र उसे मान्यता प्रदान करने के प्रश्न के विषय मे सहमत नही हो सके। आमन्त्रित करते समय सम्बन्धित राष्ट्रों को सूचित भी कर दिया गया था कि प्रस्तावित सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में याल्टा सम्मेलन के निर्णयों पर विचार किया जाएगा। साथ ही आमन्त्रित राष्ट्रों से अपने विचार भी भेजने का आग्रह किया गया था। सम्मेलन 25 अप्रेल 1945 को सैनफ्रॉसिस्को मे प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन मे 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए और इसकी बैठक 25 अप्रेल से लेकर 26 जून 1945 तक चलती रही। ई पी वेज ने इस सम्मेलन को सबसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बताया है जैसा न तो कभी हुआ था न ही भविष्य में होने की सम्भावना थी।

सम्मेलन की कार्यवाही, राष्ट्रों का राजनय सैनफ्रॉसिस्को सम्मेलन के कार्य निष्पादन सम्मेलन में बडे तथा छोटे राज्यों के राजनय और सम्मेलन के परिणाम आदि पर डॉ रामसखा गौतम ने अच्छा प्रकाश डाला है

सयुक्त राष्ट्र चार्टर का निर्माण करने के सम्मेलनों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक समितियाँ एव आयोगों का गठन किया गया। सम्मेलन मे भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों को अपने विचार प्रकट करने एव अपने सुझाव प्रस्तुत करने का पूरा अवसर प्रदान किया गया। अन्त मे निर्णय एक विशेष बहुमत द्वारा लिए गए जिससे यह आभास हुआ कि सम्मेलन द्वारा बड़े राष्ट्रों की भी उपेक्षा की जा सकती है। यहाँ पर यह बात अवश्य ही स्पष्ट की जानी चाहिए कि कोई भी निर्णय रूस ब्रिटेन अमेरिका चीनी गणतन्त्र एव फ्रॉस की इच्छा के विरुद्ध सम्भव ही नहीं था। रूस एव अमेरिका को विशेष स्थान प्राप्त हो गया था। इस सम्मेलन मे अनेक कठिन समस्याओं का समाधान हो सका। सुरक्षा परिषद् में मतदान पद्धति (निषेधाधिकार) अधिक महत्वपूर्ण विषय बन गया था। छोटे राष्ट्रों ने इस विशेष अधिकार को रोकने का बहुत कठिन असफल प्रयास किया। छोटे राष्ट्रों का मत था कि विवादों को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने के लिए एव चार्टर मे सशोधन करते समय निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। रूस याल्टा मतदान पद्धति में लेशमात्र परिवर्तन स्वीकार करने की स्थिति मे नहीं था। रूस का विचार था कि चार्टर मे सशोधन के लिए कठोर पद्धति ही अधिक हितकर होगी। रूस तो यहाँ तक कहता था कि किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार विमर्श करने के लिए वीटो का प्रयोग होना चाहिए परन्तु ब्रिटेन फ्रॉस अमेरिका तथा चीन चार्टर को इतना कठोर नहीं होने देना चाहते थे। उन्होंने यह भी बहुत ही कठिनाई से स्वीकार किया कि केवल निर्णयों पर ही निषेधाधिकार का प्रयोग किया जाए। इस समस्या का अन्तिम समाधान अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन एव मार्शल स्टालिन के सहयोग से ही सम्भव हो सका।

महासभा की शक्तियों के सम्बन्ध में भी कठिन विवाद था। रूस का विचार था कि महासभा को विश्व की सुरक्षा से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार नहीं प्रदान किया जाना चाहिए। वह चाहता था कि उक्त कार्य का उत्तरदायित्व केवल सुरक्षा परिषद् को ही सौंपा जाए। राष्ट्रपति ट्रूमैन इस विषय पर मार्शल स्टालिन से विचार विमर्श करना चाहते थे परन्तु राष्ट्रपति ट्रूमैन के विचार से सहमत होकर रूस के विदेश मन्त्री मोलोटोव ने अमेरिका का यह विचार स्वीकार कर लिया कि महासभा को भी सुरक्षा सम्बन्धी विषयों

पर विचार करने का अधिकार प्रदान किया जाए। न्यास क्षेत्रों के प्रश्न पर भी अनेक विवाद थे। रूस के प्रतिनिधियों का विचार था कि कुछ समय के उपरान्त उपनिवेशों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाए परन्तु ब्रिटेन एवं अमेरिका स्वायत्त शासन से अधिक नहीं चाहते थे। अन्त में निर्णय यह हुआ कि उपनिवेशों को यथासंभव पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वायत्त शासन प्रदान किया जाए। छोटे छोटे राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार देने पर जोर दे रहे थे। अमेरिका भी इस सुझाव के अनुकूल था। छोटे राष्ट्र यह भी चाहते थे कि चार्टर में ऐसा संशोधन सम्भव हो जाए ताकि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को चार्टर के निर्वचन का अधिकार मिल सके। छोटे राष्ट्रों को अपने इस प्रगतिशील प्रयास में असफल होना पड़ा। क्षेत्रीय प्रबन्धों के सम्बन्ध में सदस्य राज्यों को व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से आत्म-सुरक्षा का अधिकार प्राप्त हो गया।

सुरक्षा परिषद् में बड़ी शक्तियों की महत्त्वपूर्ण स्थिति से छोटे राष्ट्र प्रसन्न नहीं थे। छोटे राष्ट्रों ने यह प्रयास भी किया कि सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या 11 से अधिक होनी चाहिए एवं वे अस्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि के पक्ष में भी थे। बड़े राज्यों के लिए यह विचार बिल्कुल स्वीकार योग्य नहीं था। सम्भवतः उनका अनुमान था कि उन्हें चार्टर के अन्तर्गत जो विशेषाधिकार प्राप्त हो चुके हैं उनमें किसी भी तरह के पुनर्विचार से उनकी स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि छोटे राज्यों ने चार्टर में यथासम्भव परिवर्तन अवश्य करा लिए जिससे चार्टर में उनकी स्थिति कुछ सुदृढ़ हो सकी। सम्मेलन में बड़े राष्ट्र छोटे राज्यों की पूर्णरूपेण उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे। एक बात यह भी है कि सभी बड़े राष्ट्रों में भी सभी प्रश्नों पर मतैक्य नहीं था जिसके फलस्वरूप छोटे राज्य या राष्ट्र महासभा की शक्ति को बढ़वा सके क्योंकि उनको यह अनुमान हो गया था कि बड़े राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् पर निषेधाधिकार के कारण सम्पूर्ण अधिकार कर लिया है। छोटे राज्यों के प्रयत्न से आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् को छोटे राज्यों के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सका। यह निर्विवाद सत्य है कि छोटे राज्यों के सामूहिक विरोध के कारण ही सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को पूर्णतया बाध्यकारी नहीं बनाया जा सका। सुरक्षा परिषद् अपने अधिकारों में निरंकुश नहीं हो सकी एवं वह अपने निर्णयों को बाध्यकारी बनाने में शर्तें लगा सकने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकी। यद्यपि छोटे राष्ट्र सुरक्षा परिषद् पर कुछ अंकुश लगा सकने में सफल हो सके परन्तु बड़े राष्ट्रों के निषेधाधिकार को परिवर्तित नहीं कर सके। शान्ति भंग होने या शान्ति को खतरा उत्पन्न होने की स्थिति में सुरक्षा परिषद् के अधिकारों के प्रयोग में उसके विवेक के अधिकारों को चुनौती नहीं दी जा सकी। छोटे राज्यों ने चार्टर को हर्ष से स्वीकार कर लिया था। उनको विश्वास था कि बड़े राष्ट्र छोटे राज्यों के हितों का विशेष ध्यान रखेंगे। सम्भवतः उन दिनों यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि संयुक्त राष्ट्र का दुरुपयोग बड़े राष्ट्र अपने हितों की रक्षा हेतु करेंगे एवं छोटे राज्यों की पूर्णतया उपेक्षा कर दी जाएगी।

संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र (चार्टर) को, जिसे सैन्फ्रांसिस्को में तैयार किया गया था, 26 जून, 1945 को उक्त सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी 51 राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर करके स्वीकार कर लिया। चार्टर के अनुच्छेद 110 में यह कहा गया था कि रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, चीनी गणराज्य तथा शेष राज्यों के अधिकांश राज्यों की मान्यताएँ

द्वारा स्वीकृति प्रदान करने के उपरान्त चार्टर लागू माना जाएगा। 24 अक्टूबर 1945 तक यह शर्त सम्पन्न हो गई एवं इसी तिथि को संयुक्त राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने जिस संगठन को जन्म दिया वह राष्ट्र संघ से बहुत अधिक भिन्न तो नहीं था परन्तु अनेक कारणों से विश्व के सभी देश राष्ट्रसंघ को स्मरण ही नहीं करना चाहते थे। राष्ट्रसंघ के साथ असफलता का कलंक जुड़ा था जिससे सभी सम्बन्धित राष्ट्रों ने एक नए विश्व संगठन का शुभारम्भ करना ही श्रेयस्कर समझा। दो महत्वपूर्ण शक्तियाँ रूस एवं अमेरिका जिनका सहयोग विश्व संस्था की सफलता हेतु अत्यन्त आवश्यक माना जाता था एक नए विश्व संगठन के निर्माण के पक्ष में थीं। अमेरिका को यह भी भय था कि राष्ट्रसंघ की पुनरावृत्ति होने पर अमेरिकी सीनेट उसे अस्वीकार कर सकती थी। रूस भी जिसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित होना पड़ा था राष्ट्रसंघ की भावना मात्र से अशुभ का अनुभव कर रहा था। यद्यपि पुराने राष्ट्रसंघ के अनुभवों का उपयोग कर सम्मेलनों का समय बचाया जा सकता था परन्तु पूर्णतया नया विचार एवं नया संगठन अधिक शुभ माना गया।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन ने संयुक्तराष्ट्रसंघ की नींव डाली जो बाद के वर्षों में विश्व में शान्ति-स्थापित करने की दिशा में एक महान् संगठन सिद्ध हुआ।

1 डॉ. रामसरूप गौतम संयुक्त राष्ट्र पृष्ठ 9

10

सन्धियाँ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, अविप्रतिपत्ति सन्धि, अतिरिक्त धाराएँ, अन्तिम अधिनियम, प्रामाणिक विवरण, अनुसमर्थन, सहमिलन आदि

(Treaties and Other International Compacts, Concordat, Additional Articles, Final Act, Process Verbal, Ratification, Accession etc.)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सचालन के लिए राज्यों के बीच अनेक सन्धियाँ एव समझौते किए जाते हैं। इनके द्वारा राज्य अपनी स्वीकृति से अपने लिए कानूनी अधिकार व कर्त्तव्य निश्चित कर लेते हैं। सधियाँ और समझौते अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सन्धि एव अभिसमय
(Treaties and Convention)

सन्धियाँ राज्यों के बीच होने वाली सविदाएँ हैं। इन्हें ऐसे समझौते कहा जा सकता है जिनके द्वारा राज्य आपस में कानूनी सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास करते हैं। प्रो ओपेनहीम के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ वे परम्पराएँ या सविदाएँ हैं जो दो अथवा दो से अधिक राज्यों के बीच पारस्परिक हित के विभिन्न विषयों से सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए की जाती हैं।" हार्वर्ड ड्राफ्ट कन्वेंशन की धारा 1 में सन्धि को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "सन्धि समझौते का एक ऐसा औपचारिक रूप है जिसके द्वारा दो या अधिक राज्य आपस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन सम्बन्ध स्थापित करते हैं।" एमर प्लिस्के (Elmer Plischke) के कथनानुसार "सन्धि राज्यों के बीच सम्बन्ध या सम्पर्क है जो पारस्परिक अधिकारों एव आपसी दायित्वों को स्थापित करने परिवर्तित करने या समाप्त करने के लिए की जाती है।" ये सन्धियाँ सामान्यत लिखित रूप में की जाती हैं किन्तु राज्यों द्वारा किए जाने वाले सभी वायदों का लिखित होना आवश्यक नहीं है। यदि दोनों पक्ष सहमत हों तो वे मौखिक रूप से भी अनेक दायित्वों में बद्ध हो सकते हैं। इतिहास में ऐसे मौखिक समझौतों के भी अनेक उदाहरण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ऐसे अनेक मौखिक समझौते किए थे।

मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौतों से समरूपता रखती है। सन् 1829 में अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश जॉन मार्शल ने कहा था कि "सन्धि अपनी प्रकृति के अनुसार राष्ट्रों के बीच होने वाला एक समझौता है।" यह कथन अधिकांश द्विपक्षीय समझौतों पर विशेष रूप से लागू होता है।

शाब्दिक दृष्टि से 'सन्धि' शब्द के अंग्रेजी रूपान्तर ट्रीटी (Treaty) को ट्रैटर (Traiter) शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है समझौता करना। राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य में 'सन्धि' शब्द का प्रयोग व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थों में किया जाता है। 'सन्धि' की प्रकृति बाध्यकारी होती है। आजकल बाध्यकारी अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का उल्लेख करने के लिए विभिन्न शब्द प्रयोग में लाए जाने लगे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकार अभिसमय (Convention) है जिसे लेटिन भाषा के शब्द 'कन्वेंशियो' (Conventio) से लिया गया है। इसका अर्थ है 'समझौता'। यह पद प्रायः उस समझौते के लिए प्रयोग में आता है जिसमें भाग लेने वाले अनेक देश होते हैं और प्रायः कानून निर्माण की प्रकृति के होते हैं। आजकल अनेक विषयों पर बहुपक्षीय अभिसमय सम्पादित हुए हैं जैसे साक्षरता और औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा, तेल से समुद्र का दूषण, कृषि, सफाई, मोटर यातायात, गमन की स्वतन्त्रता, नागरिक उड्डयन, समुद्र पर जीवन की स्वतन्त्रता, अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियाँ आदि।

सन्धि और अभिसमय दोनों शब्द बहुत कुछ समानार्थक हैं इसलिए दोनों पर एक साथ विचार करना सुविधाजनक होगा। दोनों पदों की परिभाषा इस प्रकार नहीं की जा सकती कि दोनों में वास्तविक अन्तर दिखाया जा सके अतः इन दोनों का बहुत कुछ समान अर्थ है। सन्धियाँ अपने सीमित अर्थ में औपचारिकता का साधन होती हैं। प्रारम्भ में सन्धियाँ राज्य के अध्यक्षों द्वारा की जाती थीं किन्तु आजकल ये राज्य तथा सरकारों के बीच की जाती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ऐसी सन्धियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सन्धियों के उद्देश्य (Objects of Treaties)

सन्धियों का उद्देश्य राज्यों के हित से सम्बन्धित कोई भी विषय हो सकता है। सन्धियों द्वारा राज्यों को कतिपय अधिकार और कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। इन दायित्वों की प्रकृति सन्धि के औचित्य का आधार होती है। अनुचित दायित्व डालने वाली सन्धि अवैध मानी जाती है। सन्धि के उद्देश्यों की दृष्टि से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1. एक सन्धि इसमें सम्मिलित राज्यों को ही दायित्व सौंपती है तथा इन्हीं पर ये दायित्व बाध्यकारी रूप से लागू होते हैं। ये राज्य दूसरे राज्यों को भी कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

2. सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग होती हैं क्योंकि सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार की सन्धियों द्वारा राज्यों पर बाध्यकारी आचरण के नियम आरोपित किए जाते है। कोई पक्ष सन्धि के दायित्वों का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि नवीन सन्धि के दायित्व पूर्वस्थित सन्धि के दायित्वों से भिन्न या विपरीत होते हैं तो सम्बन्धित राज्य उसका विरोध कर सकते हैं। सन् 1878 में रूस ने टर्की के साथ सानस्टीफेनो की शान्ति सन्धि की। यह सन्धि पेरिस की सन्धि 1856 और लन्दन अभिसमय 1871 के विपरीत थी इसीलिए ग्रेट ब्रिटेन ने इसका विरोध किया।

3 सन्धि के उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के दायित्वों के विरोधी नहीं होने चाहिए। यदि दोनों के बीच विरोध होगा तो चार्टर की धारा 103 के अनुसार चार्टर की धाराएँ मान्य होंगी। इस प्रकार चार्टर के दायित्व उच्चतर हैं।

4 सन्धि का लक्ष्य प्राप्त किए जाने योग्य हो। असम्भव दायित्वों को सन्धि का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाता है तो कोई भी पक्ष सन्धि का उल्लंघन कर सकता है। कानूनी रूप से ऐसी सन्धि करता है तो वह बाध्यकारी मानी जा सकती है। यह सच है कि इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ अतीतकाल में की गई हैं किन्तु ये सन्धिकर्ता पक्ष पर बाध्यकारी नहीं हो सकती। राष्ट्रों द्वारा बहुधा इनका उल्लंघन किया जाता है।

सन्धियों का वर्गीकरण (Classification of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को उद्देश्यों की दृष्टि से अनेक भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ओपेनहीम ने सन्धियों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) विभिन्न राज्यों के आचरण के सामान्य नियमों को निर्धारित करने वाली सन्धियाँ। इन्हें कानून निर्माता सन्धि भी कहा जाता है। (2) इस वर्ग में उन सन्धियों की गणना होती है जो किसी अन्य उद्देश्य के लिए की जाती हैं। सन्धियों का यह वर्गीकरण सैद्धान्तिक रूप से गलत किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

भारतीय राजशास्त्र के विद्वान् कामन्दक ने अपने ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसार में 16 प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है। ये हैं—द्रव्य सन्धि सन्तान सन्धि, कपाल सन्धि, उपग्रह सन्धि, मित्र सन्धि हरिण्य सन्धि भूमि सन्धि आदि। कौटिल्य के मतानुसार सन्धियाँ के चल और स्थावर दो वर्ग होते हैं। चल सन्धि में शपथपूर्वक उसके पालन का व्रत लिया जाता है किन्तु स्थावर सन्धि में उनके पालन के लिए किसी की जमानत ली जाती है।

प्रसिद्ध विद्वान हालैण्ड ने विषय की दृष्टि से सन्धियों को पाँच भागों में विभाजित किया है—राजनीतिक सन्धियाँ व्यापारिक सन्धियाँ सामाजिक सन्धियाँ दीवानी न्याय सम्बन्धी सन्धियाँ एवं फौजदारी न्याय विषयक सन्धियाँ। सन्धि के इन रूपों के अतिरिक्त वास्तविक व्यवहार में निम्नलिखित रूप भी प्रचलित हैं—

1 द्वि पक्षीय सन्धियाँ जब कोई दो राज्य आपस में सन्धि करते हैं तो वह इस श्रेणी में आती है। ऐसी सन्धियाँ निजी समझौता होने के कारण प्राय अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में नहीं आतीं तो भी उन विषयों पर नियमन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं जिनके बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून मौन है।

2. बहुपक्षीय कानून निर्माता सन्धियाँ ऐसी सन्धियों में अनेक राज्य भाग लेते हैं। ये सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—राज्यों के आर्थिक व सामाजिक हितों पर विचार करने वाली सन्धियाँ व कानून निर्माता सन्धियाँ। ऐसी सन्धियाँ राज्यों के अधिकारों व कर्त्तव्यों को परिभाषित करती हैं तथा उनके विरोधी दावों के बीच सामंजस्य स्थापित करती हैं। उदाहरण के लिए 1815 की वियना काँग्रेस का अन्तिम अधिनियम (Final Act) शीघ्र ही समस्त यूरोप का कानून बन गया। सन् 1899 और 1907 के हेग सम्मेलन भी कानून निर्माता सन्धियाँ थीं। राष्ट्रसंघ का घोषणा पत्र और संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

3 शान्ति सन्धियाँ युद्ध समाप्त होने पर शान्ति सन्धियाँ की जाती हैं। प्राचीन काल में यह परम्परा थी कि हारा हुआ राज्य विजेता राज्यों द्वारा तय की गई शर्तों पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होता था। ग्रोशियस ने इन सन्धियों को उचित बताया है। बेटिल के मतानुसार ये सन्धियाँ तभी सार्थक हो सकती है जब उन पर राज्यों का विश्वास हो। शान्ति सन्धि एक प्रकार से हारे हुए राज्य द्वारा जीते हुए राज्य को दिया गया युद्ध का हर्जाना है। इस सबध में वर्साय की सन्धि का उदाहरण गिनाया जा सकता है।

4 गारण्टी देने वाली सन्धियाँ सन् 1920 में राष्ट्रसघ की स्थापना से पहले विचारकों ने ऐसी सन्धियों की वृद्धि की समस्या पर विचार किया था। इन सन्धियों द्वारा विशेष राजनीतिक स्थिति स्थापित की जाती है। कुछ राज्यों को ऐसी सन्धियों द्वारा तटस्थता की गारटी दी जाती है। सन्धि के सभी पक्ष सम्बन्धित राज्य की तटस्थता का सम्मान करते हैं।

सन्धियों के प्रभाव (*Effects of Treaties*)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का व्यापक प्रभाव होता है। ये केवल सन्धिकर्त्ता पक्षों को ही नहीं वरन् दूसरे पक्षों को भी प्रभावित करती हैं। सन्धियों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून दोनों ही प्रभावित होते हैं। सन्धियों के प्रभाव को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1 समझौता करने वाले पक्ष सन्धियों का प्रत्यक्ष प्रभाव समझौता करने वाले पक्षों पर पड़ता है। वे सन्धि के प्रावधानों से बाध्य हो जाते हैं और उन्हें यथावत् क्रियान्वित करते हैं। *क्रियान्विति की दृष्टि से सन्धि के महत्वपूर्ण तथा गौण भागों मे अतर किया जाता है।* सन्धि की बाध्यकारी शक्ति उसके सभी भागों पर समान रूप से लागू होती है अत इसे सद्भावना के साथ क्रियान्वित किया जाना चाहिए। यदि सन्धि का कोई पक्ष उसकी किसी धारा विशेष के सम्बन्ध में हस्ताक्षर करते समय सहमत न हो तो उस पर वह धारा लागू नहीं होती।

2 सन्धिकर्त्ता राज्यों की जनता अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ राज्यों के बीच होती हैं और इसलिए वे राज्यों पर ही लागू होती हैं। राज्यों की जनता से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता। किसी किसी अन्तराष्ट्रीय सन्धि में राज्य के न्यायालयों अधिकारियों आदि के सम्बन्ध में भी प्रावधान होते हैं। सम्बन्धित राज्यों को इन प्रावधानों को अपने राष्ट्रीय कानून के अनुसार क्रियान्वित करना चाहिए। इसका तरीका प्रत्येक राज्य का पृथक होता है।

3 सरकार के परिवर्तन का सन्धियों पर प्रभाव सन्धियाँ केवल समझौता करने वाले पक्षों पर *ही बाध्यकारी होती हैं। यदि किसी सन्धि से* सम्बन्धित राज्य की सरकार बदल जाए तो नियमानुसार सन्धि की बाध्यकारी शक्ति नवगठित सरकार पर भी प्रभाव रखेगी। इसी प्रकार जब साविधानिक सरकारों के मन्त्रिमण्डल बदल जाते हैं तो पूर्व मन्त्रिमण्डल द्वारा की गई सन्धियाँ प्रभावी रहती हैं। यदि कोई नई सरकार पूर्ववर्ती सरकार द्वारा की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का उल्लघन करती है तो *अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में* उसकी साख गिर जाती है। इसलिए सरकार का रूप पदाधिकारी सिद्धान्त अथवा नीति बदल जाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का प्रभाव यथावत् कायम रहता है। जिन सन्धियों मे सरकार के एक विशेष रूप की अनिवार्यता होती है वे प्राय सरकार बदलने पर प्रभावहीन हो जाती हैं।

4 तीसरे राज्यों पर प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्टत यह निर्धारित करने वाला कोई नियम नहीं है कि दो या अधिक राज्यों के बीच की गई सन्धि उन राज्यों पर क्या प्रभाव डालेगी जो समझौते में शामिल नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक सन्धियों में तीसरे पक्ष को लाभान्वित करने का लक्ष्य स्पष्ट कर दिया गया था। उनमें यह भी प्रावधान था कि तीसरे इच्छुक राज्य मूल सन्धि के सदस्य बन सकते हैं। ऐसा होने पर उन्हें समस्त कानूनी अधिकार प्राप्त हो सकते थे।

नियमानुसार सन्धि का सम्बन्ध केवल समझौता करने वाले पक्षों से होता है। तीसरे राज्यों पर केवल विशेष परिस्थितियों में ही सन्धि अपना प्रभाव डाल पाती है। तीसरे राज्य अपनी स्पष्ट या अस्पष्ट स्वीकृति प्रदान कर सन्धि के दायित्वों और अधिकारों में बन्ध जाते हैं। सन् 1903 में संयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा के बीच एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके अनुसार पनामा नहर को सभी राज्यों के व्यापारिक जहाजों एवं युद्धपोतों के लिए खुली रखने का प्रावधान किया गया था। यह सन्धि यद्यपि दो राज्यों के बीच की गई थी किन्तु इसने तीसरे राज्यों को भी प्रभावित किया।

जिस प्रकार साधारणत सन्धियाँ तीसरे राज्यों को लाभ अधिकार नहीं देतीं उसी प्रकार उनके ऊपर कोई दायित्व भी नहीं डालतीं। समय के अनुसार इस नियम में परिवर्तन आता जा रहा है। राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में संघ को अधिकार दिया गया था कि वह गैर-सदस्यों के बीच होने वाले विवादों के सम्बन्ध में अपने प्रभाव का प्रयोग करे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 2 मे स्पष्ट उल्लेख है कि संघ को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे गैर-सदस्य राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए संघ के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य कर सकें। इस प्रकार सामान्य हित की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते तीसरे पक्ष को भी प्रभावित कर सकते हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर प्रभाव : विभिन्न संधियों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी स्वीकार कर लिया जाता है और वे उसके अंग बन जाते हैं।

सन्धियों की रचना एवं व्याख्या

(Construction and Interpretation of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की रचना का रूप सदस्य-राज्यों के दृष्टिकोण एवं लक्ष्यों द्वारा निर्धारित होता है। सन्धि के लक्ष्य और अभिप्रायों की जानकारी के लिए समय-समय पर उसकी व्याख्या की जाती है। जहाँ सन्धि की शर्तें विशेष और स्पष्ट होती हैं वहाँ व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं रहती और सम्बन्धित राज्य उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। यदि सन्धि के किन्हीं प्रावधानों पर कोई सन्देह या उनमें अस्पष्टता होती है तो उसकी व्याख्या की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सन्धियों की व्याख्या के लिए अनेक नियमों का विकास हुआ है। कुछ सन्धियों में तो व्याख्या के तरीके का भी उल्लेख कर दिया जाता है अन्यथा मान्य नियमों के आधार पर व्याख्या होती है। व्याख्या के कुछ नियम निम्नलिखित हैं—

1 सन्धि के प्रावधानों को साहित्य और व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाया जाना चाहिए। यदि सन्धि की भाषा अस्पष्ट या सन्देहजनक हो तो उसकी सही व्याख्या के लिए आन्तरिक और बाह्य परिणामों के मापदण्ड की सहायता ली जानी चाहिए। सन्धि की तर्कपूर्ण अर्थ देने वाली व्याख्याएँ ही मान्य हो सकती हैं।

2 सन्धि की व्याख्या का उद्देश्य उसके रचनाकारों के अभिप्राय का पता लगाना है। अत जब शब्दों की व्याख्या की जाए तो सन्धि के उद्देश्य तथा प्रसग को ध्यान मे रखना चाहिए। सन्धि की व्याख्या समय के अनुरूप की जानी चाहिए। केवल एक भाग को अन्य भागों से पृथक् करके देखना अनुपयुक्त है।

3 व्याख्या करते समय तकनीकी शब्दों का तकनीकी अर्थ लिया जाए और साधारण शब्दों को सन्धिकर्ताओं की आकांक्षाओं के आधार पर समझा जाए।

4 सन्धि की व्याख्या इस प्रकार की जाए ताकि सम्बन्धित पक्षों की स्वतन्त्रता बनी रहे और उन पर कम से कम दायित्व पड़े।

5 दो उपयुक्त व्याख्याओं में से उसे प्राथमिकता दी जाए जो सम्बन्धित पक्षों के लिए लाभदायक हों। सन्धि की व्याख्या ऐसी की जाए जो उसके किसी भाग को अर्थहीन सिद्ध न कर दें।

6 सन्धि की व्याख्या करते समय उन राजनीतिक एव आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए जिसके अन्तर्गत सन्धि की गई है।

7 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मत में सन्धि की व्याख्या करते समय इस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए कि सधि की शर्तें प्रभावशाली एव उपयोगी सिद्ध हों।

8 सधि की उदार दृष्टि से व्याख्या की जानी चाहिए।

9 सधि को जिस देश में लागू किया जाये वहाँ के स्थानीय प्रयोग सबधी व्याख्या को स्वीकार किया जाना चाहिए।

10 सधि की न्यायपूर्ण और निष्कपट व्याख्या की जानी चाहिए।

सन्धि की धाराएँ (Clauses in a Treaty)

प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि में मुख्यत निम्नलिखित बातें होनी चाहिए-

1 भूमिका-इसमें सन्धिकर्त्ता राज्यों के अध्यक्षों अथवा सरकारों के नाम होते हैं और सन्धि का उद्देश्य तथा सन्धिकर्ताओं के सकल्प का उल्लेख होता है।

2 सन्धि की प्रमुख धाराएँ।

3 तकनीकी अथवा औपचारिक विषय या सन्धि की क्रियान्विति से सम्बन्धित औपचारिक धाराएँ जैसे-लेख की तारीख समय भाषा विवादों का समाधान, सशोधन, पजीकरण और मूल लेख की रक्षा आदि।

4 हस्ताक्षर तथा उनके स्थान एव दिनाक को औपचारिक रूप से प्रमाणित करना।

सन्धि रचना के चरण (Stages in a Treaty)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ अपनी रचना और क्रियान्विति की दृष्टि से अनेक सोपानों में होकर गुजरती हैं। इसकी एक लम्बी प्रक्रिया होती है। उचित प्रक्रिया को अपनाने के बाद ही एक सन्धि के प्रावधानों को बाध्यकारी माना जाता है। प्रोफेसर स्टार्क ने सन्धियों के प्रमुख चरण निम्नलिखित रूप से गिनाए हैं—

1 *सन्धिकर्ताओं की नियुक्ति* (Accrediting of Negotiators) : सन्धि करने वाले राज्य इस हेतु अपने प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। इन प्रतिनिधियों की शक्तियों का स्पष्टत उल्लेख कर दिया जाता है। राज्य का अध्यक्ष अथवा विदेश मन्त्री सन्धि-वार्ता मे भाग लेने

वाले प्रतिनिधि को एक औपचारिक लेख प्रदान करता है जिसमें प्रतिनिधि के स्तर और शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख होता है। उसे पूर्ण शक्तियों का लेख कहा जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार सन्धि वार्ता करने वाले प्रतिनिधियों को बाध्यकारी समझौता करने की शक्तियाँ दी जाती थीं। उस समय राजा का निर्णय अन्तिम होता था और राजा का प्रतिनिधि होने के नाते सन्धिकर्ता को पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। उस समय यातायात और संचार के धीमे साधन थे इसलिए प्रतिनिधि अपनी सरकार से निकट सम्पर्क नहीं रख पाता था। इस समय और परिस्थितियाँ बदलने के कारण अब स्थिति में परिवर्तन आ गया है। प्रतिनिधियों के निर्णय अन्तिम नहीं होते और अनुसमर्थन की परम्परा वास्तविक बन गई है।

2 सन्धि वार्ताएँ (Negotiations) सन्धि का दूसरा चरण सन्धिकर्ता राज्यों के प्रतिनिधियों के बीच होने वाली वार्ता है। द्विपक्षीय सन्धियों के सम्बन्ध में वार्ता किसी भी स्थान पर मिलकर की जा सकती है किन्तु बहु पक्षीय सन्धि के लिए वार्ता करते समय राजनयिक सम्मेलन बुलाना अनिवार्य होता है। सन्धि वार्ता के समय प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य होता है कि वे हमेशा अपनी सरकारों से सम्पर्क बनाए रखें और उनके निर्देशानुसार ही कार्य करें। सन्धियों के प्रारूप की परीक्षा के लिए कभी कभी समितियाँ भी नियुक्त की जाती हैं तथा सम्मेलन की सहायता के लिए एक प्रतिवेदक नियुक्त किया जाता है। सम्मेलन की बैठकें आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थानों पर की जा सकती हैं। प्रतिनिधियों के बीच सन्धि वार्ताएँ उस समय तक चलती रहती हैं जब तक कि वे प्रस्तावित सन्धि के सभी प्रावधानों से सहमत न हो जाएँ। सन्धि सम्पादन में इस चरण को बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

3 हस्ताक्षर (Signatures) प्रतिनिधियों की सहमति के बाद जब सन्धि का अन्तिम प्रारूप तैयार हो जाता है तो उस पर वार्ता करने वालों के हस्ताक्षर लिए जाते हैं। सभी प्रतिनिधियों को एक समय और स्थान पर एक-दूसरे की उपस्थिति में हस्ताक्षर करने चाहिए। हस्ताक्षर होने के बाद कुछ सन्धियाँ प्रभावशाली बन जाती हैं किन्तु अन्य में सन्धि करने वाले देशों की व्यवस्थापिकाओं के अनुसमर्थन की आवश्यकता रहती है। सन्धियाँ और अभिसमय प्रायः मोहर बन्द रहते हैं किन्तु यह तथ्य अधिक महत्त्व नहीं रखता। कुछ सन्धियों को अनुसमर्थन से पहले प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने पर अस्थाई रूप से लागू कर दिया जाता है। एक राज्य की सरकार अपने प्रतिनिधि के हस्ताक्षर हो जाने के बाद भी किसी सन्धि को अस्वीकार कर सकती है। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य की सीनेट ने राष्ट्रपति विल्सन के हस्ताक्षरों के बाद भी वर्साय की संधि को अस्वीकार कर दिया था। परिणामस्वरूप संयुक्तराज्य अमेरिका संयुक्तराष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका था।

4 अनुसमर्थन (Ractification) एक सन्धि या अभिसमय पर हस्ताक्षर करने के बाद सन्धिकर्ता प्रतिनिधि उसे अपनी सरकार के अनुसमर्थन के लिए सन्देश भेजते हैं। जिन सन्धियों में केवल हस्ताक्षर पर्याप्त माने जाते हैं उन पर यह अनुसमर्थन केवल औपचारिकता होती है किन्तु यह औपचारिकता आजकल सन्धि रचना का एक स्वीकृत अंग बन गई है। यदि कोई राज्य सन्धि का अनुसमर्थन प्रदान न करे तो अन्य राज्य उसे सन्धि की शर्तों से बाध्य नहीं रख सकते। अनुसमर्थनों की शर्तों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों

की सांविधानिक प्रक्रियाएँ अलग अलग है। यह मुख्यत कार्यपालिका का निर्णय होता है और इसके लिए वह व्यवस्थापिका के दोनों सदनों से स्वीकृति प्राप्त करता है। ग्रेट ब्रिटेन का मंत्रिमण्डल किसी सन्धि का अनुसमर्थन करने से पूर्व ससद् की स्वीकृति लेता है और अमेरिकी राष्ट्रपति सीनेट के दो तिहाई बहुमत का समर्थन प्राप्त करता है। अनुसमर्थन सन्धि का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय है—

अनुसमर्थन का औचित्य किसी सन्धि का अनुसमर्थन कई कारणों से उचित माना जाता है। यह सच है कि जब तक किसी सन्धि को देश के सविधान के अनुसार उचित सत्ता द्वारा स्वीकार न किया जाए तब तक उसमें औपचारिक वैधता का अभाव रहता है। सन्धि पर हस्ताक्षर करने और अनुसमर्थन करने के बीच कुछ समय रखा जाता है ताकि उस पर भली प्रकार विचार किया जा सके। इस काल मे ससद् और जनमत की राय भी स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। अनुसमर्थन का औचित्य इसलिए है क्योंकि—(क) एक राज्य को उन लेखों पर पुनर्विचार का अवसर मिलना चाहिए जिनके द्वारा उस पर अनेक दायित्व डाले जा रहे हैं। (ख) सम्प्रभु होने के नाते किसी सधि मे शामिल होने या न होने का अन्तिम निर्णय राज्य द्वारा ही लिया जा सकता है। (ग) कुछ सन्धियाँ राष्ट्रीय कानून मे सशोधन आवश्यक बना देती हैं अत उन पर ससद् की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। (घ) प्रजातन्त्रात्मक सिद्धात के अनुसार सरकार को सधि बद्ध होने से पूर्व ससद् अथवा जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि जनमत किसी सन्धि को ठुकरा देता है तो राज्य द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनुसमर्थन की प्रक्रिया सधिकर्ता देशों पर सकारात्मक उत्तरदायित्व डाल कर उन्हे मर्यादित आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं।

पूर्णत आवश्यक नहीं प्रत्येक सन्धि के लिए अनुसमर्थन जरूरी नहीं होता। यद्यपि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य नियम के अनुसार सन्धियो का नियमित रूप से अनुसमर्थन किया जाना चाहिए तथापि इस नियम के कुछ अपवाद भी है जैसे—(क) यदि सन्धिकर्ता प्रतिनिधि अपने राज्य का उच्चशक्ति प्राप्त अधिकारी है तो वह सन्धि हस्ताक्षर होते ही लागू हो जाती है। (ख) राज्य के अध्यक्षों द्वारा जब ऐसे विषय पर सन्धि की जाए जिस पर कोई सांविधानिक प्रतिबंध नहीं है तो उस पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती। (ग) यदि समझौता करने वाले राज्य सन्धि मे स्पष्टत उल्लेख कर दे कि इसकी क्रियान्विति तुरन्त की जाए तो अनुसमर्थन आवश्यक नहीं होता है। उल्लेखनीय है कि अनुसमर्थन से छूट अधिकार प्राप्त अधिकारियों द्वारा ही उचित मानी जा सकती है।

अनुसमर्थन के लिए समय इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून मौन है। यदि सन्धिकर्ता पक्षों ने कोई समय निर्धारित नहीं किया है तो परस्पर बातचीत द्वारा उपयुक्त समय तय किया जा सकता है। यदि समय बीतने के बाद भी अनुसमर्थन न किया जाए तो सन्धि को अस्वीकार समझा जाता है। अधिकाश सन्धियो मे अनुसमर्थन के लिए अपेक्षित समय स्पष्ट कर दिया जाता है।

अनुसमर्थन की अस्वीकृति किसी सन्धि का अनुसमर्थन करना एक राज्य का आवश्यक दायित्व नहीं है। कुछ लेखक नैतिक आधार पर अनुसमर्थन को आवश्यक बताते

हैं किन्तु कानून विरोधी नैतिक दायित्वों का मूल्य आँकना कठिन है। एक राज्य द्वारा इन कारणों से अनुसमर्थन अस्वीकार कर दिया जाता है प्रतिनिधियों द्वारा उनके अधिकारों का अतिक्रमण प्रतिनिधियों को किसी तथ्य के सम्बन्ध में जानबूझकर धोखे में रखा जाना सन्धि का पालन असम्भव होना और सन्धि की कुछ शर्तों के बारे में प्रतिनिधि की असहमति। व्यवहार में अनुसमर्थन पूर्णत एक राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। ब्रायर्ली के कथनानुसार अपने पूर्णाधिकारियों द्वारा हस्ताक्षर की गई सन्धि का अनुसमर्थन करना राज्य का कानूनी अथवा नैतिक कर्तव्य नहीं है। यह एक अत्यन्त गम्भीर कदम है और इसे हल्केपन से नहीं लेना चाहिए।

अनुसमर्थन का रूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अनुसमर्थन का कोई रूप निर्धारित नहीं किया गया है। वह व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी भी रूप में दिया जा सकता है। जब एक राज्य अनुसमर्थन किए बिना ही किसी सन्धि को क्रियान्वित करने लगता है तो यह अव्यक्त अनुसमर्थन कहा जाता है। व्यक्त अनुसमर्थन के अन्तर्गत सम्बन्धित राज्य के अध्यक्ष और विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर युक्त एक आलेख तैयार किया जाता है। सभी सन्धिकर्ता पक्ष आलेख का परस्पर आदान प्रदान करते हैं। आलेख में कभी कभी सम्पूर्ण सन्धि को अक्षरश लेखबद्ध कर दिया जाता है और कभी केवल शीर्षक भूमिका सन्धि की तारीख और हस्ताक्षरकर्ता प्रतिनिधियों के नाम ही दिए जाते हैं।

अनुसमर्थन आंशिक अथवा सशर्त नहीं होता अनुसमर्थन की प्रकृति के अनुसार यह या तो दिया जाएगा अथवा अस्वीकार किया जाएगा। आंशिक अथवा सशर्त अनुसमर्थन देना अर्थहीन है। यदि राज्य अनुसमर्थन के समय सन्धि का रूप बदलने की चेष्टा करता है तो यह अनुसमर्थन न देने के समान है। यदि दिए गए सुझाव दूसरे पक्षों द्वारा भी स्वीकार कर लिए जाएँ तो वह एक नई सन्धि हो जाएगी अनुसमर्थन नहीं होगा। जब सभी पक्ष एक सन्धि को स्वीकार कर रहे हैं और कोई विशेष राज्य उसे आंशिक स्वीकार कर रहा है तो यह स्थिति समस्याप्रद बन जाती है। ऐसी स्थिति में सन्धि तो अपने पूर्ण रूप में ही स्वीकार होती है किन्तु उस विशेष समस्या का दायित्व सम्बन्धित राज्य पर नहीं होता।

अनुसमर्थन का आदान प्रदान अनुसमर्थन के लेख पर सन्धि के पक्षों द्वारा हस्ताक्षर करना तथा मोहर लगाना ही उसे बाध्यकारी नहीं बना देता वरन् उसे या तो किसी निश्चित स्थान पर जमा करना चाहिए अथवा सम्बन्धित पक्षों के बीच उसका आदान प्रदान किया जाना चाहिए।

अनुसमर्थन का प्रभाव अनुसमर्थन द्वारा ही एक सन्धि मान्य बनती है। यदि एक पक्ष सन्धि को स्वीकार करले और दूसरा पक्ष स्वीकार न करे तो सन्धि समाप्त समझी जाती है। अनुसमर्थन ही सन्धि को बाध्यकारी बनाता है इसलिए अनुसमर्थन के बाद से ही उसे प्रभावशाली माना जाएगा। इस प्रकार से सन्धि के क्रियान्वयन की दृष्टि से अनुसमर्थन का सर्वाधिक महत्त्व है।

5 सहमिलन और अभिलग्नता (Accession and Adhesions) इन दो तरीकों से ऐसे राज्य भी सन्धि में शामिल हो जाते हैं जिन्होंने सन्धि वार्ता में भाग नहीं लिया था। ये दोनों शब्द बहुत कुछ समानार्थक हैं। यदि एक राज्य किसी सन्धि की सभी शर्तों एवं व्यवस्थाओं को स्वीकार करता है तो इसे सहमिलन कहा जाता है किन्तु यदि वह केवल

कुछ शर्तों को ही स्वीकार करता है तो यह अभिलग्नता कही जाती है। प्रो औपनहीम के मतानुसार दोनों का यह अंतर केवल सैद्धांतिक है और राज्यों के पारस्परिक व्यवहार मे इसका समर्थन नहीं मिलता। सर अर्नेस्ट साटो के कथनानुसार आज इन शब्दों के बीच कोई अन्तर नहीं रह गया है।

सन्धि वार्ता में भाग लेने वाले राज्य सहमिलन द्वारा केवल तभी उसमें शामिल हो सकते हैं जब सन्धि में ऐसा प्रावधान हो। कभी कभी सन्धि में यह व्यवस्था की जाती है कि सहमिलन तभी सम्भव हो सकेगा जबकि सभी मौलिक पक्ष उसे आमन्त्रित करें। 4 अप्रैल 1949 ई को की गई नाटो (NATO) सधि की धारा 10 में सयुक्तराज्य अमेरिका को इसमें शामिल होने के लिए आमंत्रित किया गया था। कभी कभी सहमिलन बिना किसी निमन्त्रण अथवा बिना अन्य राज्य की सर्वसम्मत स्वीकृति के भी हो जाता है। उदाहरण के लिए सयुक्त राष्ट्रसघ की धारा 4 में उल्लेख है कि "सयुक्त राष्ट्रसघ में सदस्यता उन सभी शान्तिप्रिय राज्यों के लिए खुली हुई है जो वर्तमान चार्टर के दायित्वों को स्वीकार करते हैं और इन दायित्वों को पूरा करने के लिए इच्छुक तथा योग्य हैं।"

जब एक राज्य सहमिलन द्वारा किसी सन्धि में शामिल होता है तो उसे वे सभी कर्त्तव्य तथा अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो मौलिक सदस्यों को प्राप्त हैं। सहमिलन किसी भी समय सभव है यह माना जाता है कि सधि के प्रभावशील होने के बाद सहमिलन हो सकता है किन्तु आज ऐसा कोई नियम नहीं है। अनेक बहुपक्षीय अभिसमय सहमिलन की व्यवस्था होने के कारण ही सार्थक बन पाते हैं।

6 *सन्धि का लागू होना (Coming into Force)* - सन्धि स्वीकृति से सम्बन्धित सभी औपचारिकताएँ पूरी होने के बाद वह उसी दिन से लागू हो जाती है जिस दिन उस पर हस्ताक्षर किए जाते हैं। ऐसा प्राय उस स्थिति में होता है जब अनुसमर्थन करना आवश्यक न हो और अनुसमर्थनों का आदान प्रदान न किया गया हो। कोई-कोई सन्धि किसी घटना के घटित होने पर लागू होती है। ऐसी भी व्यवस्था की जा सकती है कि एक राज्य में सन्धि को तब लागू किया जाए जब वहाँ आवश्यक व्यवस्थापन हो जाए। सन्धि लागू होने की आवश्यक शर्तों का सन्धि में उल्लेख कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए लोकार्नो सन्धि (1925) में यह शर्त थी कि राष्ट्रसघ में जर्मनी के प्रवेश पाने पर ही इस सन्धि को लागू किया जाए।

7. पजीकरण और प्रकाशन (Registration and Publication) सधि के पजीकरण एव प्रकाशन की आवश्यकता गुप्त सन्धियों तथा विरोधी दृष्टिकोणों के कारण अनुभव की गई। राष्ट्रसघ के घोषणा पत्र की धारा 19 में यह कहा गया था कि "सघ के सदस्य-राज्यों द्वारा इसके बाद की गई प्रत्येक सधि को अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय में पजीकृत किया जाएगा और इसके द्वारा यथासभव शीघ्र ही प्रकाशित किया जाएगा। इस प्रकार पजीकृत किए बिना कोई भी सधि बाध्यकारी नहीं होगी।" इस धारा के अन्तर्गत 1944 तक 4822 सधियाँ एव अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पजीकृत किए गए। ये प्राय वे सन्धियाँ थीं जो सघ के सदस्यों द्वारा सघ के दूसरे सदस्यों या गैर सदस्यों के साथ की गई थीं। इनका प्रकाशन राष्ट्रसघ की सधि श्रृखला के अन्तर्गत किया गया जो 1920 से प्रारम्भ हुई थी। सयुक्त राष्ट्रसघ ने इस विषय में राष्ट्रसघ का अनुगमन किया है। इसके अनुसार सभी सन्धियों एव समझौतों

का सचिवालय में पंजीकृत कराना एवं उन्हें प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया है। जिन सन्धियों को पंजीकृत नहीं किया गया उन्हें कोई भी पक्ष संघ में दुहरा सकता है। अब के युग में गुप्त सन्धियों का प्रचलन नहीं है। इन्हें निरुत्साहित करने के लिए उपर्युक्त प्रावधान बनाया गया है। अपंजीकृत सन्धियों को संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग के सम्मुख प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

8. क्रियान्विति (Application) - सन्धि के निर्माण चरणों में अन्तिम चरण उसकी क्रियान्विति है। इसके लिए सम्बन्धित राज्य अपने राज्यों के कानूनों में सन्धि के अनुरूप परिवर्तन किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि सम्बन्धित राज्यों पर जो दायित्व डालती है उन्हें राष्ट्रीय कानून के बल पर ही पूरा किया जाता है।

9. सन्धि का रूप - रूप की दृष्टि से सन्धि के मुख्य भाग-प्रस्तावना, सन्धि की मुख्य धाराएँ, सन्धि की अन्तिम धाराएँ और सन्धि पर पूर्णाधिकारियों के हस्ताक्षर सम्मिलित होते हैं।

सन्धियों की समाप्ति (Termination of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ अनेक प्रकार से समाप्त हो जाती हैं। विद्वानों द्वारा सन्धियों की समाप्ति या समापन होने के तरीकों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है, प्रथम, वे तरीके जो पक्षकार राज्य के कार्य से सम्बन्धित हैं तथा द्वितीय वे तरीके जिनमें कानूनी प्रक्रिया अपनाई जाती है। दोनों प्रकार से समाप्त होने वाली सन्धियों के कारणों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1. समय की समाप्ति (Expiration of time) : एक सन्धि जितने समय के लिए की जाती है उसके पूरा होने पर वह समाप्त हो जाती है। कुछ सन्धियों में यह प्रावधान रहता है कि अमुक घटना के घटने पर यह समाप्त होगी। जब वह घटना घटती है तो सन्धि समाप्त हो जाती है।

2. लक्ष्य पूरा होने पर (Fulfilment of the Object) : कुछ सन्धियाँ एक निर्दिष्ट समय तक ही दायित्व डालती हैं। जब उनके द्वारा डाले गए दायित्व नहीं रहते तो सन्धियाँ समाप्त हो जाती हैं। यह सन्धि का लक्ष्य पूरा होने की स्थिति है। अल्पकालीन योजनाओं के लिए की गई सन्धियों पर ही यह व्यवस्था लागू होती है।

3. पारस्परिक स्वीकृति द्वारा (By Mutual Consent) : कार्यपालिका प्रकृति की सन्धि पारस्परिक स्वीकृति द्वारा समाप्त हो जाती है। इसके लिए स्पष्ट रूप से घोषणा भी की जा सकती है। सन्धि की समाप्ति उस समय भी हो जाती है जब सन्धि के पक्ष उसी विषय के लिए कोई नई सन्धि कर लेते हैं। सन्धि उस समय भी समाप्त हो जाती है जब कोई एक पक्ष सन्धि के अन्तर्गत अपने अधिकारों का त्याग कर देता है।

4. उत्सादन की घोषणा (Denunciation) : सन्धि के पक्षों को यह अधिकार है कि वे उत्सादन की घोषणा करके सन्धि के अपने दायित्वों को समाप्त कर दें। इस घोषणा के अन्तर्गत एक राज्य सन्धि के दूसरे पक्षों को यह सूचना देता है कि वह सन्धि से पृथक् होना चाहता है। साधारणतः सन्धि में इसके लिए प्रावधान होता है। उल्लेखनीय है कि केवल अस्थायी प्रकृति की सन्धियों को ही इस प्रकार छोड़ा जा सकता है। व्यापारिक तथा वाणिज्यिक सन्धियाँ इस प्रकार की होती हैं। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों में प्रायः

अवसायन की घोषणा से सम्बन्धित धारा होती है। कुछ समय के बाद कोई भी राज्य उसे त्याग सकता है। इसके लिए प्राय एक वर्ष की सीमा रखी जाती है। जब किसी सन्धि के अवसायन की घोषणा एक के बाद एक पक्ष करता चला जाता है और उसका पालन करने वाले राज्यों की संख्या निरन्तर घटती जाती है तो सन्धि प्रभावहीन बनकर स्वत समाप्त हो जाती है।

5 आवश्यक शर्तों का अभाव (Lack of Certain Essential Conditions) कुछ सन्धियों मे पक्षों को यह अधिकार दिया जाता है कि मूलभूत परिस्थितियाँ न रहने पर वे अवसायन की घोषणा कर दें। यदि उन शर्तों का अनुपालन न हो तो सन्धि समाप्त हो जाएगी।

6 राज्य की समाप्ति (Dissolution of State) यदि द्वि पक्षीय सन्धि करने वाले पक्षों मे से कोई भी एक पक्ष समाप्त हो जाए या हार जाए अथवा दूसरे राज्यों में विलीन हो जाए तो यह सन्धि समाप्त हो जाएगी। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने 1805 मे ट्रिपोली के साथ सन्धि की। 1911 में इटली ने ट्रिपोली का अपने राज्य मे विलय कर लिया। फलत यह सन्धि समाप्त हो गई।

7 सन्धि की परिस्थितियों में परिवर्तन (Rebus Sic Stantibus) इस सिद्धात के अनुसार जब सन्धि करते समय की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो सन्धि समाप्त हो जाती है। प्रत्येक सन्धि में यह एक निहित शर्त रहती है कि वह यथावत् परिस्थितियाँ रहने तक ही लागू रहेगी। यदि किसी कारणवश परिस्थितियाँ गम्भीर रूप से बदल जाएँ तो सन्धि प्रभावहीन बन जाएगी। कोई भी राज्य इस आधार पर सन्धियों के दायित्वों से छुटकारा पा सकता है। परिस्थितियों मे इतना गभीर परिवर्तन प्राय कम ही होता है।

8 उत्तरकालीन निरर्थकता (Subsequent Violence) एक सन्धि उचित होते हुए भी कुछ परिस्थितियों में कालान्तर में अनुचित बन सकती है। ये परिस्थितियाँ हैं—(A) जब एक राज्य का अन्य राज्य में विलय हो जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सन्धि के दायित्व उत्तराधिकारी राज्य पर नहीं आते। सन्धि अपना कानूनी प्रभाव खो देती है। (B) जब सन्धि के दायित्वों को सम्पन्न करना असम्भव बन जाए तो सन्धि अवैध मानी जाती है। यदि यह असम्भवता अस्थायी है तो सन्धि कायम रहेगी। (C) जब सन्धि का उद्देश्य उसे पूरा किए बिना ही प्राप्त किया जा सकता हो तो सन्धि अवैध बन जाती है। (D) यदि सन्धि का उद्देश्य (Object) ही समाप्त हो जाता है तो सन्धि अवैध बन जाती है। उदाहरण के लिए यदि सन्धि किसी द्वीप के बारे में की गई है और वह द्वीप लुप्त हो जाता है तो सन्धि भी अपना प्रभाव खो देगी।

9 रद्द हो जाना (Cancellation) कोई भी सन्धि कुछ विशेष परिस्थितियों में रद्द की जा सकती है। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रगतिशील है अत यह सभव है कि एक सन्धि जब की गई थी तब वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप थी किन्तु कुछ समय बाद असगत बन जाए। स्थिति की यह असगति संधि को रद्द करने का आधार बन सकती है। (ii) जब सन्धि का एक पक्ष उसका उल्लघन करे तो दूसरे पक्ष की इच्छा होती है कि वह उसको रद्द कर दे। यह इच्छा उपयुक्त समय मे प्रयुक्त की जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो यह अधिकार छिन सकता है। ग्रोसियस का मत था कि सन्धि का उल्लघन चाहे कितना ही अल्प हो वह दूसरे हस्ताक्षर कर्त्ताओं को यह अधिकार

देता है कि वे सम्पूर्ण सन्धि का बहिष्कार कर दें। (iii) यदि सन्धि में शामिल किसी एक राज्य के स्तर में अन्तर आ जाता है तो वह सन्धि रद्द हो जाएगी। यदि राज्य अपनी प्रभुसत्ता खो दे और आश्रित राज्य बन जाए तो उससे सम्बन्धित सन्धि समाप्त हो जाएगी। (iv) दो देशों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर उनकी सन्धियाँ बहुत कुछ समाप्त हो जाती हैं।

घोषणाएँ
(Declarations)

ओपेनहीम के कथनानुसार 'घोषणा' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों के लिए किया जाता है। इसका प्रथम अर्थ बाध्यकारी प्रकृति का सूचक है और इसे दूसरे बाध्यकारी समझौतों से पृथक् करना कठिन है। उदाहरण के लिए 1856 की पेरिस की नाकाबन्दी एवं निषेध से सम्बन्धित घोषणा उतना ही बाध्यकारी समझौता है जितना एक सन्धि या अभिसमय [illegible] का कोई भी समझौता हो सकता है। दोनों के मध्य अन्तर की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ सन्धि या अभिसमय द्वारा विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की रचना की जाती है वहाँ घोषणा द्वारा केवल ऐसे नियमों को मान्यता प्रदान की जाती है।

ओपेनहीम के अनुसार 'घोषणा' का दूसरा अर्थ एकपक्षीय घोषणाओं से है जो दूसरे राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों को स्पष्ट करती है। ऐसी घोषणाओं में युद्ध की घोषणा, युद्धरत राज्यों द्वारा निषिद्ध वस्तुओं की घोषणा, तृतीय राज्यों द्वारा तटस्थ राष्ट्र बने रहने की घोषणा, इत्यादि को शामिल किया जा सकता है। इसका तीसरा अर्थ ऐसी घोषणाओं से लिया जाता है जिनमें कोई राज्य अपने अतीत के व्यवहार का स्पष्टीकरण एवं औचित्य दूसरे राज्यों के सम्मुख प्रकट करता है अथवा कुछ विषयों पर अपने दृष्टिकोण या अभिप्रायों को स्पष्ट करता है। इनमें से दूसरे और तीसरे प्रकार की घोषणाएँ सन्धियों के समकक्ष नहीं मानी जा सकतीं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की घोषणाएँ कभी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समझौते मानी जाती थीं और उनके साथ कोई सन्धि या अभिसमय को भी जोड़ दिया जाता था अथवा घोषणाओं को किसी सन्धि या अभिसमय का भाग बना दिया जाता था। 24 जुलाई, 1923 को टर्की के साथ की गई लोसाने की सन्धि के साथ चार घोषणाएँ की गई जिनका सम्बन्ध यूनान में मुस्लिम सम्पत्ति, न्याय-प्रशासन और सफाई आदि से था। 16 जुलाई, 1926 को ग्रेट ब्रिटेन और यूनान के बीच वाणिज्य और नौचालन की सन्धि के साथ भी एक घोषणा संयुक्त की गई। अम्बैटीलोस (Ambatielos) विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की यह मान्यता थी कि यह घोषणा से सम्बन्धित सन्धि का ही भाग है और इसलिए इसके सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद न्यायालय के क्षेत्राधिकार में है।

घोषणा शब्द का प्रयोग कभी-कभी राज्यों द्वारा किए गए छोटे-मोटे समझौतों के लिए भी किया जाता है। पूर्व स्थित अभिसमय का स्पष्टीकरण, प्रमाण-पत्रों की क्रियान्विति तथा मत्स्य-पालन का नियमन करने के लिए ऐसी घोषणाएँ की जाती हैं। इनका अनुसमर्थन अनिवार्य नहीं होता है। सन् 1925 की आंग्ल-यूनानी घोषणा का अनुसमर्थन नहीं किया गया था क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन की धा. 7 के अनुसार घोषणा पर अनुसमर्थन अनिवार्य नहीं है और अनुसमर्थन न होने पर भी यह बाध्यकारी है।

समझौता
(Agreement)

जिस प्रकार 'घोषणा' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है उसी प्रकार 'समझौता' शब्द भी विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। सामान्य अर्थ में यह दो दिलों के मिलने का प्रतीक माना जाता है। इस सन्दर्भ में दो या दो से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों (राज्यों) का मिलन 'समझौता' होता है। समझौते बाध्यकारी और अबाध्यकारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। मर्यादित अर्थ में 'समझौता' शब्द सम्बन्धित पक्षों को कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य सौंपता है और बाध्यकारी प्रकृति का होता है किन्तु सन्धि की अपेक्षा प्रायः कम औपचारिक होता है। सन्धियों की भांति समझौता भी राज्य के अध्यक्षों, राज्यों अथवा सरकारों के बीच किया जा सकता है। राज्य के अध्यक्षों के बीच होने वाले समझौते का उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन और यूरोपीय सुरक्षा समुदाय के बीच 13 अप्रैल, 1954 के समझौते को माना जा सकता है। इनका अनुसमर्थन नहीं किया गया था। 19 जून, 1951 को उत्तरी अटलांटिक सन्धि के देशों की सेनाओं के स्तर सम्बन्धी समझौता राज्यों के बीच होने वाला समझौता था जबकि 30 जून, 1951 को किया गया आंग्ल फ्रांसीसी समझौता सरकारों के बीच किए गए समझौते का उदाहरण था। अपनी सामान्य एवं व्यापक प्रकृति के कारण 'समझौता' शब्द राज्यों के मध्य स्थित बाध्यकारी प्रकृति की सहमति को अभिव्यक्त करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके विशेष अभिकरणों के बीच तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके सदस्यों के बीच भी इस प्रकार की सहमति हो जाती है। 14 दिसम्बर, 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं यूनेस्को के बीच ऐसा ही समझौता हुआ था। 15 दिसम्बर, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं यूनेस्को के बीच तथा 21 नवम्बर, 1947 को संयुक्तराज्य अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ के बीच समझौता हुआ।

समझौते को कभी-कभी 'प्रबन्ध' शब्द से भी सम्बोधित किया जा सकता है। यह समझौते का ही फ्रांसीसी रूपान्तर है। कुछ विचारकों के मतानुसार प्रबन्ध की अपेक्षा समझौता अधिक निश्चित है किन्तु सर अर्नेस्ट सातो के मतानुसार यह विचार सही नहीं है। समझौते के लिए कुछ अन्य शब्द भी प्रयुक्त किए जाते हैं। कभी-कभी समझौते दो राज्यों के सरकारी विभागों के बीच भी सम्पन्न होते हैं। ये अन्तर्विभागीय समझौते अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन भी बाध्यकारी होंगे अथवा केवल निजी कानून के समझौते मात्र रहेंगे, यह बात परिस्थितियों पर निर्भर करती है। कुछ राज्यों का संविधान सरकारी विभागों को अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करने की शक्ति देता है किन्तु प्रायः ये समझौते किसी सन्धि या अभिसमय का भाग होने पर ही बाध्यकारी होते हैं। उदाहरण के लिए 24 सितम्बर, 1856 के आंग्ल फ्रांसीसी डाक अभिसमय में यह व्यवस्था थी कि दोनों सम्बन्धित राज्यों के डाक कार्यालय ही आपसी सहमति से यह तय करेंगे कि पत्रों एवं मुद्रित कागजों का आदान-प्रदान किस प्रकार होगा। फलतः दोनों राज्यों के पोस्टमास्टर जनरल एवं डाइरेक्टर जनरल ने उसी वर्ष अन्तर्विभागीय सन्धि की। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्विभागीय समझौतों की तुलना राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रत्यायोजित व्यवस्थापन से की जा सकती है। समझौतों को जब व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिल जाती है तो वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंग बन जाते हैं।

विदेशाधिकरण
(Protocol)

विदेशाधिकरण के अंग्रेजी रूपान्तर 'प्रोटोकोल' को लैटिन तथा यूनानी भाषाओं से लिया गया है। इसका मूल अर्थ एक ऐसा रजिस्टर है जिसमें सरकारी अभिलेखों को रखा गया हो। राजनयिक दृष्टि से यह उस रजिस्टर का प्रतीक है जिसमें किसी सम्मेलन की कार्यवाही का विवरण रखा गया है। यह शब्द विदेश मन्त्री के सरकारी पत्र-व्यवहार में अपनाए जाने वाले तरीके, राजनयिक अभिलेखों, जैसे—सन्धियों, अभिसमयों, घोषणाओं, अनुसमर्थनों, प्रत्यय-पत्रों आदि का प्रारूप निर्देशन करता है। फ्रांस में यह एक उपविभाग के रूप में है जिसका कार्य सम्बन्धित कागजों को तैयार करना है। ग्रेट ब्रिटेन में यह कार्य विदेशाधिकरण और सन्धि एवं राष्ट्रीयता विभागों द्वारा मिलकर सम्पन्न किया जाता है।

समझौते की दृष्टि से 'विदेशाधिकरण' शब्द प्रायः ऐसे समझौतों का द्योतक है जो सन्धि या अभिसमय की अपेक्षा कम औपचारिक होते हैं। वर्तमान व्यवहार के अनुसार अधिक महत्व वाले अन्तर्राष्ट्रीय समझौते इसी श्रेणी में सम्मिलित होते हैं, उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना करने वाला 16 दिसम्बर 1920 का विदेशाधिकरण अथवा 2 अगस्त 1943 के बर्लिन-सम्मेलन की कार्यवाहियों का विदेशाधिकरण, आदि। अनेक बार यह उचित माना जाता है कि एक बहुपक्षीय सन्धि या अभिसमय सम्पादित होने के बाद मत, घोषणाएँ और समझौते भी मूल आलेख के साथ ही जोड़ दिए जाएँ तथा उन्हें अन्तिम विदेशाधिकरण में अभिलेखित कर दिया जाए और उसे समझौते का भाग बना लिया जाए।

विदेशाधिकरणों द्वारा बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में संशोधन किया जाता है अथवा उनका समय बढ़ाया जाता है। राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र विभिन्न विदेशाधिकरणों द्वारा संशोधित किया गया। इसी प्रकार द्वि-पक्षीय सन्धियों के मध्य भी सन्धि की सहायता, संशोधन या शर्तें स्पष्ट करने के लिए विदेशाधिकरण संलग्न किया जाता है। 16 जनवरी, 1953 को सामाजिक बीमा पर आंग्ल-स्विस अभिसमय के साथ विदेशाधिकरण संलग्न किया गया। गौण विषयों से सम्बन्धित विदेशाधिकरण भी प्रायः सन्धियों के साथ संलग्न किए जाते हैं। 24 जुलाई, 1923 को टर्की के साथ की गई लोसाने की शान्ति-सन्धि के साथ विभिन्न विषयों पर 6 विदेशाधिकरण संलग्न किए गए थे।

दो या अधिक सरकारों के बीच किसी विशेष विषय पर सहमति भी कभी-कभी विदेशाधिकरण कहे जाते हैं। इस दृष्टि से युद्धविराम के लिए, पूर्व स्थित सन्धि के प्रावधानों की व्याख्या के लिए, एक सीमा को सीमाबद्ध करने के लिए, सीमा-आयोग के कार्य का अभिलेख रखने के लिए, राजनयिक सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने के लिए, एक सन्धि को जारी रखने के लिए तथा विदेशी सशस्त्र सेनाओं पर फौजदारी क्षेत्राधिकार के प्रयोग को निश्चित करने के लिए विदेशाधिकरणों का प्रयोग किया जाता है।

सम्पत्रों का विनिमय
(Exchange of Notes)

समझौता करते समय विदेश मन्त्री औपचारिक रूप से आपस में सम्पत्रों का विनिमय करते हैं। ये अपनी सरकारों की ओर से पत्र-व्यवहार करते हैं। अपने राजनयज्ञों को

भी इस प्रकार का अधिकार होता है। दो राज्यों के बीच की गई अधिकांश सन्धियों में इसी प्रक्रिया को अपनाया जाता है। सम्पत्रों का विनिमय करने के लिए पूर्ण शक्तियाँ होना अनिवार्य नहीं है और न ही सम्पत्रों के विनिमय हमेशा अनुसमर्थन का विषय होते हैं। कभी कभी अनुसमर्थन अनिवार्य मान लिया जाता है जैसे 15 जनवरी 1923 को जर्मनी और स्पेन के बीच किए गए सम्पत्रों के विनिमय पर दोनों पक्षों का अनुसमर्थन जरूरी था।

सम्पत्रों का विनिमय साधारणत विषय वस्तु पर मौलिक विचार विमर्श के बाद किया जाता है किन्तु कभी कभी यह ऐसे पत्र व्यवहार का परिणाम होता है जिसमें प्रस्ताव पर पहले से ही विचार कर लिया गया हो। सामान्यत सम्पत्रों का विनिमय उसी दिन किया जाता है जिस दिन से समझौते को लागू किया जाना है। सम्पत्रों के विनिमय के रूप में किए गए समझौते विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होते हैं जैसे—वाणिज्य और भुगतान समझौतों में संशोधन या निरन्तरता पंच निर्णय या अन्य अभिसमयों का नवीनीकरण दोहरे करारोपण से छूट ट्रेड मार्क की मान्यता इत्यादि। उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्रों के विनिमय अपेक्षाकृत कम महत्व के विषयों से सम्बन्धित नहीं होते। इनके द्वारा अनेक प्रमुख प्रश्नों का नियमन किया जाता है। सम्पत्रों के विनिमय के कुछ उदाहरण ये है (1) अप्रैल 1951 में सरकारी प्रकाशनों के विनिमय से सम्बन्धित फ्रांसीसी गणराज्य और ग्रेट ब्रिटेन की सरकारों के बीच सम्पत्रों का विनिमय किया गया। (2) 13 अप्रैल 1951 को दक्षिण रोडेशिया की सरकार की ओर से ग्रेट ब्रिटेन और इटली की सरकार के बीच सम्पत्रों का विनिमय हुआ। (3) 13 मई 1951 को ग्रेट ब्रिटेन और इजरायल की सरकारों के बीच सम्पत्रों का विनिमय हुआ।

अविप्रतिपत्ति सन्धि
(Concordate)

अविप्रतिपत्ति सन्धि राजा और पोप के बीच होने वाले समझौते को कहा जाता है। इसका उद्देश्य सम्बन्धित राज्य में रोमन कैथोलिक धर्म के हितों की रक्षा करना है। इन सन्धियों की न्यायिक प्रकृति विवादपूर्ण है। फौचिले (Fauchille) के मतानुसार अविप्रतिपत्ति सन्धि का रूप दूसरी सन्धियों से समता रखता है किन्तु उद्देश्य में उनसे भिन्न है।

अतिरिक्त धाराएँ
(Additional Articles)

अतिरिक्त धाराएँ वे धाराएँ हैं जिन्हें किसी कम महत्व के विषय के सम्बन्ध में या एक प्रावधान की शर्त के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के साथ संलग्न किया जाता है। इन पर मूल सन्धि के साथ हस्ताक्षर किए जाते हैं। 9 जनवरी 1922 को संयुक्तराज्य अमेरिका और वेनेजुएला के बीच विनिर्दिष्ट सन्धि के साथ अतिरिक्त धारा जोड़ी गई जो इस प्रकार थी— "यह स्वीकार किया जाता है कि इस सन्धि की व्याख्या अथवा क्रियान्विति के सम्बन्ध मे समझौता करने वाले पक्षों के बीच उत्पन्न सभी अन्तरों का निर्णय पंच फैसले द्वारा किया जाएगा।

कभी कभी अतिरिक्त धारा को परिशिष्ट के रूप में रखा जाता है किन्तु ऐसा कम किया जाता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अधिकांश परिशिष्टों को समझौते का भाग

ही माना जाता है इसलिए इसे संलग्न किया जाता है। अतिरिक्त धाराएँ कभी कभी संधि के बाद भी तय की जाती हैं और कभी सरकारों के समझौतों को भी अतिरिक्त धारा कह दिया जाता है। ऐसी स्थिति में इन पर अनुसमर्थन ऐच्छिक है। कभी कभी अतिरिक्त धाराओं को मात्र इन संशोधनों की प्रकृति अनुपूरक अभिसमयों, समझौतों या विशेषाधिकारों के माध्यम से दी जाती है। जब कभी एक बार या मौलिक समझौतों में परिवर्तन किया जाता है तो उनके लिए प्रायः अतिरिक्त धारा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अन्तिम अधिनियम
(Final Act)

अन्तिम अधिनियम प्रायः किसी कांग्रेस या सम्मेलन का औपचारिक सारांश या सार होता है। इसमें उन संधियों या अभिसमयों का क्रमबद्ध विवरणों के साथ उल्लेख होता है जो कांग्रेस या सम्मेलन द्वारा की जाती हैं। इस प्रकार के अधिनियम पर हस्ताक्षर करने का अर्थ यह नहीं होता कि इसमें उल्लिखित संधियों को स्वीकार कर लिया है। इसके लिए अलग से हस्ताक्षर करने होते हैं। सन् 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन में इस बात पर विचार किया गया था कि कार्यवाही के अन्तिम परिणामों का उल्लेख करने वाले प्रपत्रों को क्या कहा जाए। उस समय इसे अन्तिम अधिनियम कहना उचित समझा गया था।

अन्तिम अधिनियम को एक अधिनियम या संधि के लिए आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की प्रक्रियाओं का अभिलेख कहा जा सकता है। इसमें सम्मेलन का उद्देश्य, इसकी रचना और वाद विवाद के मिनटों का अभिलेख रहता है। सम्मेलन में प्रस्तुत प्रस्तावों, विभिन्न सिफारिशों और घोषणाओं का उल्लेख किया जाता है। इस पर भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होते हैं किन्तु उनके अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

सामान्य अधिनियम
(General Act)

सामान्य अधिनियम को एक संधि या अभिसमय से मूलतः अलग नहीं किया जा सकता। सन् 1885 का बर्लिन सम्मेलन के सामान्य अधिनियम में विभिन्न घोषणाओं को एक ही परिपत्र में शामिल कर दिया गया था और इसलिए इसे सामान्य अधिनियम कहा गया था। इसी प्रकार 1815 ई. की वियना कांग्रेस के अन्तिम अधिनियम के परिपत्र में यह घोषणा की गई थी कि संलग्न संधियाँ और अभिसमय यदि शब्दशः शामिल किए गए तो समान रूप से प्रभावी होंगे। फलतः अन्तिम अधिनियम सामान्य अधिनियम बन गया।

प्रामाणिक विवरण
(Process Vebal)

इस पद का प्रयोग कार्यवाहियों के औपचारिक अभिलेख के लिए किया जाता है। विनिमय तथा अनुसमर्थन और प्रामाणिक सन्धियों के अभिलेखों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। किसी कांग्रेस या सम्मेलन में पूर्ण शक्तिधारियों के अधिवेशन का वृत्तान्त प्रामाणिक विवरण के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जब कभी किसी संधि या अभिसमय पर अनेक राज्य हस्ताक्षर करते हैं या अनुसमर्थन देते हैं तो उन कार्यवाहियों का औपचारिक

अभिलेख तैयार किया जाता है। प्रामाणिक विवरण और विदेशाधिकरण में बहुत कम अन्तर होता है। सन् 1892 में इटली तथा स्विट्जरलैण्ड के बीच ज्यूरिक में हुए व्यापारिक समझौते को प्रामाणिक विवरण का उदाहरण माना जा सकता है। इसके लिए सामान्यत अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

अस्थायी प्रणाली
(Modus Vivendi)

अस्थायी तथा प्राविधिक समझौतों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। ये समझौते कुछ समय बाद अधिक स्थायी एव विस्तृत समझौतों में परिवर्तित हो जाते हैं। इनमें कभी कभी ऐसे समझौते भी शामिल होते हैं जिन पर दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर किए हों अथवा जिन्हें अभिसमय कहा जा सके किन्तु प्राय सम्पत्रों के विनिमय ही इनकी श्रेणी में आते हैं। अस्थायी प्रणाली पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती है।

16 अप्रैल 1930 को ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत सघ के बीच ऐसा ही अस्थायी समझौता हुआ था।

विशेष समझौते
(Special Agreement)

ये ऐसे समझौते होते हैं जिनमें विवादपूर्ण विषयों को न्यायिक समझौते या पच फैसले के लिए सौंपने की व्यवस्था होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि की धारा 40 (1) के अनुसार न्यायालय के सम्मुख ऐसे मामले प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके सबध में विशेष समझौते के अन्तर्गत विवादपूर्ण विषयों को न्यायालय के सम्मुख रखने की व्यवस्था की गई है। ऐसे विशेष समझौतों में यह भी उल्लेख कर दिया जाता है कि न्यायाधिकरण की नियुक्ति किस प्रकार की जाएगी उसे कौन कौन सी शक्तियाँ दी जाएँगी उसका स्थान कहाँ होगा उसमें कौनसी भाषा का प्रयोग होगा आदि। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की सिफारिश (1953) के अनुसार पूर्व समझौते के अभाव में सम्बन्धित पक्षों को पच निर्णय से युक्त विशेष समझौता करते समय यह उल्लेख करना चाहिए कि विवाद के विषय न्यायाधिकरण की रचना के तरीके पचों की सख्या न्यायिकरण का स्थान आदि क्या होगे। इस समझौते में न्यायाधिकरण पर लागू होने वाले कानून उसकी शक्तियाँ प्रक्रिया गणपूर्ति फैसले की शर्त आदि बातों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

11

राजनयिक सम्पर्क की भाषा एवं अभिलेखों का रूप

(Language of Diplomatic Intercourse and Forms of Documents)

कभी राजनयिक कुशलता में प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों एवं वाक्यांशों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। राजनय की भाषा का एक विशेष रूप होता है। हैरोल्ड निकल्सन (Harold Nicolson) के अनुसार राजनयिक भाषा के तीन अर्थ होते हैं—(क) वह भाषा जिसका प्रयोग राजनयज्ञ अपने पारस्परिक पत्र व्यवहार में करते हैं। यह भाषा लैटिन, फ्रेंच अथवा अंग्रेजी में से कोई भी हो सकती है, (ख) वे शब्द अथवा वाक्यांश जो राजनयज्ञों के विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते आ रहे हैं तथा जिनका एक विशेष अर्थ होता है और अब राजनयिक शब्दावली का अभिन्न अंग बन गए हैं, (ग) नम्रता या मधुर कथन अर्थात् विनम्रता का दृष्टिकोण। इसके कारण से राजनयज्ञ आपस में बहुत कुछ कह-सुन लेते हैं, फिर भी क्रोध, स्पष्ट विरोध एवं अनुचित शब्दों का प्रयोग नहीं हो पाता। इनके द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो उन संकटों को बहुत कोमल और शिष्ट बना देता है किन्तु जिनका राजनयिक सम्बन्ध की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर अर्थ निकलता है।[1]

राजनयिक व्यवहार में भाषा का इतना महत्व है कि कुछ विद्वानों ने राजनय की परिभाषा भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए की है। सर अर्नेस्ट सैटो के अनुसार, "राजनय स्वतन्त्र राज्यों के बीच अधिकारी-सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चतुराई का प्रयोग है।" सामान्य व्यवहार में राजनयिक भाषा (Diplomatic Language) का अर्थ अस्पष्ट भाषा या अनजान भाषा अथवा सम्पूर्ण भाषा ले लिया जाता है, किन्तु वास्तव में यह अर्थ कूटनीतिक भाषा का द्योतक मात्र है राजनयिक भाषा का नहीं।

राजनयिक भाषा : अंग्रेजी, लैटिन, फ्रेंच
(Diplomatic Language : English, Latin, French)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अधोलिखित तीन भाषाओं का विशेष रूप से प्रयोग होता रहा है—

1 "It is used to describe that guarded understatement which enables diplomatists and ministers to say sharp things to each other without becoming provocative or impolite."
—Harold Nicolson

लेटिन भाषा : यूरोपीय राजनय के प्रारम्भ से ही समस्त राजनयिक क्रियाओं में मुख्यत लेटिन भाषा का प्रयोग किया जाता था। यह न केवल मौलिक विचार-विमर्श के लिए वरन् लिखित सम्पर्क के लिए भी प्रयोग में लाई जाती थी। वार्तालाप और लिखित सम्पर्कों के प्रथम स्थान लेटिन भाषा का और द्वितीय स्थान फ्रेंच भाषा का था। 17वीं शताब्दी तक समझौते सन्धियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क मुख्यतः लेटिन भाषा के माध्यम से होते थे। उदाहरण के लिए तीस वर्ष के युद्ध की समाप्ति पर सम्पन्न की गई वेस्टफेलिया की सन्धि (1648) का प्रारूप और हस्ताक्षर लेटिन भाषा में ही हुए। इसी प्रकार 1674 की आँग्ल-डच सन्धि एवं 1670 की आँग्ल-डेनिस सन्धि भी लेटिन भाषा में की गई थी। राजनयिक सम्पर्क में लेटिन भाषा का एकाधिकार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक रहा।

फ्रेंच भाषा : उल्लेखनीय है कि 17वीं और 18वीं शताब्दी में ही फ्रेंच भाषा क्रमश लेटिन की समता प्राप्त करती जा रही थी। उदाहरण के लिए 1677-78 की सन्धि फ्रेंच भाषा में की गई। रूस के पीटर महान् ने सभी राजनयिक सम्पर्कों के माध्यम के रूप में फ्रेंच भाषा को अपनाया। 18वीं शताब्दी के मध्य तक राजनयिक सम्पर्क में फ्रेंच भाषा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। इसके दो कारण थे—(i) फ्रेंच भाषा का शब्दकोष सम्पन्न था और (ii) यह भाषा सभी यूरोपीय देशों में पढ़ने लिखने में लोकप्रिय थी। एक्सलाशेपेल की काँग्रेस में फ्रेंच भाषा को मान्यता प्राप्त हुई। इस समय तक फ्रेंच भाषा इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि प्रत्येक यूरोपीय राज्य के नागरिक अपनी मातृ भाषा के साथ फ्रेंच भाषा के दो-चार शब्दों का टूटा-फूटा प्रयोग करना प्रशसनीय समझते थे। सम्भ्रान्त और कुलीन व्यक्तियों के लिए फ्रेंच भाषा का पर्याप्त ज्ञान अनिवार्य समझा जाता था।

अंग्रेजी भाषा : ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एवं ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव तथा व्यापार में वृद्धि होने पर अंग्रेजी भाषा का भी भाग्योदय होने लगा। ग्रेट ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रभाव भी बढ़ाया। इस कार्य में वह काफी सफल हुआ। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा का राजनयिक सम्पर्क के माध्यम के रूप में प्रभाव 19वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी मुख्यत आँग्ल-स्कॉटलैण्ड सम्बन्धों में प्रयुक्त होती थी। सन् 1800 में लॉर्ड ग्रीन विले ने विदेशी दूतों से मिलने तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए फ्रेंच भाषा के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को अपनाया। उस समय के बाद से अंग्रेजी को राजनय में क्रमशः महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता गया। लॉर्ड कास्टलरी एवं लॉर्ड कैनिंग राजनयिक उद्देश्यों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर जोर देते थे। अंग्रेज राजनीतिज्ञों द्वारा विदेशी सम्प्रभुओं को लिखे गए पत्र एवं दूसरे कागजात मूलतः अंग्रेजी भाषा में होते थे तथा उनके साथ-साथ अन्य भाषा की मान्य प्रतिलिपि सलग्न की जाती थी। सयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा के विश्व रगमच पर आने से राजनयिक सम्पर्कों में अंग्रेजी भाषा का महत्व बढ़ गया। सन् 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में अंग्रेजी को फ्रेंच भाषा के बराबर का अधिकार मिला। इस सम्मेलन की समस्त सन्धियाँ एवं घोषणा-पत्र अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं मे तैयार किया गए। ज्यों-ज्यों एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में ब्रिटेन तथा फ्रांस का प्रभाव बढ़ता गया त्यों त्यों राजनयिक सम्पर्क के लिए अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा अनिवार्य बनती गई। साम्राज्यवादी काल में राजनयिक सम्पर्क के लिए अंग्रेजी

Government would feel bound carefully to reconsider their position) तब इसका आशय यह होता है कि मित्रता शत्रुता में परिवर्तित हो जाएगी।

4 यदि कोई राजनयज्ञ यह कहता है कि 'उसके देश को अमुक विषय मे स्वतन्त्र *कार्यवाही करने का अधिकार है' (To claim a free hand)* तब उसका अर्थ होता है कि राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिए जाएँगे अथवा दूसरे पक्ष की नीति को असफल करने के लिए समुचित कदम उठाए जाएँगे।

5 यदि राजनयज्ञ यह कहता है कि *"परिणामों का उत्तरदायित्व हम नहीं लेते"* तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि ऐसी घटना उभारी जा सकती है। जिसका परिणाम युद्ध का रूप धारण कर ले।

6 जब कभी कोई देश नम्रतापूर्वक निवेदन करके यह स्पष्ट करता है कि अमुक परिपत्र का उत्तर एक निश्चित दिन तथा समय तक मिल जाना चाहिए तो इस कथन का अर्थ दूसरा देश अल्टीमेटम के रूप में लेता है। इसके ठुकराए जाने का परिणाम बहुधा युद्ध की घोषणा होती है।

7 जब सरकार द्वारा यह कहा जाए कि दूसरे राज्य के कार्य को वह अमैत्रीपूर्ण समझती है तो इसका अर्थ होता है कि इस कार्य का परिणाम युद्ध भी हो सकता है।

संक्षिप्त कथनों के लाभ (Advantages of Understatements)

संक्षिप्त कथनों का राजकीय आचरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनसे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी शिष्टतापूर्ण एवं सौम्य वातावरण बनता है तथा जन-साधारण में अनावश्यक उत्तेजना नहीं फैलती। शिष्ट शब्दों में शान्तिपूर्वक एक राजनयज्ञ अपनी सरकार के अमैत्रीपूर्ण विचारों का प्रदर्शन कर देता है। ये संक्षिप्त कथन वातावरण को उत्तेजनापूर्ण बनने से रोकते हैं। प्रो निकल्सन के मतानुसार इस परम्परागत संचार व्यवस्था का लाभ यह है कि इसके द्वारा जो नरम वातावरण तैयार होता है उसमें एक राज्य बिना उत्तेजना के भी गम्भीर चेतावनी दे देता है। इससे राष्ट्रों को अपनी स्थिति के प्रति अन्य राष्ट्रों की प्रतिक्रिया का भी पता चल जाता है।

संक्षिप्त कथनों के दोष (Disadvantages of Understatements)

संक्षिप्त कथनों के अनेक दोष उजागर हुए हैं। इससे संकटपूर्ण स्थिति मे भी इस प्रकार की उक्तियाँ सर्वसाधारण को भ्रम में डाल देती हैं। जनता यह समझने लगती है कि देश के सामने कोई गम्भीर संकट नहीं है तथा दूसरे राज्यों से उनके राज्य के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण और मैत्रीपूर्ण हैं। जनतन्त्र में जनता की यह असावधानी खतरनाक बन जाती है। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर कहने से उनके अर्थ के बारे में भी दुविधा उत्पन्न हो जाती है। कहा कुछ जाता है और वास्तव में उसका अर्थ कुछ और समझ लिया जाता है। असावधानी के कारण अनेक अर्थों का अनर्थ हो जाता है।

राजनयज्ञों की भाषा में संक्षिप्त कथनों का आधिक्य होने के कारण ही इसे छल और धोखे का कार्य समझा जाने लगा। जिसे हम आम व्यवहार में असत्य भाषण कहते हैं उसे राजनयिक व्यवहार में *शिष्टता और सौजन्य* कहा जाता है। लोकप्रिय कहावत के अनुसार एक राजनयज्ञ सम्भावित कार्य के लिए कहता है अवश्य हो जाएगा और असम्भव कार्य

के लिए कहता है 'हो जाएगा' किन्तु वह 'नहीं होगा' शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करता। यदि करता है तो वह राजनयज्ञ नहीं है। यह शिष्टता और सतर्क व्यवहार आजकल अपना महत्व खोते जा रहे हैं। जनता द्वारा विदेश नीति के संचालन में अधिकाधिक रुचि लेने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि राजनयज्ञों के शब्दों और कार्यों में सम्बन्ध रहे। जनसाधारण को यह विश्वास होना चाहिए कि उनके विदेश मन्त्री या राजनयज्ञ जो कुछ वास्तव में कर रहे हैं वही उनका अभिप्राय है तथा वही वे वास्तव में करेंगे।

स्पष्ट है कि आजकल संहित कथन की प्रथा को छोड़ा जा रहा है और अतिरंजित कथनों का चलन बढ़ता जा रहा है। इस परिवर्तन के औचित्य के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। संहित कथनों की परम्परा के पक्षपातियों का कहना है कि अशिष्ट, कटु एवं उत्तेजनापूर्ण भाषा का प्रयोग यथासम्भव रोका जाना चाहिए तथा इसके स्थान पर समाचार पत्रों एवं अन्य प्रचार साधनों द्वारा जनता को संहित कथनों के अर्थ से परिचित कराया जाना चाहिए ताकि इसकी बुराइयों को दूर किया जा सके।

राजनयिक शब्दावली
(Diplomatic Phrases)

राजनयिक आचरण में व्यवहार के कारण अनेक मुहावरों तथा विशेष शब्दों का विकास हो गया है। अपने प्रयोग के सन्दर्भ में इनका एक विशेष अर्थ होता है। प्राचीनकाल में इन शब्दों का प्रभाव अधिक होता था। आजकल यद्यपि इनका महत्व इतना नहीं रहा है, किन्तु फिर भी कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग आज भी होता है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय शब्द निम्नलिखित हैं—

1. सम्मिलन (Accession) : अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में सम्मिलन की एक धारा भी जोड़ दी जाती है ताकि सन्धि करते समय में शामिल न होने वाला राज्य भी बाद में उसमें शामिल हो सके।[1] संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्याय क्षेत्र विषयक प्रावधान को संघ के सभी सदस्यों ने स्वीकार नहीं किया है किन्तु जो राज्य ठीक समझता है वह अपनी सुविधानुसार उसे कभी भी अंगीकार कर सकता है।

2. मतैक्य (Accord) : कम महत्व के अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर सन्धि न कर उन्हें मतैक्य द्वारा सुलझा लिया जाता है। उदाहरण के लिए जन स्वास्थ्य पर मतैक्य (Accord on public health) आदि।

3. परमविनियम (Acte Final) : सम्मेलन या काँग्रेस के अन्त में प्राप्त [illegible] सम्पूर्ण कार्यवाही का सारांश दिया जाता है। इसमें संक्षिप्त लेख सम्मेलन की सहमति हस्ताक्षरयुक्त सन्धियाँ आदि शामिल होती हैं।[2]

4. अड रिफरेंडम (Ad Referendum) : जब किसी सन्धि वार्ता में राजनयिक प्रतिनिधि प्रस्तावों को स्वीकार कर लेता है किन्तु उन पर अन्तिम स्वीकृति न देकर अपनी सरकार

1. "Accession is the term given to the long recognised practice whereby a state which has not signed a treaty may subsequently become a party to it." —*Sir Ernest Satow*
2. "Final act (Acte Final) is usually a formal statement or summary of the proceedings of congress or conference, enumerating the treaties or conventions drawn up as the result of its deliberations, or voeux deemed to be desirable." —*Sir Ernest Satow*

की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लेता है तो उसे अग्रे विचार्य कहा जाता है। इस प्रक्रिया से सन्धि की अन्तिम स्वीकृति का अधिकार हाथ में आ जाता है।

5 समनुमोदन (Agreement) जब एक राज्य द्वारा विदेशों में अपना राजदूत नियुक्त किया जाता है तो उसके सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य की राय अनधिकृत रूप से जान ली जाती है। यदि विदेशी शासन को कोई आपत्ति नहीं होती तो सम्बन्धित व्यक्ति को समनुमोदन प्राप्त समझा जाता है।

6 राज प्रश्रय (Asylum) जब एक देश के राजनीतिक अपराधी अपने देश से भाग कर अन्य देश अथवा वहाँ के दूतावास में शरण ले लेते हैं तो उसे राज्य प्रश्रय या राज्य शरण भी कहा जाता है।

7 सहचारी (Attache) राजदूत के काम में हाथ बँटाने के लिए और सुविधा की दृष्टि से विशेष विषयों पर सलाह एवं सहायता देने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, व्यावसायिक सहचारी (Commercial Attache) जो व्यापारिक कार्यों में सहायता देता है प्रेस सहचारी (Press Attache) जो समाचार पत्रों में प्रकाशित बातों का अध्ययन करने एवं सूचना एकत्रित करने का कार्य करता है। प्रत्येक सहचारी को उसके कार्य के अनुसार नाम से सम्बोधित किया जाता है।

8 दूतावास प्रेस (Bag) राजदूत द्वारा अपने देश के लिए लिखित प्रतिवेदन तथा अन्य सन्देश भेजे जाते हैं। इनको विशेष सन्देशवाहक द्वारा विशेष डाक के थैले में ले जाया जाता है। इस डाक थैले को कोई खोल नहीं सकता। जिस दिन यह थैला लाया अथवा ले जाया जाता है उसे प्रणध्यावास में डाक दिवस (Bag Day) कहा जाता है।

9 यौद्धिक अधिकार (Belligerent Rights) युद्ध में सलग्न राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन कुछ विशेष अधिकार और कर्तव्य सौंपे जाते हैं। इन्हें यौद्धिक अधिकार की संज्ञा दी जाती है। इन अधिकारों की एक लम्बी सूची है। उदाहरणार्थ युद्धप्रवृत्त राज्य को यह अधिकार होता है कि वह अपने शत्रु के तटों एवं बन्दरगाहों पर घेरा डाल दे। इस प्रकार वह नाकेबन्दी करके शत्रु राज्य से व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर देता है।

10 समर्पण सन्धि (Capitulations) ये वे सन्धियाँ हैं जिनके अन्तर्गत समर्पण की शर्तें निहित होती हैं। प्राचीनकाल में अनेक ईसाई धर्मावलम्बी गैर ईसाई राज्यों में बस गए थे। उनके हितों की रक्षा के लिए शक्ति सम्पन्न ईसाई राज्यों ने गैर ईसाई राज्यों से सन्धियाँ कीं। तदनुसार बलपूर्वक ईसाइयों के लिए अधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त कर लीं। उदाहरण के लिए ईसाइयों को स्थानीय न्यायालयों की परम्परा से मुक्त रखा गया। उन्हें करों एवं कारागार से मुक्ति दिलाई गई। इस प्रकार की सन्धियों को समर्पण सन्धि (Capitulation Treaty) की संज्ञा दी गई। तदनुसार शक्तियों का उपभोग करने वालों को समर्पण शक्तियाँ (Capitulatory Powers) कहा गया तथा इस प्रणाली को समर्पण व्यवस्था (Capitulatory System) कहा गया।

11 युद्ध का कारण (Casus Belli) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध उत्तेजनात्मक कार्यवाही करे और उसके आधार पर दूसरे राज्यों को युद्ध की घोषणा करने का न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाए तो वह युद्ध कारण कहलाता है। पामर्सटन ने इसे

परिभाषित करते हुए उसे ऐसा मामला बताया है जिसके आधार पर युद्ध करना उचित हो। सन् 1991 में इराक की हठधर्मिता की नीति के कारण खाड़ी युद्ध अपरिहार्य बन गया था।

12. महामन्त्रालय (Chancelleries and Chancery) : प्रारम्भ में चॅसलर या महामात्र के सचिवालय को चॉसलरी कहा जाता था। आजकल इसका अर्थ वे मन्त्री तथा कर्मचारी हैं जो विदेश नीति को नियन्त्रित करते हैं अथवा उस सम्बन्ध में सलाह देते हैं। चॉसलरी किसी राजनयिक प्रतिनिधि के कार्यालय को कहा जाता है जिसमें प्रथम द्वितीय और तृतीय स्तर के सचिव तथा अन्य सहायक लिपिक शामिल होते हैं।

13 सम्मेलन और काँग्रेस (Conference and Congress) : अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों ही शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का प्रयोग अभेद रूप से किया जाता है। 'काँग्रेस' शब्द सम्मेलन की अपेक्षा अधिक व्यापकता का प्रतीक है, अन्यथा दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार विमर्श एवं निर्णय के लिए किया जाता है।

14 कार्यदूत (Charge de Affairs) : कार्यदूत एक देश के विदेश विभाग द्वारा भेजा जाता है और दूसरे देश के विदेश विभाग द्वारा परिगृहित किया जाता है। कार्यदूतों को राजदूतों के समान सम्मान प्राप्त नहीं होता। अन्तःकालीन कार्य भार सम्भालने के लिए अन्तरिमकालीन कार्यदूत नियुक्त किए जाते हैं। इसके लिए परिगृहणकर्ता राज्य का समनुमोदन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। जब एक राज्य दूसरे राज्य से अपना असन्तोष या रोष प्रकट करता है तो वह लम्बे समय तक अन्तरिमकालीन कार्यदूत को ही नियुक्त रहने देता है।

15. विवाचन संविद् (Compromis D' Arbitrage of Compromis) : जब दो राज्य अपने किसी विवाद को समझौते के लिए सौंप देते हैं तो इस समझौते की प्रक्रिया का जो नियम-पत्र तैयार किया जाता है उसे विवाचन संविद् कहते हैं।

16 अविप्रतिपत्ति सन्धि (Concordat) : जब पोप द्वारा किसी राज्य के सम्प्रभु से सन्धि की जाती है तो उसे अविप्रतिपत्ति सन्धि कहा जाता है।

17. अभिसमय (Convention) यह एक कम महत्व की सन्धि होती है जिसे राज्यों के सम्प्रभुओं के बीच सम्पन्न न किया जाकर शासनों द्वारा किया जाता है।

18. राजनयिक निकाय (Corps Diplomatic) : किसी राज्य की राजधानी में रहने वाले विभिन्न देशों के राजदूतावासों के राजनयिक कर्मचारियों के समस्त समूह को राजनयिक निकाय कहते हैं। इनका मुखिया वरिष्ठतम राजदूत होता है और उसे दूत वरिष्ठ (Doyen) की संज्ञा दी जाती है।

19. शब्दों में अथवा स्पष्ट भाषा में (En Clair) : यदि कोई राजनयिक तार सॉकेतिक भाषा में न भेजकर साधारण भाषा में भेजा जाता है तो इसे स्पष्ट भाषा में भेजा गया तार मानते हैं।

20. कार्यानुमति (Exequatur) : जब एक देश द्वारा नियुक्त वाणिज्य दूत को वहाँ के सम्बन्धित अधिकारी द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है तो उसे कार्यानुमति कहते हैं।

21. प्रत्यर्पण (Extradition) : यह एक ऐसी सन्धि होती है जिसके अन्तर्गत कई राज्य आपस में यह समझौता करते हैं कि यदि एक राज्य का अपराधी दूसरे राज्य में प्रवेश

करेगा तो दूसरा राज्य उसे पहले राज्य को लौटा देगा। ये सन्धियाँ राजनीतिक और धार्मिक अपराधियों पर लागू नहीं होतीं।

22. पूर्ण शक्ति या पूर्णाधिकार (Full Powers) जब कोई राजनयिक प्रतिनिधि या अन्य अधिकर्त्ता किसी सम्मेलन या कांग्रेस में प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजा जाता है तो उसकी सरकार उसे पूर्ण शक्ति प्रदान करती है जिसके अधीन वह किसी सन्धि या अभिसमय विशेष पर अपनी सरकार की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकारी बन जाता है। इस पूर्ण शक्ति का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है।

23 सुसम्बन्ध प्रयोग (Good Offices) दो विरोधी राज्यों के मध्य समझौता कराने के लिए जब तीसरा राज्य दोनों पक्षों के साथ अपने अच्छे सम्बन्धों के कारण दोनों के बीच सन्देशवाहक का कार्य करता है तो उसके इस कार्य को सुसम्बन्ध प्रयोग कहा जाता है। इसमें और मध्यस्थता में यह अन्तर है कि मध्यस्थता में मध्यस्थ व्यक्ति या शासन को स्वय सन्धि वार्ता में भाग लेना पड़ता है किन्तु सुसम्बन्ध प्रयोग में ऐसा नहीं किया जाता।

24 निर्बाध गमन (Laissez Passer) • जब एक राज्य के कर्मचारी राजकीय कार्य से दूसरे देश को जाते हैं तो उक्त देश के राजदूतावास से उनकी सुविधा हेतु अपने देश के चुंगी अधिकारियों के नाम एक सिफारिशी पत्र लिखा जाता है ताकि सीमा प्रवेश के समय उसकी तलाशी न ली जाए। इस पत्र को निर्बाधगमन पत्र कहा जाता है।

25 टिप्पण (Notes) राजनयिक दूत द्वारा किसी शासन को लिखे गए औपचारिक सन्देश को टिप्पण कहा जाता है। ये टिप्पण तीन प्रकार के होते हैं—(क) सामूहिक टिप्पण (Collective Notes)—जब किसी विषय पर अनेक राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधि सयुक्त रूप से हस्ताक्षर करते हैं तो वह सामूहिक टिप्पण कहलाता है। प्रत्येक प्रतिनिधि पृथक् प्रतिलिपि पर अपने हस्ताक्षर करता है। इन सभी प्रतिलिपियों को मिलाकर सम्बन्धित शासन के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।[1] (ख) एकसमान टिप्पण (Identic Notes)—ऐसे टिप्पणों की सभी प्रतिलिपियों का एकसा होना आवश्यक नहीं है किन्तु उनका सारांश एक जैसा होता है। उन्हें भिन्न भिन्न समयों पर प्रस्तुत किया जा सकता है। (ग) मौखिक टिप्पण (Verbale Notes)—इस टिप्पण पर हस्ताक्षर नहीं किए जाते किन्तु इसके अन्त में सौजन्य व्यक्त किया जाता है।[2]

26 विदेशाधिकरण (Protocol), प्रारम्भ में किसी समझौते के रिकार्ड को विदेशाधिकरण कहा जाता था। यह सन्धि अथवा अभिसमय से कम औपचारिक था। आजकल अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रसविदाएँ इसी रूप मे तैयार की जाती है।

27. प्रतिवेदक (Rapporteur) जब किसी सम्मेलन की समितियाँ अथवा उपसमितियाँ किसी प्रतिनिधि को मूल सम्मेलन में उनका प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए

1 "Th s is one addressed by the representatives of several to a government in regard to some matter in which they have been instructed to make a joint representat on It involves close relations between the powers whose representatives sign it." —*Sir Ernest Satow*

2 *This is in the third person and is neither addressed nor signed* It should however terminate with a formula of courtesy It is often used for the record of a conversation or in order to put a quest on" —*Sir Ernest Satow*

चुनती हैं तो उसे प्रतिवेदक कहा जाता है। यह अपने नाम के अनुसार मूल सम्मेलन में समिति का प्रतिनिधित्व करता है।

28 क्षेम गमन (Safe Conduct) एक व्यक्ति को उसके देश के शत्रु राज्य में होकर बिना किसी रोक टोक के गमन की सुविधा को क्षेम गमन कहा जाता है। इसे निर्बाध गमन की भी संज्ञा दी जाती है।

29 अमैत्रीपूर्ण कार्य (Unfriendly Act) जब एक राज्य दूसरे राज्य के कार्य को युद्ध का कारण मानता है तो उस राज्य से अपना विरोध प्रकट करते हुए स्पष्ट कर देता है कि अमुक कार्य अमैत्रीपूर्ण है।

30 एकपक्षीय घोषणा (Unilateral Declaration) कभी कभी कुछ राज्य एक सैद्धान्तिक घोषणा द्वारा अपने अधिकारियों या नीति की स्थापना करते हैं। इसकी सूचना बाद में अन्य राज्यों को भेजी जाती है। ऐसी घोषणा एकपक्षीय घोषणा कही जाती है।

31 अभिलाषाएँ (Voeux) जब किसी सम्मेलन द्वारा अपनी सन्धि के साथ भावी मार्गदर्शन के लिए कुछ सिफारिशें जोड़ दी जाती हैं तो उन्हें अभिलाषा कहा जाता है। 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन ने ऐसी 6 अभिलाषाएँ व्यक्त की थीं। सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य इनसे बाध्य नहीं होते क्योंकि आखिर ये अभिलाषाएँ ही होती हैं।

32. राजनयिक अस्वस्थता (Diplomatic Illness) जब कोई राजदूत अथवा सन्धि वार्ता करने वाला किसी सभा अथवा उत्सव में जाना नहीं चाहता तो वह बीमार होने का बहाना बना लेता है।

33 स्मरण पत्र (Memorandum) यह तथ्यों और उन पर आधारित तर्कों का टिप्पण जैसा ही योग होता है। यह टिप्पण से विशेष भिन्न नहीं होता है। दोनों में अन्तर यह है कि इसके प्रारम्भ और अन्त में सौजन्य पूर्ण शब्दों की आवश्यकता नहीं होती और न ही इस पर हस्ताक्षरों की आवश्यकता होती है।

सम्प्रभुओं एवं राज्याध्यक्षों के बीच पत्र व्यवहार
(Correspondence between Sovereigns and Heads of States)

जब राज्यों के सम्प्रभु एक दूसरे को अधिकृत रूप से सम्बोधित करते हैं तो वे पुरुष के लिए Sir My Brother लिखकर सम्बन्धित व्यक्ति के साथ स्थित अपने रक्त सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। किसी महारानी या सम्राज्ञी के लिए Madam My Sister सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। पत्र के मूल भाग में सम्प्रभु अपने आपको एकवचन के रूप में प्रकट करता है और अपने बराबर वालों को Majesty Altesse Royale इत्यादि पदवियों से सम्बोधित करता है। पत्र का अन्त करते समय मैत्रीपूर्ण अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है। कुछ देशों में ऐसे पत्रों पर सम्प्रभुओं के हस्ताक्षरों के साथ साथ किसी मन्त्री के भी हस्ताक्षर होते हैं। इस तरह के पत्र प्रायः राजदूतों के प्रत्यय पत्र या राजदूतों को बुलाने के पत्र अथवा अन्य सम्प्रभुओं को भेजी गई बधाइयाँ अथवा शोक सन्देशों के रूप में होते हैं।

जब सम्प्रभुओं द्वारा किसी गणराज्य के अध्यक्ष को पत्र लिखा जाता है तो यह अधिक औपचारिकता एवं सजावट के साथ लिखा जाता है। इसका प्रारम्भ सम्प्रभु के नाम और

पद से होता है। सम्प्रभु इस प्रकार के पत्रों का लेखन साधारणत राजदूतों या मन्त्रियों के प्रत्यय पत्र उन्हे वापस बुलाने भूतपूर्व सम्प्रभु की मृत्यु की घोषणा करने निर्वाचन पर बधाई देने आदि के लिए करते हैं। ऐसे पत्रों के अन्त मे दोनों राज्यों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढाने के महत्व पर जोर दिया जाता है। इन पर प्राय किसी मन्त्री द्वारा प्रतिहस्ताक्षर किए जाते हैं।

राजनयिक पत्र व्यवहार की अमान्यता
(Rejection of Diplomatic Communications)

राजनयिक सम्पर्क की भाषा के विवरण मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि एक राज्य कुछ अवसरों पर विशेष कारणों से दूसरे राज्य द्वारा भेजे गए पत्रों को अस्वीकार कर देता है। वह पत्र मे दी गई बातों को बिना कारण बताए ठुकरा देता है। इस स्थिति की साहित्यिक व्याख्या करते हुए इसे पत्र प्रेषक को पत्र लौटाना कहा जा सकता है। ऐसे अवसर प्राय कम आते हैं जब किसी राज्य द्वारा दूसरे राज्य की डाक को अमान्य किया जाए। कभी कभी प्रेषित पत्र मे आपत्तिजनक भाषा का प्रयोग किया जाता है तो प्राप्तिकर्त्ता राज्य उसे स्वीकार करने की अपेक्षा लौटा देने का निर्णय लेता है। इस निर्णय की दूसरी स्थिति यह है जब किसी पत्र द्वारा प्रेषक राज्य ने प्राप्तिकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप करने का प्रयास किया हो। राजनयिक इतिहास मे पत्र अस्वीकार करने के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। सन् 1943 में स्टालिन ने चर्चिल को एक टेलीग्राम भेजा था जिसके रूप और विषय वस्तु के आपत्तिजनक होने के कारण चर्चिल ने उसे स्वीकार करने से मना कर दिया और लन्दन स्थित सोवियत राजदूत को एक लिफाफे में रख कर लौटा दिया। सोवियत राजदूत मौनसीर गोसेव (Monsieur Gousev) ने इसे पहचानते हुए कहा कि मुझे यह आपको सौंपने के लिए दिया गया है। तब प्रधान मन्त्री ने उत्तर दिया कि "मैं मित्रतापूर्वक इसे अस्वीकार करता हूं।"[1]

1 *"I am not prepared to receive it in a friendly manner"* —*Churchill* The Second World War

12

कुछ महान् राजनयज्ञ : मेटरनिख, कैसल-रे, विस्मार्क, विल्सन, तेलेराँ, के.मेनन, के.एम.पन्निकर, राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका

(Some Great Diplomats Matternich, Castle-reigh, Bismarck, Wilson, Tallaron, K Menon, K M Pannikar, Changing Role of Diplomats)

राजनयज्ञ के दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए राजनयज्ञ में कुछ विशेष गुणों का होना वाँछनीय है। इसके अभाव में वह अपने कर्तव्यों व दायित्वों का समुचित निर्वाह नहीं कर सकेगा। प्रस्तुत अध्याय मे हम कुछ महान् राजनयज्ञों के राजनय और उनकी महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालेंगे और साथ ही राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका को भी देखेंगे। हम इस बात पर भी विचार करेंगे कि वाँछनीय गुणों की दृष्टि से राजनयज्ञों के लिए उपयुक्त परामर्श क्या है।

मेटरनिख
(Matternich)

आस्ट्रियन चाँसलर एक महान् कूटनीतिज्ञ था। वह असाधारण प्रतिभा का धनी था। नेपोलियन बोनापार्ट को पराजित करने में आस्ट्रिया (आस्ट्रिया हंगरी) ने महत्वपूर्ण भाग लिया था अत यूरोप के पुनर्निर्माण के मामलों को तय करने के लिए 1815 में वियना में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था और आस्ट्रियन चाँसलर मेटरनिख ने अपनी विलक्षण राजनयिक प्रतिभा से सबको प्रभावित किया था। यह मेटरनिख ही था जिसने आस्ट्रिया को इतना शक्तिशाली बना दिया कि यूरोप में पुन उसका वर्चस्व स्थापित हो गया। आस्ट्रिया हंगरी पर 1792 से 1835 तक फ्रांसिस प्रथम और 1835 से 1848 तक फर्डिनेन्ड प्रथम ने राज्य किया। सम्पूर्ण यूरोप में आस्ट्रिया ही एक ऐसा राज्य था जिस पर 1789 की फ्रांसिसी क्रान्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। साम्राज्य भर में विशेषाधिकारयुक्त कुलीनों और पादरियों का शासन एकदम निरंकुश था। आस्ट्रिया में इतने कठोर प्रतिबन्ध थे कि वहाँ किसी प्रकार के उदार विचारों का प्रचार नहीं हो सकता था।

मेटरनिख का जन्म मई 1773 में आस्ट्रिया के कब्लेज नगर में हुआ था। उसका पिता पवित्र रोमन साम्राज्य का उच्चाधिकारी और जर्मनी का जागीरदार था। फ्रांस की

क्रान्ति के साथ आतक राज्य और क्रान्तिकारी दलों के नृशस कार्यों ने उसमे क्रान्ति के प्रति असीम घृणा उत्पन्न कर दी थी। बाद मे नेपोलियन ने उसके पिता की जागीर छीन ली थी। इन कारणों से वह कट्टर प्रतिक्रियावादी और नेपोलियन का घोर विरोधी बन गया था।

शिक्षा समाप्त करने के बाद 1795 में उसका विवाह आस्ट्रिया के चाँसलर प्रिन्स कॉलिट्ज की पौत्री के साथ हुआ। इस विवाह से उसकी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सन् 1801 से 1806 तक उसने विभिन्न देशों मे राजदूत के पद पर कार्य किया और वह इन देशों के शासकों व राजनीतिज्ञों के सम्पर्क मे आया। सन् 1809 में आस्ट्रिया का चाँसलर (प्रधान मन्त्री) बन गया और 1848 तक उसी पद पर कार्य करता रहा। नेपोलियन की वाटरलू पराजय के बाद मेटरनिख यूरोप की राजनीति का सर्वेसर्वा बन गया। उसने यूरोपीय राजनीति में इतनी प्रमुख भूमिका निभाई कि 1815 से 1848 तक के यूरोपीय इतिहास का काल 'मेटरनिख युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

जहाँ नेपोलियन का युग अस्त्र शस्त्र का युग था वहाँ मेटरनिख का समय राजनय और मैत्री का युग था। मेटरनिख अपने युग का सबसे प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ था। नेपोलियन के पतन और यूरोपीय व्यवस्था के सगठन मे उसका प्रमुख हाथ रहा था। उस युग के लगभग सभी शासक मेटरनिख के प्रभाव में थे। मध्य और पूर्वी यूरोप राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विधान मेटरनिख की नीति के अनुसार ही चलते थे। जर्मनी आस्ट्रिया और इटली उसकी ही छत्रछाया मे थे। वास्तव में जिस तरह नेपोलियन ने सम्पूर्ण यूरोप पर 15 वर्ष तक अपनी धाक जमाए रखी उसी तरह मेटरनिख ने भी लगभग 40 साल तक यूरोप की राजनीतिक प्रगति पर अपना नियन्त्रण स्थापित रखा। वह बडा ही अहकारी व्यक्ति था जिसकी धारणा थी कि ससार का क्रम उसी के सहारे चल रहा है। वह कहा करता था—"मेरी स्थिति मे यह विलक्षण बात है कि जहाँ भी मै होता हूँ सबकी आशाएँ सबकी आँखे वहीं लगी रहती हैं। क्या कारण है कि असख्य लोगों मे केवल मैं ही विचार करता हूँ जबकि अन्य व्यक्ति कुछ भी नहीं सोचते केवल मैं ही कार्य करता हूँ जबकि अन्य लोग कुछ भी नहीं करते और मैं ही लिखता हूँ क्योंकि दूसरे इस योग्य नहीं है।" मेटरनिख का विश्वास था कि उसकी मृत्यु होने पर उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कभी नहीं की जा सकती है।

मेटरनिख क्रान्तिकारी भावनाओं का कट्टर शत्रु था। फ्रौंस की क्रान्ति के दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र को वह बहुत भयानक रोग समझता था।

वह प्राय कहा करता था—"क्रान्ति एक भयानक और विशाल दैत्य की भाँति है जो समस्त यूरोप की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को निगल सकती है।" मेटरनिख की दृष्टि में "क्रान्ति एक सडे हुए दुर्गन्धयुक्त माँस के टुकडे से समान थी जिसको भस्म करने के लिए एक अत्यन्त गरम और लाल लोहे की आवश्यकता होती है।" मेटरनिख को क्रान्ति से अत्यन्त चिढ़ थी। उसका राजनय इस दिशा [illegible] था कि सम्पूर्ण यूरोप मे क्रान्ति से पूर्व की स्थिति पुन उत्पन्न करके पुरातन राजनीतिक [illegible]स्था की जाए। इस प्रकार से वह क्रान्ति का भयकर विरोधी था।

मेटरनिख आस्ट्रियन साम्राज्य की सुरक्षा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। यह तभी सम्भव था जब फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को कुचल दिया जाए। मेटरनिख जानता था कि आस्ट्रिया का साम्राज्य अनेक जातियों का जमघट है और ऐसे साम्राज्य का शासन राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। वह यह कभी बर्दाश्त नहीं था कि सर्वसाधारण जनता राजनैतिक अधिकार प्राप्त करे और देश के शासन सचालन में भाग ले। अतः आस्ट्रियन साम्राज्य को क्रान्ति की लहरों से बचाने के लिए मेटरनिख ने एक ऐसी पद्धति का सूत्रपात किया जिसे 'मेटरनिख पद्धति' (System of Metternich) कहा जाता है। इसने शक्ति का नहीं वरन् राजनयिक और राजनैतिक दबाव का सहारा लिया। क्योंकि यह प्रणाली तत्कालीन यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न थी इसलिए उसकी नीति को उसके नाम पर 'मेटरनिख प्रणाली' का नाम दिया गया। इस मेटरनिख प्रणाली के दो स्पष्ट रूप थे—

(i) आस्ट्रिया में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाए जिसमें क्रान्ति के विचारों का प्रवेश असम्भव हो जाए। चूँकि जर्मनी और इटली पर आस्ट्रिया का प्रभाव था, अतः वहाँ भी क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार रोका जाए।

(ii) यूरोप के किसी भाग में क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रचार न हो। प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ कहीं भी सिर उठाएँ तो उन्हें कुचल दिया जाए। इस उद्देश्य के लिए मेटरनिख ने वियना काँग्रेस में यूरोपीय व्यवस्था की स्थापना कराई। वास्तव में यह व्यवस्था मेटरनिख पद्धति का एक अभिन्न अंग थी।

मेटरनिख ने अपने प्रधान मन्त्रित्व काल में प्रतिक्रिया और अनुदारता का अनुकरण करने की नीति अपनाई और उसके प्रभाव के कारण आस्ट्रिया का साम्राज्य यूरोप में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया। अपनी नीति की व्याख्या करते हुए उसने एक बार इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पामर्स्टन को लिखा था कि "हम प्रतिरोधात्मक नीति इसलिए अपना रहे हैं कि हमें दमनकारी नीति अपनाने के लिए विवश न होना पड़े। हमारी यही निश्चित धारणा है कि सुधार की माँगों को मानना राज्य के लिए घातक होगा।"

मेटरनिख का विश्वास था कि गृह नीति और विदेश नीति को पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। एक देश की घटनाओं का दूसरे देशों पर प्रभाव पड़ता है अतः किसी देश में घटित घटनाओं को कोई देश दर्शक की भाँति नहीं देख सकता। उनको दबाने के लिए राज्यों को सम्मिलित रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए।

मेटरनिख ने सबसे पहली अपनी व्यवस्था को सबसे पहले अपने ही देश में लागू किया। 1815 से 1848 तक वह आस्ट्रिया का सर्वशक्तिशाली प्रधान मन्त्री रहा। इस अवधि में आस्ट्रिया में दो सम्राट् हुए—प्रथम फ्रैंसिस (1835 ई. तक) और फर्डिनेण्ड प्रथम (1835 ई. से 1848 ई. तक)। दोनों सम्राटों को उसने एक ही नीति का पालन करने का परामर्श दिया वह थी 'यथास्थिति' (Statusquo) बनाए रखने की नीति। इसके अतिरिक्त उसने आस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के उदार विचारों के दमन और कठोर नियन्त्रण की भी नीति अपनाई। मेटरनिख एक बहुत दूरदर्शी राजनेता था। उसकी एकमात्र अभिलाषा यही थी कि आस्ट्रिया यूरोप का नेतृत्व करे।

मेटरनिख नेपोलियन की बढती हुई शक्ति से परिचित था। उसने एक बार कहा था अगर फ्रांस को जुकाम हो जाता है तो पूरा आस्ट्रिया छींकने लगता है साथ ही वह यह भी जानता था कि रूस का जार भी आस्ट्रिया का शत्रु है अत उसने ऐसी नीति अपनाई कि नेपोलियन और रूस परस्पर लडकर नष्ट हो जाएँ ताकि आस्ट्रिया यूरोप का शक्तिशाली राज्य बना रहे। मेटरनिख ने नेपोलियन को हराने के लिए रूस को आगे किया और स्वय गुप्त रूप के शासक के विरुद्ध योजनाएँ बनाता रहा। नेपोलियन ने जब 1812 मे रूस पर हमला किया तो मेटरनिख ने रूस के जार को विश्वास दिलाया कि वह किसी भी ओर से युद्ध मे सक्रिय भाग नहीं लेगा पर दूसरी ओर उसने नेपोलियन की सहायता के लिए सेना तैयार रखी। वस्तुत मेटरनिख उसी की सहायता के लिए तैयार था जिससे आस्ट्रिया को लाभ हो इसलिए उसने आस्ट्रिया की सेना को सदैव इस दृष्टि से तैयार रखा कि वह विजयी दल का साथ दे सके। लिपजिग के युद्ध मे उसने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया और नेपोलियन को पराजित करने मे मुख्य भाग लिया। अपनी दोहरी नीति द्वारा एक ओर तो उसने नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय प्राप्त किया और दूसरी ओर विजय का लाभ रूस को नही मिलने दिया। इसलिए वियना काँग्रेस मे सब राष्ट्र मेटरनिख की मैत्री के आकाँक्षी रहे।

नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप में कोई भी राजनीतिज्ञ ऐसा नही था जो मेटरनिख की बराबरी कर सकता। अत वियना काँग्रेस मे मेटरनिख ने आस्ट्रिया के गौरव को बढाया। आस्ट्रिया का यह चाँसलर वियना काँग्रेस का सभापति बना। वियना काँग्रेस के निर्णयों पर मेटरनिख का सबसे अधिक प्रभाव रहा। नेपोलियन के पराभव के बाद भी उसके सिद्धान्तों का भय बना हुआ था। मेटरनिख समझता था कि यदि स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो आस्ट्रिया भी उनसे प्रभावित हो सकता है अत इनके सम्भावित प्रसार को रोकने के लिए उसने वियना काँग्रेस में सक्रिय भूमिका निभाई। निरकुशता और न्याय्यता (Legitimacy) के सिद्धान्त पर बल देते हुए भी उसने यूरोपीय शक्ति सतुलन पर ध्यान रखा तथा ऐसी नीति अपनाई कि सभी बडे राष्ट्रों के स्वार्थों की यथासम्भव पूर्ति हो सके। मेटरनिख समझता था कि बडे राष्ट्रों मे एकता बनाए रखने का यही मार्ग है। यह मेटरनिख की ही कूटनीति थी कि फ्रांस की शक्ति बहुत हद तक सीमित कर दी गई और आस्ट्रिया तथा फ्रांस के बीच ऐसी व्यवस्था कायम की गई कि फ्रांस के क्रांतिकारी विचार आस्ट्रिया मे न घुस सकें। मेटरनिख की कूटनीति का ही यह जादू था कि आस्ट्रिया को लोम्बार्डी वेनिस और डाल्मेशिया मिल गए। यूरोप के अनेक राज्यो की सीमाएँ पूर्ववत् कायम रहीं प्राचीन राजवशों की पुनर्स्थापना की तथा क्षतिग्रस्त राज्यो की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था कराई रूस के जार और प्रशा के राजा पर उसका जादू छाया रहा। उसने जर्मन राज्य का सगठन किया किन्तु सघ का प्रधान आस्ट्रिया के राजा को बनाया गया। वास्तव मे वियना काँग्रेस के उद्देश्य और निर्णय अधिकाँशत मेटरनिख की बुद्धि की उपज थे।

वियना काँग्रेस के निर्णयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मेटरनिख ने सयुक्त व्यवस्था की स्थापना की। चतुर्मुखी मैत्री को कार्यरूप मे परिणत कर दिखाना उसकी ही अद्भुत क्षमता थी। सयुक्त व्यवस्था के रूप मे उसने एक ऐसे फायर ब्रिगेड का निर्माण करना चाहा था जो यूरोप मे सर्वत्र क्रान्ति की ज्वालाओं को बुझा दे। इस व्यवस्था के

माध्यम से मेटरनिख ने नेपोलियन के युद्धो से जर्जरित यूरोप को शान्ति प्रदान करने की चेष्टा की। यह दूसरी बात है कि उसकी नीति से जो परिवर्तन हुए वे स्थायी न रह सके क्योकि उनमे उदार और राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था फिर भी उसे यूरोप में 30 वर्ष तक शान्ति बनाए रखने मे सफलता मिली।

नेपोलियन के युद्धों से जर्मनी क्षत विक्षत हो गया था फिर भी वियना कॉग्रेस में उसने अपने समर्थकों की सहायता से जर्मनी मे 39 राज्यों का एक सघ स्थापित किया। आस्ट्रियन सम्राट इसका अध्यक्ष बना। इसके साथ ही राज्य सघ में एक ससद् (Diet) की स्थापना की गई जिसमे जर्मनी के सभी राजाओं द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि भाग ले सकते थे। यह व्यवस्था मेटरनिख की नीति के ही अनुकूल थी क्योंकि ससद् सदस्य राजाओं के प्रतिनिधि होने के कारण निरकुश शासन और प्रतिक्रियावादी शासन के समर्थक थे। मेटरनिख ने इस व्यवस्था की सहायता से प्रजातन्त्र के समर्थकों को कठोर दण्ड दिलवाकर उनकी भावनाओं को कुचल दिया। उसने 1819 में ससद् का अधिवेशन बुलाकर अपनी इच्छानुकूल दमनकारी कानून पारित कराके उन्हें सम्पूर्ण जर्मनी मे लागू करा दिया। इन कठोर निर्देशों के कारण 1818 से 1849 तक जर्मनी में राजनीतिक सन्नाटा छाया रहा। मेटरनिख के भय से जर्मनी के कुछ राज्यों के अतिरिक्त किसी भी राज्य में सॉविधानिक शासन स्थापित न हो सका। मेटरनिख की दमनकारी नीति और कूटनीतिक चालों से जर्मनी में उपद्रव व आन्दोलन तो शान्त हो गए, लेकिन जर्मन जनता आस्ट्रिया से घृणा करने लगी।

मेटरनिख की दमनकारी नीति से जनता ऊपर से शान्त हो गई लेकिन भीतर ही भीतर क्रान्ति की आग सुलगती रही। प्रशा जर्मनी का एक शक्तिशाली राज्य था जो व्यापार और कला कौशल के क्षेत्र में आगे बढा हुआ था। वहाँ मेटरनिख की दमनकारी नीति का प्रयोग विशेष फलदायक नहीं हो सका।

नेपोलियन की पराजय के बाद 1815 की वियना कॉग्रेस ने इटली को फिर छोटे छोटे राज्यो में विभक्त कर दिया। अब वहाँ मेटरनिख की क्रूर स्वेच्छाचारी और निरकुश नीति का शासन स्थापित हो गया। जनता की राष्ट्रीय भावनाओ को कठोरतापूर्वक कुचला जाने लगा। पिडमॉण्ट और नेपल्स में विद्रोह हुए किन्तु मेटरनिख ने रूस और प्रशा को अपनी ओर मिला लिया और ट्रोपो सम्मेलन से अनुमति प्राप्त करके विद्रोहों को क्रूरतापूर्वक दबा दिया। क्रान्तिकारियों का दमन करके उसने पुन निरकुश शासन स्थापित किया लेकिन क्रान्तिकारियों की कारबोनरी नामक गुप्त समिति अपना कार्य गुप्त रूप से करती रही। अवसर मिलने पर मोडेना टस्कनी बोलाना आदि मे भयकर विद्रोह हुए। इटली के अन्य भागों मे मेटरनिख के प्रभाव के कारण शान्ति बनी रही। शनै शनै दमन नीति के कारण आस्ट्रिया का शासन इटलीवासियों के लिए असह्य हो गया। अत आस्ट्रियन फौजो को वहाँ से निकालने के लिए आन्दोलन हुआ जिसे अन्तत मेटरनिख दबा न सका।

स्पेन मे भी मेटरनिख राजनय का खेल राष्ट्रवादी भावना को कुचलने का रहा। यूनानियों के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के विरुद्ध भी मेटरनिख का घोर प्रतिक्रियावादी रुख रहा। मेटरनिख के प्रभाव में आकर ही जार ने यूनानियो की सहायता नहीं की। यूरोप के दूसरे राज्यो ने भी यूनानी जनता को उनके स्वतन्त्रता सघर्ष मे सहायता नहीं दी। मेटरनिख ने कहा "उपद्रव को चाहिए कि वह अपने को सभ्यता के दायरे से बाहर कर भस्म कर

से।' प्रारम्भ मे रूस का जार एलेक्जेण्डर उदार विचारों से प्रभावित था किन्तु 1815 के बाद वह क्रमशः मेटरनिख के प्रभाव मे आता गया और ट्रोपो सम्मेलन के समय उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि वह मेटरनिख का अनुयायी है। नेपोलियन को हराने मे बड़े राष्ट्रों का जो सहयोग रहा था उसके फलस्वरूप इग्लैण्ड के कैसलरे और आस्ट्रिया के मेटरनिख वियना सम्मेलन मे सहयोगी रहे अतः यूरोप मे 'यथास्थिति' बनाए रखने के लिए चतुर्मुखी मैत्री अस्तित्व मे आई। किन्तु जहाँ मेटरनिख ने सयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों मे 'हस्तक्षेप के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया वहाँ इग्लैण्ड ने 'निर्हस्तक्षेप' के सिद्धान्त पर बल दिया।

मेटरनिख अपने सम्पूर्ण प्रधान मन्त्रित्वकाल में घोर प्रतिक्रियावादी बना रहा। उसने स्वय को राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र का कट्टर शत्रु सिद्ध किया। क्रान्तियों को कुचलने के लिए और प्रगतिशील प्रवृत्तियों के दमन के लिए उसने यूरोप के देशों के आन्तरिक मामलों में खुलकर भाग लिया। लगभग 33 वर्ष तक वह सम्पूर्ण यूरोप में पुलिसमैन (Policeman) की भूमिका का निर्वाह करता रहा। जहाँ कहीं क्रान्ति हुई वह तुरन्त डण्डा लेकर पहुँच गया और क्रान्ति एव नव चेतना को पूरी तरह दबा कर ही वहाँ से लौटा। रूस का जार एलेक्जेण्डर प्रथम और प्रशा का सम्राट् फ्रेड्रिक आरम्भ मे उदार मनोवृत्ति के शासक थे किन्तु मेटरनिख के प्रभाव में आकर ये शासक भी उसी की भाँति अनुदार हो गए।

सन् 1815 से 1848 तक मेटरनिख क्रान्ति के तत्वों का दमन करता रहा परन्तु 1848 की क्रान्ति ने उसकी जड़ें हिला दीं। 1848 की क्रान्ति का समाचार सुनकर उसने कहा था—"मैं एक पुराना हकीम हूँ। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि साध्य और असाध्य रोग मे क्या अन्तर है ? यह रोग प्राण घातक है।" उसका कथन ठीक ही था। मार्च 1849 मे आस्ट्रिया की राजधानी वियना की सड़कें 'मेटरनिख का नाश हो' के नारों से गूँजने लगीं। आस्ट्रिया के सम्राट् ने घबराकर मेटरनिख को पदच्युत् कर दिया। उसे जान बचाने के लिए इग्लैण्ड भागना पड़ा। इस प्रकार निरकुश राजसत्ताधारी मेटरनिख का करुणाजनक पतन हो गया।

उसके कारुणिक पतन के बावजूद भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह तत्कालीन यूरोप का महानतम् राजनीतिज्ञ था। उसके पतन के साथ ही यूरोपीय इतिहास का वह युग समाप्त हो गया जो वियना काँग्रेस के साथ प्रारम्भ हुआ था। यूरोपीय इतिहास का यह युग 'मेटरनिख युग' के नाम से जाना जाता है। इस सम्पूर्ण समय मे मेटरनिख केवल आस्ट्रिया पर ही नहीं वरन् समस्त यूरोप पर छाया रहा।

कैसलरे
(Castle-reigh, 1739 1822)

कैसलरे का जन्म 1739 में इग्लैण्ड मे हुआ। इग्लैण्ड और आयरलैण्ड के विलय के समय वह इग्लैण्ड की ओर से आयरलैण्ड के लिए सेक्रेटरी नियुक्त था। रिश्वत आदि देकर आयरलैण्ड के लोगों को आयरलैण्ड और इग्लैण्ड के एकीकरण के लिए तैयार करवाने मे उसका भी हाथ था। वह कैथोलिक लोगों को कुछ अश तक धार्मिक स्वतन्त्रता देने के हक में था। वह कुछ समय के लिए युद्ध मन्त्री और फिर बस्तियों का मन्त्री रहा। सन् 1807 में उसने सेना का पुनर्सगठन किया परन्तु उसके द्वारा सेना का यह पुनर्निर्माण पुरानी सेना

के आधार पर ही किया गया था। सन् 1809 ई में उसने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और कैनिंग से मुकाबला किया। 1812 ई में वह विदेशी मन्त्री (Foreign Secretary) बन गया और 1822 ई में आत्महत्या करने तक वह इसी पद पर रहा।

कैसलरे एक बहुत ही बुद्धिमान व्यक्ति था जिसे काल्पनिक विचार धोखा नहीं दे सकते थे और जो सीधे बात की तह तक पहुँच जाता था। केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में भी वह बड़ा वीर और साहसी था। उसने ही नेपोलियन के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों को सगठित किया। मुख्यत उसी के प्रयत्नों से 'राष्ट्रों का युद्ध (Battle of Nations) आरम्भ हुआ। वाटरलू के मैदान में नेपोलियन को अन्तिम रूप से पराजित करने में ब्रिटिश सेना का निर्णायक हाथ रहा। पुनश्च नेपोलियन द्वारा आत्म समर्पण भी ब्रिटिश नौ सेना के समक्ष ही किया गया। इन घटनाओं से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई और 1814 ई मे यूरोप में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उसे वही स्थान मिला जो 1919 में सयुक्तराज्य अमेरिका को प्राप्त हुआ था। डॉ विद्याधर महाजन ने लिखा है—

इगलैण्ड को ऊँचे स्थान पर पहुँचाने का श्रेय लॉर्ड कैसलरे को है जिसके उच्च आदर्शों ठोस व्यवहार बुद्धि और राजनैतिक कार्यों को करने की ईश्वरदत्त प्रतिभा ने उसे ऐसा करने में समर्थ किया। वह केवल अग्रेजी पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल के कार्य करने वाले अपने सह कर्मचारियों का ही विश्वासपात्र नहीं अपितु यूरोप भर के राजनीतिज्ञों की इच्छा सम्मतियों और विश्वास प्राप्त करने में सफल हुआ।

कैसलरे का यूरोप जाने और मित्र राष्ट्रों की राजधानियों की यात्रा करने का एकमात्र उद्देश्य इन चार बड़े बड़े राष्ट्रों को सगठित करके नेपोलियन के मुकाबले में खड़ा करना था। साथ ही साथ वह एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना करना चाहता था जो यूरोप के राजनैतिज्ञों के सम्मुख उपस्थित समस्याओं को सुलझा सके। कैसलरे के विचार में राष्ट्रों की नीति में मतभेदों को दूर करने युद्ध में विजय प्राप्त करने और इस प्रकार शान्ति स्थापित करने के लिए शत्रु के सामने सामूहिक रूप में उपस्थित होने का सर्वोत्तम ढग बड़े बडे राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों में विचारों का विश्वस्त और खुला आदान प्रदान था। बीसवीं सदी में तो अन्य राष्ट्रों से अपनी रक्षा करने के लिए कान्फ्रेंसें बुलाकर योजनाएँ बनाने का विचार कोई नया नहीं प्रतीत होता परन्तु कैसलरे के समय में ऐसा विचार क्रान्ति मचा देने वाले किसी विचार से कम नहीं समझा जाता था। अपने इसी एक कार्य से कैसलरे इतिहास के एक महान् शान्ति स्थापित करने वाले व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

कैसलरे चार बडे बड़े राष्ट्रों को परस्पर एक दूसरे के निकट लाने के उद्देश्य से ही यूरोप गया था और दो मास के अन्दर अन्दर की गई मार्च 1814 ई की शामोंट (Chaumont) की सन्धि उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण और एक बडी भारी सफलता थी। इस सन्धि के द्वारा चारों राष्ट्रों ने युद्ध को तब तक जारी रखने की प्रतिज्ञा की जब तक फ्रॅंस शान्ति का समझौता करने के लिए तैयार नहीं हो जाता। इन राष्ट्रों में से प्रत्येक राष्ट्र ने युद्ध के लिए शस्त्र आदि देना भी स्वीकार किया। यह समझौता बीस वर्षों के लिए किया गया और मित्रराष्ट्रों ने बीस वर्षों तक फ्रॉस के द्वारा शान्ति के समझौतों की शर्तों को तोडने का प्रयत्न करने पर सामूहिक रूप से यूरोप की ओर से फ्रॅंस के विरुद्ध लडने का वचन

दिया। इस संधि पत्र पर हस्ताक्षर किए जाने के कुछ समय पश्चात् नेपोलियन को फ्रांस के सिंहासन से उतार दिया गया और अब पेरिस मे समझौते की बातचीत आरम्भ हो गई।

वियना काँग्रेस में इंग्लैण्ड ने आस्ट्रिया रूस और प्रशा के साथ मैत्रीपूर्ण भूमिका अदा की। इंग्लैण्ड को इतने ऊँचे स्थान पर पहुँचाने का श्रेय बहुत कुछ लॉर्ड कैसलरे को ही था जिसको न केवल ब्रिटिश ससद् और मन्त्रिमण्डल का विश्वास प्राप्त था बल्कि जिसे यूरोप के राजनीतिज्ञों का विश्वास प्राप्त करने मे भी सफलता मिली। नवम्बर 1815 में शान्ति सन्धि को तैयार करने में कैसलरे ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। ड्यूक ऑफ वैलिंग्टन, मेटरनिख तथा जार से उसे इस कार्य में विशेष सहायता मिली। इस सन्धि की एक छोटी धारा पर वाद विवाद के समय कैसलरे को अपनी योजना को क्रियात्मक रूप देने का अवसर मिल गया। इस प्रस्तावित धारा में यह उल्लेख था कि फ्रांस के बारे मे विचार विमर्श करने के लिए यूरोप के राजनीतिज्ञों को समय समय पर मिलना चाहिए किन्तु कैसलरे ने इस धारा का स्वरूप ही बदल दिया और शब्दों तथा भावों की दृष्टि से उसे बहुत अधिक निखार दिया। अब धारा का नया रूप यह बन गया—

"इस सन्धि को कार्यान्वित करने के कार्य को सरल बनाने और इसकी रक्षा करने के लिए तथा ससार के लिए हितकर चारों राष्ट्रों के मेल मिलाप को बढाने वाले सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ करने के लिए इस सन्धि में भाग लेने वाले मुख्य देश यह स्वीकार करते हैं कि वे नियत समय के बाद सम्मेलन बुलाते रहेगे। अपने सामान्य हितों के बारे में विचार विमर्श करने के लिए और समयानुकूल आवश्यक तथा लाभदायक कदम उठाने के लिए तथा देशों को पुनः समृद्ध बनाने एव यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए सम्मेलनों में या तो इन राष्ट्रों के राजा अथवा उनके प्रतिनिधि भाग लेंगे।'

कैसलरे के प्रयत्नों से सन्धि में जो धारा रखी गई वह यूरोप में शान्ति स्थापित करने की दिशा में बड़ी देन थी। इसमें हमें राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणा पत्रों की झलक मिलती है। यूरोप की सयुक्त व्यवस्था की स्थापना भी इसी धारा के आधार पर स्थापित हो सकी थी। दुर्भाग्यवश कैसलरे की यह आशा पूरी तरह साकार नहीं हो सकी कि यूरोप के विवादों को इस सन्धि की धारा के अनुसार नियन्त्रित किए गए सम्मेलन सुलझा लिया करेंगे और इस प्रकार यूरोप में शान्ति बनी रह सकेगी। सम्मेलनों द्वारा समस्याओं और विवादों का फैसला करने के महत्व को जितना अधिक कैसलरे समझ पाया था उतना अन्य कोई नहीं। सयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों में दूसरे राष्ट्रों से विशेषकर आस्ट्रिया से ब्रिटेन का मतभेद बढ़ता ही गया। जहाँ मेटरनिख की कूटनीति हर जगह इच्छानुसार हस्तक्षेप करने की होती थी वहाँ इंग्लैण्ड की नीति यथासम्भव निर्हस्तक्षेप की थी। कैसलरे यद्यपि चतुर्मुखी मैत्री से अलग नहीं होना चाहता था किन्तु साथ ही वह इस बात पर भी दृढ़ प्रतिज्ञ था कि वह दूसरे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप की नीति को सफल नहीं होने देगा। अपनी मृत्यु के कुछ ही समय पहले वह वेरोना सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो रहा था और यह निश्चय कर चुका था कि वह यूरोपीय राष्ट्रों को स्पेन मे हस्तक्षेप करने से तथा फर्डिनेण्ड सप्तम को पुनः गद्दी पर बैठाने से रोकेगा। दुर्भाग्यवश सम्मेलन में भाग लेने से पूर्व ही उसने आत्म हत्या कर ली किन्तु उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड केनिंग ने उसके ही सिद्धान्तों पर आचरण किया।

निसंदेह कैसलरे यूरोप में स्थायी शान्ति स्थापित करने में तो सफल नहीं हुआ तथापि उसके सुझाव ही राष्ट्रसंघ के संविदा और संयुक्तराष्ट्रसंघ के चार्टर के आधार बने। कैसलरे की रचनाओं का बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करने वाले इतिहास वेत्ताओं के द्वारा ही उसकी योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। 'कैसलरे की विदेश नीति' नाम की अपनी पुस्तक में वेब्स्टर ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ विदेश मन्त्री माना है। सीटन वाटसन (Seton Watson) ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में हुए विदेश मन्त्रियों में से एक श्रेष्ठ और सम्बन्धों को बनाने वाला विदेशमन्त्री कहा है।

बिस्मार्क
(Bismarck)

बिस्मार्क सम्राट विलियम प्रथम के शासनकाल में जर्मन साम्राज्य का भाग्य विधाता बना रहा और यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कैसर विलियम द्वितीय (1888 से 1918 तक) के सत्तारूढ़ होने से पूर्व तक जर्मनी का शासक वास्तविक रूप से चाँसलर बिस्मार्क ही रहा। देश की गृह और विदेश नीति के निर्धारण में उसकी सत्ता और महत्त्व असीमित रही।

सन् 1871 से बिस्मार्क के सम्पूर्ण राजनय का लक्ष्य नवनिर्मित जर्मन साम्राज्य को स्थायित्व और दृढ़ता प्रदान करना तथा यूरोप में जर्मनी के वर्चस्व को बनाए रखना था। जर्मनी का एकीकरण करके उसे एक संगठित और शक्तिशाली राज्य बनाने का स्वप्न वह पूरा कर चुका था और अब जर्मनी एक 'तृप्त' (Satiated) राष्ट्र था अतः बिस्मार्क युद्ध की नीति को जर्मन साम्राज्य के लिए हितकर नहीं समझता था। इसलिए अपने शासनकाल में वह यूरोप में शान्ति बनाए रखने को प्रयत्नशील रहा। यद्यपि उसने जर्मनी का निर्माण सैनिक आधार पर किया लेकिन वह इसके लिए साध्य नहीं बल्कि साधन था। बिस्मार्क चाहता था कि जर्मनी का एकीकरण स्थिर रहे और विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिले। सन 1871 से 1890 के अपने प्रधान मन्त्रित्वकाल में बिस्मार्क के राजनयिक सिद्धान्त मेटरनिख से मिलते जुलते थे। मेटरनिख के समान ही बिस्मार्क का भी प्रयत्न यही रहा कि यूरोप में यथापूर्व स्थिति बनी रहे वह यह भी जानता था कि यूरोप की शान्ति मुख्यतः दो कारणों से भंग हो सकती है—प्रथम फ्रांस की प्रतिशोध की भावना से एवं द्वितीय, बल्कान क्षेत्र में आस्ट्रिया तथा रूस की प्रतिद्वन्द्विता से। अतः बिस्मार्क का यह प्रयत्न रहा कि एक ओर तो फ्रांस को मित्रहीन बनाए रखा जाए और दूसरी ओर रूस तथा आस्ट्रिया से मैत्री स्थापित की जाए। अधिक स्पष्ट रूप से बिस्मार्क के राज के अथवा कूटनीति के मुख्य उद्देश्य या मूल सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

1 सीमा विस्तार की नीति का परित्याग करके यूरोप में शान्ति बनाए रखी जाए ताकि जर्मनी का विघटन न होने पाए और उसे विकास का अवसर मिले।
2 फ्रांस को यूरोप के अन्य राज्यों से बिल्कुल अलग किया जाए।
3 यूरोप में 'यथापूर्व स्थिति' (Status-quo) बनाए रखी जाए।
4 जर्मनी को एक महाद्वीपीय (Continental) देश के रूप में प्रस्तुत किया जाए साम्राज्यवादी देश के रूप में नहीं।

5 इग्लैण्ड आस्ट्रिया रूस और इटली—इन प्रमुख राज्यों से घनिष्ठता स्थापित की जाए, ताकि यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखी जा सके।

6 फ्रॉस को आन्तरिक रूप से भी निर्बल बनाए रखा जाए।

7 जर्मन विदेश नीति में पूर्वी समस्या को कोई महत्व न दिया जाए।

8 अल्सेस-लारेन से फ्रॉस का ध्यान हटाने के लिए उत्तरी-अफ्रीका में फ्रॉस की औपनिवेशिक आकाँक्षाओं को प्रोत्साहित किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी को सुदृढ़ता प्रदान करने तथा उसका यूरोप में वर्चस्व स्थापित करने के उपर्युक्त उद्देश्यों से प्रेरित होकर बिस्मार्क ने अनेक उल्लेखनीय राजनयिक कदम उठाए, जिनमें प्रमुख थे—(1) तीन सम्राटों का सघ (Dreikaiserbund or Three Emperors' League), (2) द्वि गुट निर्माण (Dual Alliance), (3) बर्लिन सन्धि एव तीन सम्राटों के सघ को पुनर्जीवन (4) त्रि-गुट या त्रि-राष्ट्र सन्धि (Triple Alliance), (5) रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध और पुनराश्वासन सन्धि (*Re-insurance Treaty with Russia*), (6) बिस्मार्क इग्लैण्ड सम्बन्ध के प्रयत्न (7) आस्ट्रिया रूमानिया से मैत्री सन्धि और (8) "यूरोपीय महाद्वीप तक सीमित दृष्टिकोण। तीन सम्राटों के सघ (1873) के कारण फ्रॉस रूस और ऑस्ट्रिया का मित्र बनने में असमर्थ हो गया। यह बिस्मार्क की एक सफल कूटनीतिक चाल थी। प्रो लैंगर के अनुसार तीन सम्राटों का यह सघ विस्तृत यूरोप में क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध एक नवीन पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी[1] जबकि एरिख आयक के मत में इसको नवीन पवित्र मैत्री मानना अतिशयोक्ति है।[2] इस सघ का तात्कालिक स्वरूप जो भी रहा हो वह बहुत दिनों तक वैसा नहीं रह सका जैसा कि आरम्भ में था। 7 अक्तूबर, 1879 को आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच जो रक्षात्मक सन्धि हुई उसे द्वि-गुट सन्धि कहते हैं। सन्धि पूर्णत गुप्त रखी गई। वास्तव में यह सन्धि मुख्यतया रूस के विरुद्ध और गौण रूप से फ्रॉस के विरुद्ध रक्षात्मक सन्धि थी। बिस्मार्क की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय गुट-निर्माण का वह सिलसिला शुरू हुआ जो प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक यूरोपीय कूटनीति के क्षेत्र में अपना विशेष प्रभाव जमाए रहा। 18 जून 1881 को बिस्मार्क के प्रयत्नों से एक बार फिर 'तीन सम्राटों के सघ या त्रि राज्य सघ को पुनर्जीवन मिला। इस सन्धि के सम्पन्न होने पर 1881 तक यूरोप में बिस्मार्क की स्थिति सुदृढ़ हो गई। सन्धि के तीन तात्कालिक परिणाम स्पष्ट दिखाई दिए—(1) यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध तीन राजतन्त्रों में एकता स्थापित हो गई (2) आस्ट्रिया एव रूस के बीच शान्ति सुरक्षित हो गई तथा जर्मनी अपने दो पड़ोसियों में से एक का चुनाव करने की कठिन स्थिति से बच गया एव (3) रूस तथा फ्रॉस के बीच मित्रता की सम्भावना समाप्त हो गई। 1885 87 के 'बल्गेरियन सकट के समय इस 'त्रि सम्राट् सघ' का अन्त हो गया। 20 मई 1882 को आस्ट्रिया जर्मनी और इटली के बीच एक सन्धि हुई। इन तीनों देशों के गुट को त्रि-गुट सन्धि (Triple Alliance) कहा गया। यह बिस्मार्क के कूटनीतिक कमाल का सबसे बड़ा नमूना कहा जा सकता है। इसके द्वारा बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली जैसे परस्पर विरोधी राज्यों को आपस में मिलाए रखा और इस तरह फ्रॉस को किसी भी राज्य

1 *William Langer* European Alliances and Alignments p 25
2 *Arich Eych* Bismarck and the German Empire, p 191

सन् 1871 से लेकर 18X0 तक बिस्मार्क यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा लेकिन इस सम्पूर्ण समय में उसने यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने का प्रयत्न किया। बिस्मार्क ने कहा था— 'जर्मनी पूर्ण रूप से एक सन्तुष्ट राष्ट्र है। यद्यपि युद्ध द्वारा जर्मनी को राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रधानता मिली है किन्तु यदि जर्मनी पुन युद्ध का मार्ग ग्रहण करेगा तो उसकी सारी सफलताएँ नष्ट हो जाएँगी। युद्ध होने से यूरोप की सारी शक्तियाँ सम्मिलित होकर जर्मनी के विरुद्ध खड़ी हो जाएँगी और फलस्वरूप जर्मनी की आन्तरिक सुरक्षा भी जो उसके राजनीतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है काफूर हो जाएगी। इसलिए जिस प्रकार कि आस्ट्रिया में 1815 के बाद मेटरनिख की यह नीति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहे उसी प्रकार 1870 से 1890 तक बिस्मार्क की भी यही नीति रही कि जर्मनी के हित में अन्तर्राष्ट्रीय यथास्थिति (Status quo) बनी रहे। बिस्मार्क ने वियना में संस्थापित शक्ति सन्तुलन में कई बार गड़बड़ की थी वही बिस्मार्क अब उस शक्ति सन्तुलन का संरक्षक था जो कानिग्रेज (Koniggratz) और सेडान (Sedan) में स्थापित किया गया था। बिस्मार्क को फ्रांस से डर था अत फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टि से अकेला करने के लिए और जर्मनी को सुरक्षित बनाने के लिए बिस्मार्क ने कुछ देशों के साथ विस्तृत कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए और यह प्रयत्न किया कि जर्मनी के विरुद्ध किसी भी तरह का कोई गुट न बन सके। जर्मनी की शत्रुता फ्रांस से थी और बिस्मार्क की कूटनीतिक सफलता इसी में थी कि वह फ्रांस को कूटनीतिक रूप से अकेला कर दे। इस दिशा में उसने आस्ट्रिया से प्रगाढ़ मैत्री स्थापित की और इटली को भी अपनी ओर मिला लिया तथा रूस से भी मैत्री कर ली। उधर उसने ब्रिटेन से भी अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे। फलस्वरूप बिस्मार्क अपने पतनकाल तक अपने उन उद्देश्यों की रक्षा कर सका जो नवीन जर्मन साम्राज्य का शीलान्यास करते समय उसने अपने मन में सजोये थे।

बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक गुत्थीदार सुरक्षा की व्यवस्था की जिसमें सन्धियाँ और सन्धियों के विरोध में नई सन्धियाँ थीं। बिस्मार्क ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इसका ताना बाना बुना फिर भी वह जानता था कि युद्ध को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सकेगा अत उसने जर्मनी की सैनिक शक्ति को खूब बढ़ाया और उसे यूरोप के एक सबसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिणत कर दिया। बिस्मार्क ने अपने पतन के समय तक जर्मनी के प्रभुत्व की रक्षा की अपनी सन्धि व्यवस्थाओं का सचालन किया अपने देश के विरुद्ध किसी शक्तिशाली गुट को उभरने नहीं दिया और यूरोप को स्थायित्व देते हुए अपनी पीढ़ी मे शान्ति बनाए रखी।

यह सब कुछ होने पर भी बिस्मार्क की व्यवस्था में कुछ गम्भीर कमियाँ और दोष थे जिनका वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

(1) जर्मनी आस्ट्रिया और रूस के गुट परस्पर विरोधी तत्व थे अत रूस जर्मनी से निरन्तर दूर होता गया और आस्ट्रिया तथा रूस में तो मित्रता बनी रहने की बात ही नहीं थी।

(2) बिस्मार्क की व्यवस्था की आधारशिला कमजोर थी। उसने इगलैण्ड को उतना अधिक महत्व नहीं दिया जितना देना चाहिए था। जर्मनी की सुरक्षा व्यवस्था में अथवा

जर्मनी की मैत्री सन्धियों में इंग्लैण्ड का कोई स्थान न होना जर्मनी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ।

(3) बिस्मार्क ने कुछ समय के लिए फ्रांस का पृथक्करण कर दिया लेकिन उसने न तो फ्रांस के क्षोभ को दूर करने की कोशिश की और न उसका निरस्त्रीकरण ही किया। फ्रांस के साथ व्यवहार करने में बिस्मार्क ने अदूरदर्शिता से काम लिया यदि उसने आस्ट्रिया की भाँति फ्रांस के साथ भी उदारता का व्यवहार किया होता तो सम्भवतः फ्रांस सेडान की पराजय भूल जाता। बिस्मार्क ने फ्रांस के विरुद्ध सन्धियों का जाल खड़ा कर दिया, अतः फ्रांस को भी अपने लिए मित्रों की खोज करनी पड़ी जिससे अन्ततोगत्वा जर्मनी को नुकसान पहुँचा।

(4) बिस्मार्क ने इटली को अपनी व्यवस्था में समुचित स्थान नहीं दिया।

(5) बिस्मार्क की सन्धियाँ सुरक्षात्मक थीं लेकिन एक डिप्लोमेटिक व्यवस्था में दोनों पक्षों की सुरक्षात्मक सन्धियों का आक्रमणात्मक सन्धियों में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। सन्धियाँ और मैत्री यूरोप में पहले भी होती रहती थीं लेकिन विशेषकर युद्ध के समय। शान्ति के समय एक देश को दूसरे देश के विरुद्ध तैयार करना अथवा किसी देश को एकाकी और मित्रहीन बनाना बिस्मार्क ने शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि विरोधियों ने बिस्मार्क की सन्धियों के विरुद्ध प्रति सन्धियाँ बना लीं और इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप दो सैनिक शिविरों में विभाजित हो गया।

(6) गुप्त कूटनीति (Secret Diplomacy) और गुप्त सन्धियों (Secret Alliances) द्वारा बिस्मार्क ने यूरोप के राजनीतिक वातावरण को आशंकाओं, अनिश्चितताओं और सन्देहों से भर दिया।

जब तक बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर रहा सब कुछ ठीक से चलता रहा लेकिन उसकी नीतियों को उसके उत्तराधिकारी सुचारू रूप से नहीं चला सके। फल यह हुआ कि बिस्मार्क के जाते ही उसकी व्यवस्था भी छिन्न भिन्न होने लगी। बिस्मार्क के उत्तराधिकारी उसकी नीतियों का अनुसरण नहीं कर सके। इसका परिणाम यह निकला कि रूस जर्मनी से विमुख हो गया और फ्रांस के पक्ष में झुक गया। यह बिस्मार्क की फ्रांस को एकाकी बनाए रखने और फ्रांस रूस मिलन न होने देने के सम्बन्ध की दुखदायी पराजय थी।

वुडरो विल्सन
(Woodrow Wilson, 1913-21)

वुडरो विल्सन एक स्वप्नद्रष्टा और आदर्शवादी होते हुए भी लिंकन के बाद सबसे पहला अधिक यथार्थवादी और निपुण राजनीतिक नेता था।

विल्सन राजनीति शास्त्र का प्राध्यापक था। अतएव वह चिन्तक था। उसने अमेरिकी प्रशासन पर विद्वत् ग्रन्थ लिखे थे। उसमें पूर्ण मिलन (O J Testum ri) प्लेटो के दार्शनिक राजा एवं मैकियावली के राजकुमार के तत्वों का सम्मिश्रण था। लिंकन की भाँति वह समय के साथ अपने उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध हुआ।

विल्सन शान्ति के साथ में विश्वास करता था, झगड़ों को वार्ता के माध्यम द्वारा सुलझाने का पक्षधर था। वह आदर्शवादी था। जब दूसरी बार वह राष्ट्रपति चुना गया तब

उसे इस बात की गम्भीर चिन्ता थी कि विश्व की तनावपूर्ण स्थिति को देखते हुए अमेरिका को तटस्थता के पायदान पर नहीं रखा जा सकता था। विल्सन शान्ति का समर्थक था। वह अच्छी तरह जानता था कि विश्व युद्ध मे अमेरिकी प्रदेश से अमेरिकियो की विचारधारा दर्शन एव साहित्य पर युद्धप्रियता का भारी प्रभाव पडेगा। विल्सन ने अमेरिकी प्रस्तावो को शान्ति के लिए प्रस्तुत किया जिन्हे यूरोपीय शक्तियों ने अस्वीकार कर दिया। अमेरिका ने तटस्थता की घोषणा की। 4 सितम्बर 1914 को काँग्रेस के नाम अपने राजनयिक सन्देश में विल्सन ने कहा कि— 'यह स्थिति हमारे द्वारा निर्मित नहीं है लेकिन यह हमारे सामने है। यह हमे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है मानो हम उन परिस्थितियों के भागीदार है जिन्होंने इसे जन्म दिया। हम इसका भुगतान करेंगे यद्यपि हमने जानबूझकर इसे जन्म नहीं दिया है।' अमेरिका महायुद्ध से अछूता नहीं रह सकता था फिर भी 1914 मे कोई अमेरिकी नहीं जानता था कि उन्हें युद्ध मे सलग्न होना पडेगा। जब जर्मनी की यू बोटों (U Boats) ने अनियन्त्रित युद्ध शुरू कर दिया तो जर्मनी के विरुद्ध अन्तिम शक्तिशाली तटस्थ देश अमेरिका भी युद्ध मे प्रविष्ट हो गया। 2 अप्रेल 1917 को विल्सन ने काँग्रेस को अपना प्रसिद्ध सन्देश भेजा जिसमे उसने अपने देश को सलाह दी कि वह युद्ध मे प्रवेश करे और विश्व की लोकतन्त्रीय शक्तियों की रक्षा करे। उक्त सन्देश मे उसने कहा "जिन सिद्धान्तों को हम हृदय से चाहते हैं उनकी रक्षार्थ हम अवश्य लडेंगे। हम लोकतन्त्र की रक्षा करेंगे। हम उन लोगों के अधिकारों की अवश्य रक्षा करेंगे जो किसी न्यायपूर्ण सत्ता का आदर करते है और इस प्रकार अनुशासन में रहकर अपने शासन मे कुछ अधिकार चाहते हैं। हम सभी छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्राओं की आवश्यक रक्षा करेंगे। हम अवश्य चाहेंगे कि सारे ससार में स्वतन्त्र लोगों को न्यायपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहे जिससे सभी देशों मे शान्ति और सुरक्षा बनी रहे और इस प्रकार का सारा विश्व स्वतन्त्र रहे। आज अमेरिका के सौभाग्य से वह दिन आ गया है जबकि हमारे नागरिक अपना रक्त और अपनी शक्ति उन सिद्धान्तों की रक्षार्थ व्यय करेंगे जिनके आधार पर अमेरिका का जन्म हुआ था जिनके आधार पर अमेरिका को सुख और समृद्धि प्राप्त हुई थी तथा वह अमूल्य शान्ति प्राप्त हुई जिसे वह अत्यन्त महत्व की दृष्टि से देखता आया है।"

शान्तिप्रिय विल्सन विवश था। अमेरिका के भविष्य के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात थी कि उसे ऐसा व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप मे मिला था जिसने इस युद्ध के आधार को मोक्ष और सुधार [1] की सज्ञा मे परिणत कर दिया। 17 जनवरी 1917 के भाषण का एक अश उसकी सम्पूर्ण मानवता के प्रति सवेदनशील विचारों को अभिव्यक्त करता है—

"बिना किसी पक्ष की विजय के शान्ति प्रत्येक जाति के लिए आत्म निर्णय का सिद्धान्त सामुद्रिक स्वतन्त्रता अस्त्र शस्त्रों का परिसीमन उलझाने वाली सन्धियो का उन्मूलन तथा आक्रमण की रोक के लिए सामूहिक सरक्षण की व्यवस्था।"

2 अप्रेल को विल्सन ने काँग्रेस के सामने उपस्थित होकर युद्ध की घोषणा करने की अनुमति माँगी। "इस महान् शान्तिपूर्ण जनता को युद्ध की ओर—जो सबसे अधिक भयानक और विध्वसक युद्ध है ले जाना भयावनी बात है। सभ्यता स्वय भी सकट के पलड़े मे झूल रही है किन्तु न्याय शान्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है और हम ऐसी वस्तुओं के

1 W H Brock The Character of American History p 204

लिए लड़ेंगे जो हमें अत्यधिक प्रिय रही हैं। लोकतन्त्र के लिए, ऐसे लोगों के अधिकारों के लिए जो शासन का इसीलिए मान करते हैं कि उनकी सरकार में उनकी सुनवाई हो, छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिए लोगों को ऐसे संगठनों द्वारा विश्व के न्याय शासन के लिए जो सभी राष्ट्रों को शान्ति और सुरक्षा दिलाए और अन्त में सर्व विश्व को स्वतन्त्र बना सके। ऐसे ही लोग कार्य को अपना जीवन और अपना सर्वस्व समर्पित कर सकते हैं। इस अभिमान के साथ कि वह दिन आ गया है जब अमेरिका को अपना रक्त और अपनी शक्ति अपने सिद्धान्तों के लिए जिन्होंने उसे जन्म और सुख-शान्ति दी है जिसे उसने सुरक्षित रखा है खर्च करनी चाहिए यदि ईश्वर की कृपा रही तो वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकता।"

युद्ध के पश्चात्, चाहे विल्सन को पराजय का सामना करना पड़ा हो और चाहे नवयुग के वास्तविकतावादियों ने उसकी कटु आलोचना की हो, उसका स्थान अमेरिकी इतिहास एवं राजनीति को मोड़ देने वाला था। उसके हृदय से निकलने वाले शब्द इतने मार्मिक थे कि सारा राष्ट्र उसकी आवाज पर तानाशाही पर प्रजातन्त्र की बर्बरता पर सभ्यता की विजय के लिए युद्ध में कूद पड़ा। समुद्र पार के देशों में वह न केवल एक अद्वितीय महापुरुष के रूप में प्रकट हुआ, बल्कि एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पहचाना जाने लगा, जो विश्व में शान्तिप्रिय, सुखद व व्यवस्थित जीवन की रक्षा के लिए अवतरित हुआ हो।[1]

नेविन्स एवं कौमेजर के शब्दों में—"शक्ति अधिकाधिक शक्ति, शक्ति बिना किसी रुकावट या सीमा के यह वचन राष्ट्राध्यक्ष विल्सन ने दिया था और राष्ट्र इस वचन की पूर्ति के लिए अविलम्ब कार्यरत हो गया। इसके पूर्व की किसी सरकार ने युद्ध में इससे अधिक बुद्धिमानी और कार्यक्षमता नहीं दिखलाई थी। इसके पूर्व अमरिका वासियों ने भी ऐसी स्फूर्ति, साधन-सम्पन्नता और आविष्कार बुद्धि का प्रभावशाली प्रदर्शन नहीं किया था।"[2] विश्व की शान्ति युद्ध का नारा बन गया था।[3]

युद्ध-विराम सन्धि के पश्चात् विल्सन जब अपने सचिव की सलाह न मानकर दिसम्बर, 1918 में पेरिस शान्ति सम्मेलन में पहुँचा तो उसका 'शान्ति के मसीहा' के रूप में स्वागत हुआ। यूरोप में उस समय यह भावना विद्यमान थी कि केवल विल्सन ही ऐसा व्यक्ति है जो विभिन्न राष्ट्रों के राग द्वेष और उनकी ईर्ष्या-भावना से ऊपर उठा हुआ एवं मानवता का रक्षक है। अतः जब यह दार्शनिक राजा अपने सिद्धान्तों की पुस्तिका हाथ में लेकर नैतिक शक्ति से लैस सन्धि की शर्तें निर्धारित करने आया तो यूरोप के सभी देशों में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। जब वह पेरिस पहुँचा तो फ्रांसीसी उसे देखकर आनन्द-विभोर हो उठे। सड़कों पर अपार जन समूह ने उनकी स्तुति की और अखबारों ने उसके गुणगान किए। वास्तव में सभी की आँखें उसकी ओर लगी थीं। विश्व न्याय की विविध दल की और सम्पन्न जन शक्ति की आशा करते थे।

विल्सन इस सम्मेलन में शान्ति का दूत बनकर आया था। वह नहीं चाहता था कि पेरिस सम्मेलन 1815 के वियना काँग्रेस जैसे निहित स्वार्थों का गढ़ बन जाए।

1. डॉ. शर्मा - वही, पृष्ठ 2[illegible]
2. Nevins and Commager: A Short History of United States, pp. [illegible]
3. नैविन्स एवं कौमेजर : संयुक्त राज्य का इतिहास, पृ. [illegible]

विल्सन ने अपने विचारों को प्रसिद्ध 14 सूत्रों (Fourteen Points) के रूप मे प्रस्तुत किया जिसके आधार पर न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती थी। विल्सन खुले राजनय का पक्षधर था और उसके 14 सूत्रों मे प्रथम सूत्र यही था कि—शान्ति के समझौते सार्वजनिक रूप से किए जाएँगे कोई गुप्त समझौता नहीं होगा। इन सिद्धान्तों की मित्रराष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने भी सराहना की थी। उनके पास युद्धोत्तर समस्याओं का समाधान करने के लिए उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त और क्या था ? और पराजित राष्ट्रों ने भी इन सिद्धान्तों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की परन्तु आदर्शों एवं सिद्धान्तों की अन्ततः शक्ति पूजक राष्ट्रों के सामने कुछ न चल सकी। इस सम्मेलन में भी राष्ट्रवादी विचारों व्यक्तिगत स्वार्थों का बोलबाला रहा जिनका वियना काँग्रेस (1815) मे भी प्राधान्य रहा था। फ्रॉस का क्लेमेंसो और इग्लैण्ड का जार्ज लॉयड दोनों ने ही विल्सन पर अपनी हठवादिता को थोपने में सफलता प्राप्त की। इस सम्मेलन में विल्सन अकेला पड गया था। वियना कॉग्रेस के पश्चात् यूरोप मे इस प्रकार इतने विशाल पैमाने पर विश्व स्तर का कोई सम्मेलन नहीं हुआ था।

प्रिन्सटन में राजनीति दर्शन का यह भूतपूर्व प्रोफेसर एक प्रतिभाशाली वक्ता तथा आदर्शवादी विचारक था। वह कठोर विश्वासों का व्यक्ति था जिसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तो उच्च कोटि की थी लेकिन इतनी कूटनीतिक योग्यता नहीं थी कि वह अन्य प्रतिनिधियों को पराजित राष्ट्रों के साथ उदार व्यवहार के लिए तैयार कर सके। स्टेनार्ड बेकर के शब्दों में "जिस किसी ने भी उसको (विल्सन को) काम करते देखा उसकी कभी हिम्मत नहीं हुई कि वह विल्सन के समक्ष अथवा उसकी पीठ पीछे निन्दा करने का साहस करता।' विल्सन का यह विश्वास था कि राष्ट्रसघ की स्थापना से ही मानव जाति की रक्षा हो सकती है अत वह इसे सब शान्ति सन्धियों का अनिवार्य अग बनाना चाहता था। किन्तु वह मानसिक दृष्टि से लॉयड जॉर्ज तथा क्लेमेंसो के समान कुशाग्र नहीं था और अपने पूर्व निर्धारित विचारों पर विशेष रूप से भरोसा रखता था अत वह कूटनीति के क्षेत्र मे और राजनीतिक सौदेबाजी के नौ सिखिया के रूप में सिद्ध हुआ। उसके आदर्शवाद और राष्ट्रसघ की स्थापना के अत्यधिक उत्साह का दूसरे देशों ने पूरा लाभ उठाया। अन्य देश राष्ट्रसघ के निर्माण की बात मान ले इसके लिए विल्सन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था यहाँ तक कि राष्ट्रसघ के लिए वह अपने 14 सूत्रों के अनेक सिद्धान्तो की अवहेलना करने के लिए भी तैयार हो गया। पाल बर्डसल (Pal Birdsall) के कथनानुसार वह क्षतिपूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों पर ब्रिटेन फ्रॉस और जापान विल्सन से राष्ट्रसघ के नाम पर प्राय अपनी अधिकॉश बाते मनवाने मे सफल हुआ। चीनी जनता द्वारा बास हुआ शाण्टुङग का प्रदेश विल्सन के आत्म निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर चीन को मिलना चाहिए था किन्तु विल्सन ने राष्ट्रसघ की स्थापना के लिए अन्य महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की इच्छा से इसे जापान को देने का निर्णय किया। यह निर्णय स्वयमेव विल्सन द्वारा अपने सिद्धान्तों पर कुठाराघात था। फिर भी पेरिस सम्मेलन मे यदि पराजितों के साथ थोड़ी नरमी बरती गई तो वह विल्सन के कारण ही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि विल्सन सम्मेलन मे न होता तो लॉयड जॉर्ज और क्लेमेंसो न जाने क्या से क्या कर देते।

विल्सन ही उनकी असीम आकाँक्षाओं पर अकुश लगाता रहा। यदि विल्सन न होता तो फ्राँस जर्मनी का नामोनिशान मिटाकर ही दम लेता।

विल्सन के दो उद्देश्य थे प्रथम न्यायपूर्ण समझौता जिसके अनुसार आत्म निर्णय के सिद्धान्त पर राष्ट्रों की सीमाओं का निर्धारण हो ताकि परस्पर शान्ति स्थापित हो सके। द्वितीय राष्ट्रसघ की स्थापना। पहले उद्देश्य में वह सफल नहीं हुआ क्योंकि जो शान्ति दी गई वह थोपी हुई शान्ति थी न कि आत्म निर्णय के आधार पर या समझौता वार्ता की शान्ति। परन्तु उसे दूसरे उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। राष्ट्रों के सघ का विचार मौलिक नहीं था और कई देशों में कई लोगों ने इस विचार को स्पष्ट करने में योगदान दिया था किन्तु जिस राष्ट्रसघ (League of Nations) की अन्तिम रूप से स्थापना की गई थी वह विल्सन की ही सृष्टि थी और उसके आदर्शों का मन्दिर था।[1]

कुछ विद्वानों का विचार है कि विल्सन ने स्वय पेरिस में आकर एक भारी भूल की। यदि वह वाशिंगटन में रहकर ही अमेरिकन प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो बहुत सम्भव था कि उसका प्रभाव अधिक व्यापक होता, पर विल्सन को सर्वाधिक चिन्ता राष्ट्रसघ की थी और उसकी अभिलाषा थी कि विश्व सस्था के विधान का निर्माण वह स्वय करे। लेकिन अमेरिकन सीनेट ने विल्सन के राष्ट्रसघ की सदस्यता के प्रस्ताव को नहीं माना। सन् 1918 में काँग्रेस के चुनावों में विल्सन विरोधी रिपब्लिकन दल को काँग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो गया और सीनेट ने राष्ट्रसघ के विधान एव वर्साय की सन्धि को स्वीकार करने के मसविदे को रद्द कर दिया। यह मानवता के एक महान् पैगम्बर का दु खमय पराभव था।

तेलेराँ
(Tallaron 17>4 1838)

फ्राँस में उत्पन्न अग्रणी चतुर व्यक्तियों में तेलेराँ का स्थान प्रथम पक्ति में लिया जाता है। वह क्रान्तिकाल (1788 99) में बहुचर्चित प्रमुख व्यक्तित्व था। वह नेपोलियन के राज्य मे तथा सम्राट के आसीन होने पर किसी न किसी पद पर काम करता ही रहा। वह सामन्त वर्ग का था और चर्च का सदस्य भी था। एबे सिकार ने जिस निष्पक्षता से 1789 के पदासीन 1 1 बिशपों का मूल्यांकन किया है उनमें से केवल 15 को उसने सदाचारी धर्माधिकारियों में गिनाया है और रोहन ब्रीएन तथा तेलेराँ जैसे बडे बडे धर्माधिकारियों की उसने निन्दा की है। अनेक निष्पक्ष लेखकों ने एबे सिकार के मूल्यांकन से सहमति व्यक्त की है।

तेलेराँ बहुत चतुर और चालाक व्यक्ति था राजनय का कुशल खिलाडी था और परिस्थितियों के अनुसार चालाकी से अपनी स्वामिभक्ति बदल लेता था। वह अवसरवादी राजनय में विश्वास करता था। क्रान्तिकाल मे राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) के निर्माण के बाद जब 19 जून 1 ९9 के पादरियों ने तृतीय स्टेट के साथ मिल जाने का फैसला किया तो आर्क बिशप तेलेराँ ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोडने का असफल प्रयास किया। प्रो बालकृष्ण पन्दी ने लिखा है—

1 डॉ कश्यते दर्त पृ ???

"19 जून को उग्र विचार विमर्श के बाद पादरियों ने 137 के विरुद्ध 149 के बहुमत से जिनमें छ बिशप एव आर्क बिशप थे जन साधारण के साथ बैठने का फैसला किया। 19 जून क्रान्ति के इतिहास की निर्णायक तिथि कही जा सकती है क्योंकि इसी दिन पादरियों ने क्रान्ति की ओर मुड़ने वाला ऐतिहासिक कदम उठाया। कुलीनों में अभी भी प्रतिक्रियावादी तत्वों का प्रभाव अधिक था लेकिन उनमें फैली अव्यवस्था और फूट स्पष्ट होने लगी थी। एक दूसरे को चेतावनियाँ और धमकियाँ दी गईं और कुछ ने अपनी म्यानों से तलवारें तक निकाल लीं। इस तनावपूर्ण स्थिति में आर्क बिशप तेलेराँ ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोड़ने का असफल प्रयास किया। क्रान्ति के इतिहास में तेलेराँ जैसा भ्रष्ट एव अवसरवादी कोई अन्य चरित्र नहीं ढूँढा जा सकता। टैनिक कोर्ट की ऐतिहासिक शपथ की पूर्व रात्रि (19 जून) को वह मारल (जहाँ इस समय राजपरिवार रह रहा था) आया तथा राजा से गुप्त मुलाकात की प्रार्थना की। चूँकि राजा उसे पसन्द नहीं करता था अतएव उसने उसे अपने भाई की ओर भेज दिया। कौंत दे आरतुआ ने बिस्तर में होने पर भी उससे मुलाकात की। तेलेराँ ने 'सभा' के कार्यों को मूर्खतापूर्ण खतरनाक राजतन्त्र विरोधी तथा गैर कानूनी बताया और उसने उसे सलाह दी कि सरकार को दृढ़ता का परिचय देते हुए एता जैनेरो (स्टट्स जनरल) को भग कर देना चाहिए। तेलेराँ ने अपने समर्थकों के साथ मिलकर नया शासन स्थापित करने का प्रस्ताव भी दिया। परिवर्तित मताधिकार द्वारा नए निर्वाचन की योजना भी उसने बताई। उसने इस बात पर रोष और खेद प्रकट किया कि निर्बल व्यवस्था ने राष्ट्र को सिए के हाथों में फेंक दिया है। कौंत दे आरतुआ ने तुरन्त लुई 16वें के कक्ष में जाकर सारी योजना उसके सामने रखी परन्तु राजा ने साफ इन्कार कर दिया। तेलेराँ ने निराश होकर लौटते हुए इतना सकेत अवश्य कर दिया कि हर व्यक्ति को अपने हितों के अनुकूल परिवर्तित होने की स्वतन्त्रता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेलेराँ पर अवसरवादिता का आरोप लगाया जाता है।

तेलेराँ गुप्त और नाटकीय राजनय में कुशल था। उसका व्यवहार बड़ा नाटकीय और कभी कभी प्रभावशाली भी होता था। वह पक्का अवसरवादी था और धूर्ततापूर्ण चालाकी के कारण वह लगभग 50 वर्ष तक फ्रौंस की राजनीति से सम्बन्धित रहा। क्रान्ति काल में तेलेराँ ने 'सशोधित धर्म' का पिता बनना स्वीकार कर लिया और 24 फरवरी 1791 को उसका अन्य सौविधानिक बिशपों का शुद्धि सस्कार बड़े ठाठ बाट के साथ किया गया। एक राजनयज्ञ और एक आध्यात्मिक अधिकारी गुरु—दोनों ही रूपों में तेलेराँ ने अपना राजनयिक कौशल दिखाया। जब 14 जुलाई 1790 को बास्तील के पतन की वर्षगाँठ मनाई गई तो एक विशाल चल समारोह का आयोजन किया गया और तिरगे लबादे तथा सफेद वस्त्र धारण किए सैकड़ों पुजारियों ने नए चर्च के पिता तेलेराँ के साथ धार्मिक गीत गाए। 14 जुलाई 1797 की पुनर्गठित मन्त्रि परिषद् में तेलेराँ ने विदेश मन्त्री पद प्राप्त कर एक कुशल राजनयज्ञ के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया।

फ्रौंस के महान् राजनयज्ञ तेलेराँ और फ्रौंस के राजनय पर टिप्पणी करते हुए डॉ राय ने लिखा है—

रिशलू और कैलियर्स ने जहाँ राजनय के सिद्धान्तों की स्थापना की वहाँ तेलेराँ ने फ्रौंस की क्रान्ति तथा नेपोलियन के काल में राजनय का वास्तविक प्रयोग किया। तेलेराँ

राज्य शिल्प का विशेषज्ञ था। यह उसकी राजनयिक योग्यता का ही परिणाम था कि उसने यूरोपीय राज्य व्यवस्था का पुनर्निर्माण कर संयुक्त यूरोप की स्थापना की। तेलेरौं एक कुशल एवं निष्ठावान वार्ताकार था। वह समस्या के समाधान के लिए अपनी सम्पूर्ण योग्यता व शक्ति लगा देता था। यह तेलेरौं की राजनयिक योग्यता कुशलता और निपुणता ही थी कि उसने ब्रिटेन और आस्ट्रिया को रूस तथा प्रशा का डर बैठाकर फ्रांस के हितों को आगे बढ़ाया। यूरोपियन समत्व को बनाए रखने के लिए उसने यूरोपीय व्यवस्था का जो नया चित्र खींचा वह 'राजनयिक इतिहास की बहुत जानकारी उपलब्धि है। नेपोलियन महान् तेलेरौं का प्रशंसक था। आज भी तेलेरौं द्वारा लिखित सामग्री का अध्ययन किया जाता है। कुछ लोग तो सफल राजनय और तेलेरौं को समानार्थक मानते हैं।

इस प्रकार रिशलू से लेकर फ्रांस की क्रान्ति के काल तक फ्रांस का राजनय यूरोप का पथ-प्रदर्शक रहा है। निकल्सन के शब्दों में "फ्रांसीसी राजनय शिष्ट और सम्माननीय था।" यह सत्स्पर्शी और अनुक्रमनिक था। यह नैतिकता प्रधान था। यह ज्ञान और अनुभव को महत्व देता था। इसने यथार्थ को महत्व दिया। इसके अतिरिक्त इसने सद्भाव, स्पष्टता और परिशुद्धता को किसी भी दिरदस्त वार्ता के लिए आवश्यक बताया। इस काल में सन्धि-वार्ता ने कला का रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार एक लम्बे समय की राजनयिक परम्पराओं ने फ्रांसीसी राजनय को यूरोपीय तथा विश्व राजनयिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने में सहायता दी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के विश्व राजनय को फ्रांस द्वारा ही दिशा दी गई थी। निरन्तर प्रयासों के फलस्वरूप फ्रांस ने एक केन्द्रीय विदेश व्यवस्था की स्थापना की जिसके माध्यम से राज्य को अपने उद्देश्य प्राप्ति में सहायता मिली।

वी.के. कृष्ण मेनन
(V.K. Krishana Menon)

प्रधानमन्त्री नेहरू के समय भारत के विख्यात विदेश मन्त्री वी के कृष्ण मेनन अपने समय के महान् राजनयज्ञ थे जो आवश्यकतानुसार गुप्त और खुले राजनय का प्रयोग करते थे और जिनके भाषण की भूमि प्रायः वाद विवाद प्रतियोगिता वाली होती थी। डॉ पुष्पेश पन्त ने भारत और पाक राजनयिक शैलियों के टकराव का चित्र उपस्थित करते हुए मेनन और भुट्टो के राजनय को प्रकट किया है।[1]

सुरक्षा परिषद् में घण्टों बोलते-बोलते बेहोश हो जाने के बाद कृष्णा मेनन रातों-रात करोड़ों भारतीयों के लाड़ले बन गए थे। श्री वी के कृष्ण मेनन की विस्तृत वक्तृता पर फिर भुट्टो की नाटकीय और तीखेपन पर कुछ विश्लेषणात्मक टिप्पणियाँ डॉ पुष्पेश ने दी हैं जो इस प्रकार हैं–

1 मेनन ने मामले के कानूनी पक्ष पर जोर दिया। जैसा कि कृष्ण मेनन की जीवनी लेखक टी जे एस जॉर्ज ने लिखा है—"कुछ लोगों का मानना है कि मेनन कानूनी बाल की खाल निकालने लगे थे पर कश्मीर के साथ कानूनी पचड़े इस तरह जुड़े थे कि किसी ने उन्हें चुनौती नहीं दी।"

1 पुष्पेश पन्त भारतीय राजनय, पृ 93-95

2 अपने भाषण के दौरान कृष्ण मेनन सत्र के नियमानुसार आचरण करते रहे। जब परिषद के अध्यक्ष ने उनके भाषण को जारी रखने में अरुचि दिखाई तो मेनन ने चार्टर के अनुच्छेद 32 का हवाला देते हुए व्यंग्यात्मक नोंक-झोंक तो की पर अध्यक्ष की अनुमति के लिए रुके रहे।

3 मेनन की भाषा अंग्रेजी वाद विवाद की आदर्श परम्परा के अनुसार सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों से भरी रहती थी। यह उदाहरण काफी है—

'मैं यही सोच सकता हूँ कि मुझे सुनने की थकान के कारण वे लोग वह भाग नहीं सुन पाए जो मैंने उठाया था 'या मैं श्री पियरसन डिक्सन (ब्रिटिश प्रतिनिधि) से अनुरोध करूँगा कि वे राष्ट्रकुल के अन्य सदस्यों के साथ यथोचित व्यवहार करें—कम से कम सार्वजनिक मौकों पर

4 मेनन के भाषण की ध्वनि वाद विवाद प्रतियोगिता वाली थी—

'हमने युद्ध विराम रेखा के पार लोगों के उत्पीड़न और पाकिस्तानी अधिकारियों के अत्याचारों के खिलाफ वहाँ के लोगों की स्वतन्त्रता के लिए कोई आवाज क्यों नहीं सुनी ? हमने यह क्यों नहीं सुना कि इन लोगों ने 10 वर्षों से मतदान पत्र नहीं देखे हैं ? आदि।"

5 अपने विरोधी की वदुल्म आलोचना करते हुए मेनन ने एक टेलीविजन साक्षात्कार में इतना भर कहा था आक्रमणकारियों को आक्रमण का फल नहीं भोगने दिया जा सकता।"

मेनन राजनय में झूठ का सहारा लेने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ईडन के मिथ्याचरण राजनय से अरुचि थी। कृष्ण मेनन का स्पष्ट मत था कि सत्य और विश्वास झूठ और धोखे से कहीं अधिक उपयोगी है। सत्य कार्यों और सम्बन्धों में सुविधा उत्पन्न करता है जबकि झूठ उसे निष्क्रिय बनाता है। वास्तव में राजदूत का नैतिक प्रभाव ही उसकी सबसे प्रभावकारी योग्यता है।

मेनन का विश्वास था कि राजनयज्ञ की अपने राज्य के प्रति अटूट स्वामिभक्ति होना चाहिए और राजदूत को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसके देश की विदेश नीति सही और न्यायिक है। उसे अपनी सरकार द्वारा भेजी गई आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना चाहिए, भले ही वे उसके व्यक्तिगत विचारों से कितनी ही भिन्न क्यों न हों। राजनय में व्यक्तिगत विचारों का कोई महत्व नहीं है। एक राजनयज्ञ का प्रथम कर्तव्य अपने देश की सरकार का सही प्रतिनिधित्व करना है भले ही उसके व्यक्तिगत विचार कैसे ही क्यों न हों।

कीसिंगर राजनय   कैसे और क्या ?

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री डॉ हेनरी कीसिंगर अपने विदेश मन्त्रित्वकाल में विवादास्पद व्यक्ति रहे हैं। लोगों के अनुसार वह बहुत गूढ़ थे रहस्यमय थे उनके दिमाग में क्या चल रहा है और बाहर वह किस प्रकार आचरण कर रहे हैं दोनों में तालमेल बिठाना काफी मुश्किल था। कुछ राजनीतिक प्रेक्षक तो यहाँ तक कहते हैं कि पहले निक्सन और बाद में फोर्ड प्रशासन के दौरान विदेश नीति के केवल वही प्रवक्ता थे वियतनाम युद्ध की समाप्ति आणविक हथियारों पर नियन्त्रण के बारे में रूस से वार्ता चीन और अमेरिका में सम्बन्ध पश्चिमएशिया में शान्ति और रोडेशिया के मसले पर कालों और

गोरों के बीच वार्ता की शुरुआत कराने का श्रेय निस्सन्देह डॉ. हेनरी कीसिंगर को जाता है। इन समस्याओं पर वार्ता करने या वार्ताओं का प्रबन्ध कराने की उनकी कैसी कार्यशैली हुआ करती थी इस पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ और टिप्पणियाँ होती रही हैं। पश्चिमेशिया की उनकी लगातार यात्राएँ तथा मिस्र से इजरायल सीरिया से इजरायल के बीच उनकी दौड़धूप और अन्तत दोनों में बातचीत कराने की उनकी राजनयिक सूझबूझ को राजनयिक कार्यकुशलता का प्रतीक माना जाता है। जब 1969 में रिचर्ड निक्सन वाइट हाउस में आ गए तो एक दिन डॉ. हेनरी कीसिंगर विदेश मन्त्रालय के स्वागत कक्ष में खड़े थे। वियतनाम के बारे में जॉनसन प्रशासन के प्रमुख परामर्शदाता ऐवरेल हैरीमैन से उनकी वहाँ मुलाकात हो गई। हैरीमैन ने छूटते ही पूछा आपके ख्याल में वियतनाम समस्या कब तक निक्सन प्रशासन सुलझा लेगा ? कीसिंगर का बड़ा ही आश्वस्त उत्तर था कम से कम 6 महिने तो लग ही जाएँगे। इस आश्वासन को देखकर हैरीमैन चकित रह गए थे। यह बात दीगर है कि यह समस्या सुलझाने में चार वर्ष लग गए अर्थात् 1972 के चुनाव से कुछ पहले ही यह समस्या सुलझा पाए।

सन् 1972 का वर्ष राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन और डॉ. हेनरी कीसिंगर दोनों के लिए महत्वपूर्ण था। इसी साल उन्होंने चीन और रूस की यात्राएँ की थीं। किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की पहली बार चीन की यात्रा को सम्भव बनाना (15 से 19 फरवरी, 1972) कीसिंगर के बस की ही बात थी। उन्होंने 1971 में अपनी भारत यात्रा के दौरान भारतीय नेताओं को इस बात का संकेत तक नहीं मिलने दिया कि वह पाकिस्तान जाकर चीन की राजधानी पीकिंग उड़ान भर जाएँगे। जब उनके पीकिंग पहुँचने की खबर पहुँची तो केवल भारत ही नहीं बल्कि संसार के सभी देश भौंचक्के रह गए। चारों ओर डॉ. हेनरी कीसिंगर की राजनय और कूटनीति के चर्चे होने लगे। दरअसल, वियतनाम वार्ता के दौरान उन्होंने तत्कालीन उत्तर वियतनाम के ली डक थो, क्वान थुई जैसे नेताओं से जिस तरह के गोपनीय और सार्वजनिक ढंग से विचार-विमर्श किया उनसे डॉ. कीसिंगर की राजनयिक कुशलता का परिचय मिलता है। वियतनाम युद्ध को सम्मानजनक ढंग से समाप्त करने में निक्सन प्रशासन को जो सफलता मिली उसे डॉ. हेनरी कीसिंगर की सूझबूझ और दूरदर्शिता से ही सम्भव बनाया गया। वियतनाम में शान्ति स्थापना के कारण ही डॉ. हेनरी कीसिंगर और ली डक थो को नोबल शान्ति पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कार्यशैली की व्याख्या इस समस्या के समाधान को लेकर डॉ. हेनरी कीसिंगर की कार्यशैली की व्याख्या शुरू हो गई। लगभग साढ़े तीन साल की अवधि में डॉ. कीसिंगर की कार्यक्षमता और कार्यप्रणाली का पता तो लग ही चुका था यह बात भी सामने आ गई कि डॉ. हेनरी कीसिंगर तब तक अपनी कोई गतिविधि सतह पर नहीं आने देते जब तक उसके निश्चित परिणाम सामने आने की उन्हें उम्मीद नहीं होती। अपनी कार्यप्रणाली में वह हर समय गोपनीयता का निर्वाह करते रहे। वह यह भी चाहते थे कि दूसरा पक्ष भी वैसी ही गोपनीयता बरते। इस क्षेत्र में उन्हें यथासम्भव सहयोग भी मिलता रहा चाहे वह मसला वियतनाम का हो चाहे निक्सन की चीन और रूस यात्राओं का और चाहे पश्चिमेशिया सम्बन्धी वार्ताओं का। अगर कहीं कीसिंगर ने गचका खाया तो वह अंगोला की समस्या थी। यहाँ पर रूस ने भी वैसी ही नीति अपनाई जिसके कि हेनरी कीसिंगर अग्रदूत रहे।

जब अंगोला की स्थिति का जायजा लिया गया तो डॉ कीसिंगर के सलाहकारों ने पाया कि यहाँ पर क्यूबा के सैनिक काफी बड़ी तादाद में है और क्यूबा के सैनिकों का यहाँ आगमन रूस की विदेश नीति का परिणाम था। डॉ कीसिंगर ने शान्तिपूर्ण ढग से स्थिति का अध्ययन किया। यदि वह ऐसा न करते तो अमेरिका और रूस के बीच जिस भाईचारे की भावना अर्थात् देतॉं की बात करते रहे उनमे स्पष्ट दरारें दिखने लगतीं। दरअसल इस तरह की अस्पष्टता को ही कीसिंगर की खूबी माना जाता रहा।

राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के दिमाग को समझने मे डॉ कीसिंगर ने कहीं चूक नहीं की। अपने लगभग ढाई साल के कार्यकाल मे जैराल्ड फोर्ड भी उसके बिना काम चलाने मे समर्थ नहीं हो सके। देश की विदेश नीति पर डॉ हैनरी कीसिंगर का कुछ इस तरह का अधिकार रहा है कि जाने अनजाने दोनों ही रिपब्लिकन राष्ट्रपतियों के लिए हेनरी कीसिंगर के बिना काम चला पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य रहा। डॉ हेनरी कीसिंगर हमेशा ही अपनी काट अपने पास रखते थे। वह यह बखूबी जानते थे कि उनकी नीतियों मे कहाँ किस प्रकार की खोल या पोल है और उन पर किस प्रकार का प्रहार किया जा सकता है।

निक्सन की चीन यात्रा और उसके बाद अपनी पाँच चीन यात्राओं के दौरान उन्होंने जो भी चीनी नेताओं से बात की वह दोनों देशों के परस्पर सम्बन्धों तक ही मोटे तौर पर सीमित रही। कीसिंगर जानते थे कि ताइवान का मुद्दा चीनियों के लिए अहम् मुद्दा था अत उस मुद्दे को उन्होंने तब तक अलग रखा और इसकी सहमति भी चीनी नेताओं से प्राप्त कर ली कि जब तक चाउ-एन-लाई, माओत्से तुंग और रिचर्ड निक्सन में बातचीत नहीं हो जाती इस प्रश्न को न उठाया जाए। दरअसल यह मुद्दा विदेश मन्त्रियों के स्तर पर ही उठाया गया और जब इस पर चर्चा हुई तो उस पर अपनी राजनयिक शैली मे कीसिंगर ने प्रतिक्रिया की। ताइवान पर अन्तत चीन का अधिकार है। चीन और अमेरिका की इस निकटता से चीन संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बना। सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता भी ताइवान के स्थान पर साम्यवादी चीन को दी गई। कीसिंगर इतने दूरदर्शी थे कि उन्हे यह समझने में किसी तरह की कोई कठिनाई नहीं आई कि आने वाले वक्त में उनके सक्रिय सहयोग के बिना विश्व की राजनीति का चल पाना मुश्किल है।

चीन के साथ ही साथ वह सोवियत संघ से भी सहयोग रखना चाहते थे। जहाँ राजनीतिक स्तर पर उन्हें कम जरूरत है वहाँ आणविक अस्त्रों के क्षेत्र में रूस के सहयोग की भी उन्हें कम जरूरत नहीं थी। बेशक अमेरिकी क्षेत्रों मे कहा जाता है कि डॉ कीसिंगर ने अपने राजनय से अमेरिका को विश्व के दूसरे दर्जे के देश के तौर पर ला खड़ा किया है लेकिन स्थितियों का यदि विश्लेषण किया जाए तो यह निश्चित है कि उनकी विदेश नीति कई मायनों में समर्थ और सफल रही। यह बात दीगर है कि विकासशील देशों के प्रति उनका रवैया अनुकूल नहीं रहा। लेकिन पश्चिमी देशों पश्चिमएशिया तथा अफ्रीकी देशों के प्रति उनकी विदेश नीति को नए आयाम प्राप्त हुए। उनके सतत् प्रयत्नों से ही सोवियत संघ के साथ आणविक अस्त्रों पर रोक सम्बन्धी पहला समझौता जिसे 'साल्ट I समझौता माना जाता है हुआ और दूसरे पर काफी लम्बी बातचीत हुई। जहाँ डॉ हेनरी कीसिंगर वियतनाम को 'मेरा दु स्वप्न कहते हैं वहाँ अपनी उपलब्धियों में वह आणविक अस्त्रों पर रोक सम्बन्धी वार्ता को ही महत्वपूर्ण अंजाम देते हैं। निस्सदेह आधुनिक युग मे डॉ हेनरी कीसिंगर को एक अत्यन्त प्रखर विदेशमंत्री के रूप मे जाना जाता है।

के.एम.पन्निकर
(K. M. Pannikar)

भारत के आधुनिक राजनयज्ञों में सरदार के एम पन्निकार के नाम का उल्लेख अवश्य किया जाता है जो चीन में लम्बे अर्से तक भारत के राजदूत रहे। पन्निकर के अनुसार राजनयज्ञ "एक देश का दूसरे देश में स्थित आँख और कान" है। कोई भी देश अपने राजनयज्ञों के माध्यम से दूसरे देश की घटनाओं नीतियों और दृष्टिकोणों के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त कर अपनी विदेश-नीति को आवश्यक मोड़ देता रहता है। बहुत से विचारकों ने चातुर्य, कुशलता कपट आदि को राजनयिक गुण माना है जबकि पन्निकर के अनुसार धूर्तता कपट आदि से पूर्ण राजनय अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायक हो सकता है। कारण यह है कि राजनय अपने देश के प्रति दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होता है और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग में खतरनाक साधन हैं। दूसरे देशों की शुभ कामना, प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझें और उसके प्रति सम्मान की भावना रखें वह देश दूसरे देशों की जनता के न्यायोचित हितों को समझे एवं सर्वोपरि 'वह ईमानदारी से व्यवहार करे। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते और इस दृष्टि से चातुर्य कपट आदि पूर्ण कूटनीति के पर्दे में जब छिद्र हो जाएँगे और देश की नीति की असलियत जाहिर हो जाएगी तो विश्व-समाज में उस देश के स्तर को धक्का पहुँचेगा। पन्निकर जैसे विचारकों का मत है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

पन्निकर ने राज्य के प्रति स्वामिभक्ति को एक राजनयज्ञ का आवश्यक गुण माना है। उन्हीं के शब्दों में—"राजदूत को उस नीति को क्रियान्वित करना होता है जो उसकी सरकार निर्धारित करती है। ये उसके स्वय के परामर्शों से भिन्न हो सकती है क्योंकि किसी देश की सरकार ही पूरी स्थिति से परिचित होती है जबकि राजदूत केवल अपने विशिष्ट लक्ष्यों को ही जानता है। इसलिए जब उसे उन अनुदेशों को क्रियान्वित करना पड़ता है जो आधारभूत रूप से उसके विचारों के विरुद्ध हो तो उसे भावना, पक्षपात अथवा मैत्रीभाव से प्रभावित नहीं होना चाहिए और किसी भी स्थिति में उसे सम्बन्धित सरकार को अपने नैत्र टिमटिमाने के द्वारा भी यह प्रकट नहीं करना चाहिए कि उसके स्वय के विचार भिन्न नहीं हैं।"[1] आदर्श राजदूत को किसी भी परिस्थिति में अपने देश से आए कड़े निर्देशों को मृदु बनाकर अपनी सरकार के व्यवहार का गलत अनुमान नहीं देना चाहिए भले ही उसके देश की विदेश नीति स्वीकारी राज्य को पसन्द न हो।

पन्निकर जो स्वय एक सफल राजनीतिज्ञ थे, स्त्रियों के सानिध्य व सम्पर्क को राजनय का सहायक मानते हैं। सन् 1926 में फ्रॉसीसी राजदूत जुलेस केम्बान ने, एक लेख में लिखा था कि सम्मानीय स्त्रियों का ससर्ग राजदूत के लिए लाभदायक होगा। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान चाणक्य राजदूतों की स्त्रियों से सम्पर्क का विरोधी था। सभी देशों में स्त्रियों का प्रयोग राष्ट्रीय हित वृद्धि के लिए अति प्राचीनकाल से किया जाता रहा है।

1 *Pannikar* The Principles and Practice of Diplomacy pp 61-62.

भारतीय इतिहास के अति प्राचीनकाल की विष कन्याओं का ऐसा ही प्रयोग था। प्रथम महायुद्ध के काल मे माताहारी विख्यात स्त्री जासूस थी। द्वितीय महायुद्ध काल में एक अमेरिकी सक्त लिपिक (Cypher Clerk) ने एक रूसी प्रवासी लड़की के प्रेम मे फँसाकर रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य आदान प्रदान हुए कई पत्र दिखा दिए थे। वह लड़की वास्तव में जर्मन जासूस थी। इस क्लर्क को इस अपराध के कारण सात वर्ष की सजा मिली थी।[1]

पनिक्कर के अनुसार एक आदर्श राजदूत को अपनी सफलता पर गर्व और असफलता पर निराश नहीं होना चाहिए। पनिकर ने राजदूत के दो मूल कार्यों से सहमति व्यक्त की है— प्रथम अपनी सरकार को स्थानीय परिस्थितियों तथा वहाँ की नीतियों से अवगत कराए रखना। द्वितीय अपने देश की विदेश नीति के क्रियान्वयन के लिए देश से आई आज्ञाओं का सफलतापूर्वक पालन करना। किसी भी राजदूत की सफलता अथवा असफलता का उत्तरदायित्व उस देश की अपनी विदेश नीति पर होना चाहिए न कि राजनयिक पर क्योंकि राजदूत विदेश नीति का निर्माण नहीं करते यह तो उसके विदेश विभाग का कार्य है।[2] पनिकर का मत है कि वार्ताओं के पीछे दबाव का सबसे भयावह व अन्तिम तरीका युद्ध का है। जब समझौते के अन्य सभी साधन समाप्त हो जाएँ तथा वार्ता के माध्यम से किसी समझौते की सम्भावना समाप्त प्राय हो अथवा वार्ता के सफल परिणाम निकलने की आशा ही क्षीण प्रतीत हो तो युद्ध द्वारा समाधान निकाला जाता है।

नरसिंहराव का राजनय

जून 1991 ई के लोकसभाई चुनाव में कांग्रेस (I) लोकसभा मे सबसे बड़े दल के रूप मे उभर कर सामने आई। राजीव गाँधी के देहावसान के बाद नरसिंहराव को दल का अध्यक्ष बनाया गया। उनके नेतृत्व मे ही कांग्रेस (I) ने लोकसभा के द्वितीय चरण का चुनाव लड़ा। चुनावों के बाद उन्हें ही सर्वसम्मति से लोकसभा में कांग्रेस (I) ससदीय दल का विधिवत् नेता निर्वाचित किये जाने के बाद प्रधानमत्री पद की शपथ दिलाई गई।

प्रधानमत्री के रूप मे नरसिंहराव ने भारतीय विदेशनीति और राजनय की शैली मे कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं किये है। उनकी राजनयिक शैली की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है

प्रथम उनकी नेतृत्व वाली सरकार असलग्नता की विदेशनीति पर बरकरार रूप से कायम है।

द्वितीय श्री नरसिंहराव के नेतृत्व मे भारत विकासशील देशों की समस्याओं को प्रभावशाली ढग से विश्व रगमच पर उजागर कर रहा है। वेनेजुएला की राजधानी कारावास में ग्रुप 15 देशों के सम्मेलन मे दिये गये अपने भाषण मे श्री राव ने विकासशील राष्ट्रों के पक्ष को जोरदार ढग से प्रस्तुत किया था।

तृतीय श्री नरसिंहराव के नेतृत्व में भारत और सयुक्तराज्य अमेरिका के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर ढग से सुधार हो रहा है। दोनों देशों के बीच पूर्व प्रचलित गलतफहमियाँ और कटुता मे भी कमी आई है।

1 डॉ एम पी राय वही पृष्ठ 297

2 *Pannikar* Th[illegible] pp 61 62

राजनयज्ञ के लिए परामर्श
(Advice to Diplomats)

प्रत्येक राजनयज्ञ को अपने कार्य एवं दायित्वों का निर्वाह करने की दृष्टि से विचारकों ने कुछ परामर्श दिए हैं।[1] इनका अनुसरण करके एक राजनय अपने लक्ष्य की उपलब्धि सरलता एवं निश्चय के साथ कर सकता है। कुछ उल्लेखनीय परामर्श निम्नलिखित प्रकार से हैं

1 राजनयज्ञ व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें वे सभी गुण अपेक्षित हैं जो प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य करने वाले में होने चाहिए। उसमें बुद्धिमत्ता विद्वता सूझ-बूझ चातुर्य साहस लगन और अथक परिश्रम की क्षमता होनी चाहिए। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और इतिहास का विशेष ज्ञान होना चाहिए।

2 राजनयिक व्यवसाय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक युवा व्यक्ति के लिए एक उचित परामर्श यह है कि उसे दूसरे को सुनना चाहिए और स्वयं नहीं बोलना चाहिए। वह स्वयं केवल इतना ही बोले जितना दूसरे व्यक्ति को वार्तालाप में प्रेरित करने के लिए आवश्यक हो। इस आचरण से वह अपने विरोधियों से अधिकांश सूचनाएँ प्राप्त कर लेता है और स्वयं के दृष्टिकोण को उनसे छिपाए रखता है। ये सूचनाएँ वह अनेक जासूस लगाकर और भारी धन-राशि खर्च करके भी प्राप्त नहीं कर सकता।

3 प्रत्येक राजनयज्ञ को सिद्धान्त रूप से राष्ट्र-हित की सुरक्षा पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। ऐसा करते समय उसे अपने स्वविवेक से काम न लेकर अपनी सरकार द्वारा निर्धारित नीति का ईमानदारी से पालन करना चाहिए। यदि वह अपनी सरकार की नीति से सहमत नहीं है तो उसे अपनी बात सरकार तक पहुँचा देनी चाहिए किन्तु विदेशी शासन पर अपने मतभेद को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। राजनय द्वारा अपने देश को जो प्रतिवेदन भेजा जाए उसमें ईमानदारी और निष्पक्षता की छाप झलकनी चाहिए। राजनयज्ञ को उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए तथा अपने प्रतिवेदन को अन्तिम सत्य नहीं मानना चाहिए।

4 राजनयज्ञ को अपने देश की नीति और दृष्टिकोण से स्वागतकर्ता राज्य की सरकार एवं जनता को अवगत कराना चाहिए।

5 राजनयज्ञ को स्वागतकर्ता राज्य पर अपनी आदतें एवं दृष्टिकोण लादने नहीं चाहिए वरन् यथासम्भव अपने परिग्रहणकर्ता राज्य के दृष्टिकोण के अनुरूप बन जाना चाहिए। उसे छोटी छोटी बातों में भी इसका ध्यान रखना चाहिए। उसे वहाँ की भाषा बोलना सीखना चाहिए। जब एक राजनयज्ञ अपने राष्ट्रीय दुराग्रहों को त्याग देता है तो परिग्रहणकर्त्ता राज्य की जनता और सरकार उसे अपना समझने लगती है।

6 राजनयज्ञ को अपने समस्त आवश्यक कागजात ताले-चाबी में सुरक्षित रखने चाहिए किन्तु अपनी इस सजगता से परिग्राहक राज्य को विरोधी नहीं बनाना चाहिए।

7 राजनयज्ञ को चाहिए कि वह किसी सरकारी अभिलेख को कार्यालय से बाहर न जाने दे और विरोधी पक्ष द्वारा अधिक सावधानी से पढ़ने के लिए खुला न छोड़ा जाए।

1 *Sir Earnest Satow* A Guide to Diplomatic Practice p 91 104

16 राजनयज्ञ को अपने विरोधी पक्ष को कभी भी दुर्बल मूर्ख या अज्ञानी नहीं समझना चाहिए। उसे उससे निरन्तर चौकन्ना रहना चाहिए।

17 राजनयज्ञ को अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखने का अभ्यस्त होना चाहिए ताकि उसके चेहरे को देखकर या वाणी को सुनकर उनके हृदयगत भावों को मापा न जा सके।

18 उसे हमेशा लेखन कला में कुशल होना चाहिए क्योंकि प्रतिदिन उसे अनेक टिप्पणियाँ और प्रतिवेदन अपनी सरकार या परिग्राहक राज्य को प्रस्तुत करने होते हैं। विचार-अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे एक कुशल वक्ता भी होना चाहिए।

19 राजनयज्ञ इतना कुशल हाजिर-जवाब और तीव्रबुद्धि हो कि उसके उत्तर हमेशा उसकी सरकार की नीति के अनुसार अथवा अनुकूल रहे। यदि वह कभी ऐसा न कर सके तो टाल देना चाहिए।

20 राजनयज्ञ का दृष्टिकोण उदार और हृदय विशाल होना चाहिए। उसे अपनी भूल स्वीकार करने में किसी प्रकार का सकोच नहीं होना चाहिए।

21 प्रत्येक राजनयज्ञ को व्यवहार कुशल होना चाहिए। वह सामाजिक समारोहों का आयोजन कर अनेक प्रश्नों पर अनौपचारिक वार्ता कर सकता है और एक दूसरे को समझने का प्रयास कर सकता है। ये समारोह तभी सफल होते हैं जब राजनयज्ञ अत्यन्त मिलनसार सुसस्कृत शिष्ट एव परिष्कृत रुचि का हो। इस प्रकार के समारोहों और भोजों का अपना महत्व होता है। जो कार्य घण्टों विचार विमर्श के बाद भी नहीं हो पाते वे खाने की मेज पर आसानी से हो जाते हैं।

22 राजनयज्ञ की सफलता के लिए एक विशेष परामर्श यह है कि उसे अपने काम में स्त्रियों से सहायता लेना चाहिए क्योंकि समाज मे उनका एक विशेष स्थान होता है। वे सन्धि-वार्ता और राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। प्रकृति ने स्त्री को ऐसे गुण दिए हैं जिनके कारण वह अनेक कठिन कार्यों को आसानी से कर लेती है। प्राचीन काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्त्रियों का उपयोग होता आ रहा है चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए स्त्रियों की सहायता लेने को कहा था। भारत में विष-कन्याओं का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है।

23 राजनयज्ञ को अपने व्यक्तिगत विचारों के कारण दूसरे पक्ष से किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखना चाहिए। दूसरे पक्ष से विरोध प्रकट करते समय कटुता के स्थान पर मधुरता की शैली का सहारा लेना चाहिए।

24 भारतीय राजनयज्ञ सरदार के एम पन्निकर ने व्यावसायिक दृष्टि से राजनयज्ञ को परामर्श दिए हैं जो यद्यपि नैतिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तथापि ये व्यावहारिक रूप से लाभदायक हैं। उनके मतानुसार राजनयज्ञ को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ को जन-साधारण के हितों का रूप देकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करे। दूसरों का समर्थन एव सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे हमेशा स्वय को आहत पक्ष के रूप में प्रकट करना चाहिए। वास्तव में क्षति चाहे किसी भी पक्ष की हुई हो लेकिन लाभ इसी मे है कि स्वय को आहत पक्ष बताया जाए। शत्रु को बदनाम करने के लिए उस पर उन सभी दुर्गुणों का आरोप लगाना चाहिए जो उसमे स्वय में हैं।

25 व्यावहारिक दृष्टि से मैकियावली का यह परामर्श भी अनुकरणीय है कि यदि किसी को भलाई करनी हो तो उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करो और यदि अहित करना हो तो सब एक साथ कर डालो।

26 राजनयज्ञ को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई प्रकाशन अनाम अथवा दूसरे के नाम से निकालना चाहिए। यदि कोई राजनयज्ञ अपने अनुभवों को प्रकाशित करता है तो इससे दूसरे राजनयज्ञों के व्यवहार में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

27 राजनयज्ञ को सन्धि-वार्ता को प्रभावित करने के लिए या गुप्त सूचना प्राप्त करने के लिए रिश्वत का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त भेंट देकर भी कोई कार्य नहीं कराना चाहिए क्योंकि इससे उसका सम्मान गिरता है और अनेक अनावश्यक आलोचनाएँ होती हैं जो अन्त में उसके राष्ट्रीय हितों के लिए घातक सिद्ध होती हैं। कुछ विचारकों का इस सम्बन्ध मे यह मत है कि यदि एक राजनयज्ञ सद्भावना और मित्रता के रूप में कोई भेंट देता है तथा उसके बदले कोई गलत कार्य करने की माँग नहीं करता तो इसको रिश्वत नहीं कहा जा सकता।

राजनयज्ञ की बदलती हुई भूमिका
(The Changing Role of Diplomats)

प्रारम्भ में राजनय पूर्ण रूप से राजनीति और कानूनी विषयों तक सीमित था और राजनयिक सेवा के सदस्यों का प्रशिक्षण केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की शाखा तक सीमित था। वर्तमान में राजनय का रूप विषय एवं क्षेत्र आदि बदल रहे हैं। उसी प्रकार राजनयज्ञ के दायित्वों में भी अनेक परिवर्तन आ रहे हैं। आज के विश्व में कोई राज्य आत्मनिर्भर या अपने आप में सीमित नहीं रह सकता है। आजकल प्रत्येक राज्य की राजनीतिक, सामाजिक तथा साँस्कृतिक परिस्थितियाँ दूसरे राज्यों को प्रभावित करती हैं। सम्भवतः इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना होती है।

प्रत्येक राजनयज्ञ इन सम्बन्धों को अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करता है। ये कार्य राजनयज्ञ की दिनचर्या में निहित होते हैं। विश्व की आधुनिक परिस्थितियों में राजनयज्ञ की रोचक दिनचर्या का विवरण निकल्सन ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक राजनयज्ञ की दिनचर्या के मुख्य अंग ये हैं (क) पिछले दिनों की घटनाओं, वार्तालापों एवं विचार-विमर्शों के सम्बन्ध में अपने शीघ्रलिपिक (स्टेनो) को लिखवाना। (ख) स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित किसी विशेष महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे में अपने पत्र-सहचारी से विचार-विमर्श करना। (ग) अपनी सरकार के टेलीग्रामों या तारों का उत्तर देना। (घ) प्राप्त समाचार सम्बन्धी कार्य निर्देशन करना। (च) विभिन्न विभागों से सम्बन्धित पत्रों का उत्तर स्वयं लिखना। (छ) दोपहर के समय आगन्तुकों से साक्षात्कार करना. इन आगन्तुकों में पत्रकार व्यापारी, परेशान नागरिक आदि होते हैं। (ज) अपरान्ह में परिग्राहक राज्य के विदेश मन्त्री से भेंट करना और वहाँ से लौटने पर अपने वार्तालाप की लिखित सूचना अपनी सरकार को भेजना। (झ) इस बीच प्राप्त टेलीग्रामों या तारों का उत्तर देना। इस प्रकार राजदूत की दिनचर्या से सम्पर्क एवं विचारों का निरन्तर आदान-प्रदान रहता है। वह परिग्राहक राज्य तथा प्रेषक राज्य के बीच एक कड़ी का कार्य करता है।

राजनयज्ञ की भूमिका सम्बन्धी भारतीय विचार
(Indian Ideas on the Role of Diplomats)

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रों में राजनयज्ञों के कार्यों का विशद् विवेचन किया गया है। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री कौटिल्य या चाणक्य के मतानुसार एक राजनयज्ञ के कार्य निम्नलिखित हैं (i) अपने स्वामी का सन्देश दूसरे राजा के पास पहुँचाना तथा उसका उत्तर अपने स्वामी को पहुँचाना (ii) सन्धियों का पालन करना (iii) अपने राजा की शक्ति एव प्रभाव का प्रदर्शन करना (iv) अपने मित्रों की वृद्धि करना (v) शत्रुओं में फूट डालना तथा शत्रु के मित्रों में भेद पैदा करना (vi) शत्रु की सेना तथा गुप्तचरों की जानकारी रखना (vii) अपने गुप्तचरों के सवादों का सग्रह करते रहना (viii) शत्रु की कमजोरी देखते ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करना (ix) सन्धि के अनुसार अपने देश के बन्दियों को मुक्त करना (x) औपनिषदिक उपायों से शत्रुओं की हत्या करना आदि।

कार्यों की उक्त सूची से स्पष्ट है कि उस समय दूत का मुख्य कार्य अन्य राज्यों मे जासूसी करना होता था। वह अपने राज्यों के हितों की रक्षा के लिए केवल राजनीतिक स्तर पर ही कार्यवाही करता था।

परिवर्तित कार्य (The Changing Role of Diplomats)

वर्तमान काल में राजनयज्ञों का कार्य क्षेत्र व्यापक बन गया है। उनके कुछ कार्य केवल घरेलू प्रकृति के होते हैं तथा अन्य राज्यों से इनका सम्बन्ध नहीं होता किन्तु अधिकाश कार्यों का सम्बन्ध राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ बनाने से रहता है। प्रो ओपेनहीम ने राजनयज्ञों के कार्यों का उल्लेख करते हुए स्थाई एव अस्थाई दूतों के बीच भेद किया है। अस्थाई दूतों के कार्य निश्चित नहीं होते तथा वे उनकी नियुक्ति के उद्देश्य के आधार पर निर्धारित होते हैं। स्थाई दूतों के कार्य निम्नलिखित हैं

1 अपनी सरकार की नीति की व्याख्या राजनयज्ञ विदेशों मे अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। उसे उसकी सरकार का मुख कहा जाता है। किसी भी प्रश्न पर राजनयज्ञ की राय उसके देश की राय मानी जाती है क्योंकि वह उसी की ओर से बोलता है। वह अपनी सरकार की राजनीतिक आर्थिक सौंस्कृतिक एव सामाजिक नीतियों का स्पष्टीकरण करता है। वह परिग्राहक राज्य की सरकार एव जनता के सम्मुख अपने राज्य के राजनीतिक दृष्टिकोण सामाजिक परम्परा आर्थिक क्रियाएँ तथा सौंस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है।

2 सन्धि वार्ता राजनयज्ञ परिग्राहक राज्य के साथ सन्धि वार्ता करते समय अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेश मे अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता करता है। इस रूप में वह अपने राज्य के अध्यक्ष तथा विदेश मन्त्री का प्रवक्ता होता है। वह प्रेषक राज्य को अपनी वार्ता का प्रतिवेदन भेजता है।

3 राष्ट्रीय हितों की रक्षा राजनयज्ञ की नियुक्ति इसलिए की जाती है कि वह विदेशों मे अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करे। सरदार पत्रिकर के मतानुसार वह सकल विश्व के हितों की रक्षार्थ नहीं वरन् अपने देश के हितों के सरक्षण के लिए भेजा जाता है।

है। राजनयज्ञ को भावना, पूर्वाग्रह एवं मित्रता के आवेश में नहीं बहना चाहिए वरन् अपनी सरकार के निर्देशानुसार कार्य करते रहना चाहिए।

10. नीति निर्माण में सहायक— राजनयज्ञ स्वयं नीति निर्माण नहीं करता। वह अपनी सरकार तथा विशेषतः विदेश मन्त्री द्वारा प्रतिपादित नीति को क्रियान्वित करता है। वह अपनी सरकार के दृष्टिकोण को प्रभावित करता है तथा नीति निर्माण के लिए आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता है। उसके देश के प्रति विदेशी सरकारों का दृष्टिकोण उसके स्वयं के व्यवहार पर निर्भर करता है। इस प्रकार नीति के प्रतिपादन में एक देश के राजनयज्ञ की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

11. तृतीय राज्य के हितों की रक्षा— विदेशों में स्थित एक राज्य के प्रणिध्यावास अनेक प्रकार से तीसरे राज्यों की सेवा कर सकते हैं। यदि किसी राज्य का वहाँ अपना दूतावास नहीं है तो वह अन्य राज्य के दूतावासों से उद्देश्य की पूर्ति कराता है। ऐसी स्थिति में इन कार्यों का दायित्व तीसरे राज्य पर ही आता है। एक राजदूत को तीसरे राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व करने से पूर्व अपनी सरकार की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। एक बार सामान्य स्वीकृति प्राप्त कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्तिगत सन्धि वार्ता के समय स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी है।

युद्ध के समय तटस्थ राज्य का राजनयज्ञ एक युद्धरत राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व दूसरे युद्धरत राज्य में करता है। वर्तमान में स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रिया और स्वीडन द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जाता है।

राजनयिक कार्यों की सीमाएँ
(Limitations on Diplomatic Functions)

राजनयज्ञ द्वारा सम्पन्न कार्य पूर्णरूप से असीमित नहीं होते। उनके कार्यों पर अनेक सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध रहते हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. राजनयज्ञ को अपने सब कार्य परिग्राहक राज्य की सरकार के माध्यम से करने चाहिए। उसे वहाँ के प्रेस से सीधा सम्पर्क रखने की अनुमति नहीं दी जाती। वह परिग्राहक राज्य की सरकार से जो भी पत्र व्यवहार करता है उसे बिना वहाँ की सरकार की पूर्व स्वीकृति के प्रकाशित नहीं कर सकता। वहाँ की जनता से भी राजनयज्ञ सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं रख सकता है। उसे राज्याध्यक्ष के माध्यम से ही जनता को सम्बोधित या सूचित करना होता है।

2. राजनयज्ञ के कार्यों पर प्रत्येक देश के राष्ट्रीय कानून द्वारा कुछ सीमाएँ लगाई जाती हैं जो प्रत्येक देश में अलग अलग होती हैं। कुछ सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा व्यवहार द्वारा लगाई जाती हैं। इनमें कुछ समानता दिखाई देती है। तदनुसार राजनयज्ञ परिग्राहक राज्य के आन्तरिक सरकारी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह वहाँ के व्यवस्थापन एवं प्रशासन में अपनी टाँग नहीं अड़ा सकता और न ही व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के कार्यों की सार्वजनिक रूप से आलोचना कर सकता है। यदि वह वहाँ की व्यवस्थापिका में प्रकट मत की आलोचना करता है तो इसका कड़ा विरोध किया जाएगा। यदि वह अपने राज्य से असम्बद्ध विवादों में न्यायालय के निर्णयों को गलत बताता है तो

13

विदेश-नीति एवं राजनय
(Foreign Policy & Diplomacy)

विदेश नीति एवं राजनय दो ऐसे पहिए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गाड़ी को आगे बढ़ाते हैं। आज सभी राज्यों की कोई न कोई विदेश नीति होती है तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए उसी के अनुरूप राजनय का आचरण करना पड़ता है। राज्यों की दूरी चाहे कितनी ही क्यों न हो उन्हें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने होते हैं। इस युग में कोई देश अन्य देशों की अवहेलना नहीं कर सकता। वह दूसरे देशों की स्थिति हित दृष्टिकोण आकांक्षाएँ एवं शक्ति को ध्यान में रखकर स्वय की विदेश नीति निर्धारित करता है। ऐसा करते समय वह कुछ कार्य करने का तथा कुछ पर प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लेता है। सम्प्रभु होते हुए भी प्रत्येक राज्य विश्व जनमत अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आदि के प्रभाव से मर्यादित होता है। आज प्रत्येक राज्य का व्यवहार अन्य राज्यों के व्यवहार को अनुकूल या प्रतिकूल रूप में प्रभावित करता है। इस व्यवहार का अध्ययन ही विदेश नीति की विषय वस्तु है। इस कार्य में राजनय उसका मुख्य सहायक सिद्ध होता है। राजनय द्वारा ऐसे साधन और तरीके अपनाए जाते हैं जिससे अन्य राज्यों के व्यवहारों को अपने हित के अनुरूप बदला जा सके।

विदेश नीति का अर्थ
(The Meaning of Foreign Policy)

विदेश नीति का अर्थ किसी राज्य के ऐसे व्यवहार से है जिसके माध्यम से वह अपने हितों की पूर्ति करता है। इसके द्वारा दूसरे राज्यों के व्यवहार में वाँछनीय परिवर्तन लाया जाता है। इस परिवर्तन के अतिरिक्त विदेश नीति दूसरे राज्यों के कार्यों को नियमित भी करती है। नियमन का अर्थ दूसरे राज्यों के व्यवहार को अपने हितों के अनुरूप यथासम्भव समायोजित करना है। इसके लिए कभी तो अन्य राज्यों के व्यवहार में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है और कभी यथास्थिति से स्वार्थ सिद्धि हो जाती है। प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेता है। यदि राष्ट्रीय हितों की पूर्ति अन्य देशों के साथ यथास्थिति बनाए रखने में है तो राज्य वैसा करेगा और यदि परिवर्तन उपयोगी है तो वह वैसा प्रयास करेगा। स्पष्ट है कि विदेश नीति में एक राज्य की उन सभी क्रियाओं को शामिल किया जा सकता है जो उसके राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए अन्य देशों का दृष्टिकोण बदलने अथवा यथावत् बनाए रखने के लिए सचालित की

जाती है। फेलिक्स ग्रॉस (Feliks Gross) के अनुसार, किसी राज्य के साथ कोई सम्बन्ध न रखने का निर्णय भी उस देश की विदेश-नीति है। इस प्रकार विदेश-नीति के दो पक्ष होते हैं सकारात्मक और नकारात्मक। जब एक देश दूसरे देश के व्यवहार को अपने अनुकूल बदलने का प्रयास करता है तो वह सकारात्मक विदेश नीति कहलाती है। निषेधात्मक विदेश नीति में सम्बन्धित राज्य अन्य देशों के साथ सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं करता। इस प्रकार से विदेश नीति के माध्यम से राष्ट्रों के व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और उनके व्यवहार को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अनुसार समायोजित किया जाता है।

नीति निर्माण का कार्य नीति निर्माताओं द्वारा किया जाता है। ये नीति निर्माता अपने राजनीतिक समाज के निर्देशानुसार कार्य करते हैं। नीति निर्माता विदेश नीति की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग होते हैं। जब कभी कोई विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लिया अथवा क्रियान्वित किया जाता है तो अनेक वातावरणीय शक्तियाँ भी सक्रिय रहती हैं। इनमें मुख्य हैं—मनोवैज्ञानिक माध्यम और राजदूत या कूटनीतिज्ञ। एक राज्य की विदेश नीति को सही रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अन्य सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों पृष्ठभूमियों, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति आदि के सन्दर्भ में देखा जाए। सर्वमान्य है कि कोई भी विदेश नीति शून्य में संचालित या क्रियान्वित नहीं होती। यह कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करती है। विदेश नीति का आधार उस राज्य की मान्यताएँ, आदर्श या दृष्टिकोण आदि होते हैं।

विदेश नीति के तत्त्व
(The Elements of Foreign Policy)

प्रत्येक देश की विदेश-नीति के निर्माण में निम्नलिखित तत्त्वों का प्रमुख भाग या योगदान होता है

1. राष्ट्रीय हित : विदेश नीति के निर्माण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व राष्ट्रीय हित है। प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय हित होते हैं जो उसकी भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधन, जलवायु, सांस्कृतिक आधार, राजनीतिक विचारधारा, सैनिक शक्ति का स्तर आदि के आधार पर निर्धारित होते हैं। राष्ट्रीय हित कोई स्थायी अथवा शाश्वत तत्त्व नहीं है। इस पर समय तथा परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और तदनुसार परिवर्तन भी होते हैं। अमेरिकी विद्वान् मॉर्गेन्थो के अनुसार, राष्ट्रीय हित के दो पक्ष होते हैं—इनमें एक पक्ष तार्किक रूप से स्थायी एवं आवश्यक होता है जबकि दूसरा अस्थिर तथा परिस्थितियों पर निर्भर होता है। प्रत्येक राज्य अपनी भौतिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता की रक्षा का प्रयास करता है। यह उसकी विदेश नीति का स्थायी लक्ष्य है। इसके बिना राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

राष्ट्रीय हित की उपलब्धि का मुख्य साधन शक्ति है। शक्ति के अनेक रूप होते हैं यथा—सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति, मनोवैज्ञानिक शक्ति, भौगोलिक शक्ति, वैज्ञानिक तथा तकनीकी आदि। शक्ति के ये विभिन्न तत्त्व मिलकर एक राज्य की राष्ट्रीय शक्ति की रचना करते हैं। राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए राष्ट्रीय शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक राज्य सदैव अपनी शक्ति बढ़ाने में

प्रयत्नशील रहता है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करना स्वयमेव राष्ट्रीय हित बन जाता है। यथार्थवादी सिद्धांत के प्रवर्तकों के मतानुसार शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का आधार है।

2 **नीति निर्माता** यह विदेश नीति का दूसरा तत्व है। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में नीति निर्माताओं के व्यक्तिगत विचार दृष्टिकोण आकांक्षाएँ एवं मूल्यों का पर्याप्त प्रभाव होता है। दो राज्यों के नीति निर्माताओं के दृष्टिकोण की मित्रता ही उनको विरोधी नीति अपनाने को प्रेरित करती है। वर्तमान में संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशनीति के निर्धारण में राष्ट्रपति जार्ज बुश के विचारों का अहम् स्थान है।

3 **विश्व शान्ति एवं स्थायित्व** प्रत्येक देश की विदेश नीति विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास करती है। विश्व शान्ति एवं स्थायित्व के अभाव में राज्य के किसी उद्देश्य की उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। अपने संकुचित स्वार्थों के आधार पर मौद्रिक नीति अपनाने वाला राज्य अधिक समय तक इसका अनुपालन नहीं कर सकता। आज प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय परिवार का सदस्य है। उसे दूसरे देशों के साथ की गई सन्धियों एवं समझौतों का सम्मान करना पड़ता है अन्यथा उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। विश्व शान्ति एवं स्थायित्व की दृष्टि से प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व जनमत एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ से प्रभावित होता है तथा अपनी विदेश नीति में इनको समुचित स्थान देता है। इनकी अवहेलना करने वाला बड़े से बड़ा राज्य भी अपने राष्ट्रीय हितों पर कुठाराघात करता है।

4 **विचारधारा एवं सिद्धांत** प्रत्येक देश की अपनी विचारधारा होती है तथा आर्थिक जीवन राजनैतिक संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि के प्रश्नों पर उसके अपने विचार होते हैं। इन्हीं से वह अपने राष्ट्रीय हितों लक्ष्यों एवं नीतियों के लिए निर्देशन प्राप्त करता है।

5 **साधन स्रोत** प्रत्येक राज्य की विदेश नीति के लक्ष्य तय करते समय साधन स्त्रोतों का समुचित ध्यान रखा जाता है। विदेश नीति के लक्ष्य प्राप्त करने के मुख्य साधन हैं प्रचार एवं राजनैतिक संघर्ष आर्थिक साधन साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व जनमत राजनय आदि। प्रत्येक देश अपनी क्षमता एवं स्थिति के अनुसार इन साधनों का उपयोग करता है।

6 **राष्ट्रीय चरित्र परम्पराएँ एवं आवश्यकताएँ** किसी देश की विदेश नीति का निर्धारण करने में उसका राष्ट्रीय चरित्र परम्पराएं तथा आवश्यकताएँ महत्वपूर्ण तत्वों का कार्य करती हैं। भौगोलिक वातावरण भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। भारत की असंलग्नता की विदेशनीति के पीछे इस देश का भौगोलिक वातावरण मुख्य रूप से सहायक रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि 'एक देश की विदेश नीति अन्तिम रूप से उसकी अपनी परम्पराओं से स्वयं के लक्ष्यों से तथा विशेषत स्वयं के अतीत से जन्म लेती हैं।[1]

1 "A country s fore gn pol cy ultimately emerges f m ts own trad ons from ts own urges from its own objectives and more part cularly from s wn recent past" —*Jawahar Lal ehru*

विदेश-नीति के लक्ष्य
(The Objects of Foreign Policy)

प्रत्येक देश की विदेश नीति कुछ निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करती है। इन लक्ष्यों का निर्धारण राष्ट्रीय हित के आधार पर किया जाता है किन्तु ये दोनों समानार्थक नहीं हैं। प्रत्येक राष्ट्रीय हित विदेश नीति का लक्ष्य नहीं होता है। केवल उन्हीं राष्ट्रीय हितों को विदेश नीति का लक्ष्य बनाया जाता है जो तत्कालीन परिस्थितियों में देश के उपलब्ध साधनों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। विदेश नीति के लक्ष्यों एवं साधनों में अन्तर करना अत्यन्त कठिन है। उदाहरण के लिए, कुछ लेखकों के अनुसार 'शक्ति' विदेश नीति का लक्ष्य है जबकि अन्य ने उसे विदेश नीति का साधन बताया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक दृष्टि से सर्वोच्च लक्ष्य है किन्तु अन्य दृष्टि से यह नागरिकों के विकास की सुविधाएँ प्रदान करने वाला प्रमुख साधन है। प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है।

विदेश नीति का लक्ष्य एक नहीं होता वरन् प्रत्येक देश एक ही समय में अनेक लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करता है। इसमें कुछ लक्ष्य ऐसे होते हैं जिन्हें वह अपनी प्रादेशिकता की रक्षा हेतु स्वीकार करता है जैसे किसी भूखण्ड को प्राप्त करना या विश्व संगठन की सदस्यता प्राप्त करना। अन्य लक्ष्य ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर अनुकूल वातावरण बनाने से होता है। शान्ति की स्थापना को ऐसे लक्ष्य का उदाहरण माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं विश्व संगठन को बढ़ावा देना भी विदेश नीति का लक्ष्य बन जाता है।

विदेश नीति के कुछ लक्ष्य प्रत्यक्ष होते हैं जबकि अन्य लक्ष्य अप्रत्यक्ष होते हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय सुरक्षा इसके प्रत्यक्ष लक्ष्य हैं जबकि नागरिकों या नागरिक समूहों को लाभान्वित करने वाले लक्ष्य अप्रत्यक्ष होते हैं। व्यवहार में इन दोनों प्रकार के लक्ष्यों के बीच भेद करना कठिन है क्योंकि नागरिकों के लाभ राज्य के लाभों में परिणत हो जाते हैं। विदेश नीति के लक्ष्यों का एक अन्य वर्गीकरण है—विश्वव्यापक या क्रान्तिकारी लक्ष्य एवं परम्परागत लक्ष्य। जब एक राज्य नई विचारधारा अपनाकर विदेशों में उसका प्रचार करता है तथा अपने रहन सहन को तदनुसार परिवर्तित कर लेता है तो उसके परम्परागत तरीके और लक्ष्य पीछे रह जाते हैं तथा वह एक नए जीवन दर्शन का पृष्ठ पोषक बन जाता है अन्यथा वह अपने परम्परागत लक्ष्यों की प्राप्ति का ही प्रयास करता रहता है।

विदेश-नीति एवं राजनय में सम्बन्ध : दोनों एक-दूसरे के पूरक

अत्याधुनिक संचार-साधनों के विकास के कारण विदेश-नीति और राजनय का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो गया है। पुराने समय में राजनयज्ञों को पूर्ण शक्तिसम्पन्न बनाकर भेजा जाता था। वे स्वयं ही महत्त्वपूर्ण सन्धियों, समझौतों एवं वार्ताओं में निर्णय लेते थे क्योंकि प्रत्येक प्रश्न पर सरकार की राय जानना सम्भव नहीं था। किन्तु त्वरित संचार-साधनों के आविष्कार के बाद राजनयज्ञ की घटनाओं तथा निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता कम हो गई है क्योंकि निर्णय लेने की शक्ति अधिकाधिक प्रेषक राज्य की सरकार में निहित है तथा स्वयं संचार व्यवस्था के कारण विदेश-नीति एवं राजनय का अन्तर समाप्त हो गया

है। आज का राजनयज्ञ निरन्तर अपनी सरकार से सम्पर्क रखता है तथा विशेष समस्या उत्पन्न होने पर तुरन्त उससे परामर्श प्राप्त कर लेता है। लेस्टर पीयर्सन (Lester Pearson) के मतानुसार राजनय इस अर्थ में विदेश नीति है कि आजकल नीति निर्माता स्वयं ही राजनयिक प्रतिनिधियों का कार्य करते हैं तथा स्वयं अपनी नीतियों को कार्यरूप देते हैं। प्रतिदिन शिखर सम्मेलनों या विदेश मन्त्रियों के सम्मेलनों के समाचार सुनने में आते हैं। सन्धि व्यवस्था और उसमें अनेक राज्यों के शामिल होने से राजनय को विदेश नीति से पृथक् करने वाला क्षेत्र कम हो गया है। इस प्रकार वर्तमान सन्दर्भ में विचारकों का यह कहना पर्याप्त सही है कि विदेश नीति व राजनय समानार्थक हैं।

राज्यों की राजनीति तथा उनकी विदेश नीति का निर्धारण देश के राजनेता करते हैं और विदेश नीति का क्रियान्वयन राजदूतों तथा अन्य राजनयिक अधिकारियों द्वारा किया जाता है। राज्य की विदेश नीति के निर्णय में उस राज्य की सामरिक स्थिति और सैनिक शक्ति का बड़ा योग होता है। प्रायः कहा जाता है कि राज्य जितना अधिक सशक्त होगा उतना ही सफल उसका राजनय होगा। जब नीति निर्माता अपने उद्देश्यों का निर्धारण कर लेते हैं और फिर उन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रश्न उठता है तो यहीं से राजनय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विदेश नीति के क्षेत्र में राज्य की सक्रियता बहुत कुछ कुशल राजनय पर निर्भर करती है। राज्य प्रायः चार विकल्पों के आधार पर कार्य करता है राजनीतिक (राजनय) आर्थिक मनोवैज्ञानिक और सैनिक। इन विकल्पों में राजनैतिक विकल्प को प्रायः प्रमुखता दी जाती है। वैसे समय और परिस्थिति के अनुसार राज्य उपरोक्त में से कोई भी विकल्प अपना सकता है अथवा अनेक विकल्पों का संयुक्त रूप में प्रयोग कर सकता है। राज्यों द्वारा प्रायः राजनैतिक अर्थात् राजनय के मार्ग का ही अधिकाधिक उपयोग किया जाता है और विदेश नीति का उद्देश्य मित्र राज्यों की संख्या बढ़ाना तथा शत्रु राज्यों की संख्या घटाना और महत्वपूर्ण बनना होता है। राजनय के माध्यम से विदेश नीति के इन लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। वास्तव में एक देश की कुशल विदेश नीति उस देश के कुशल राजनय का परिणाम होती है। हम उसे दूसरे शब्दों में राजनय का कौशल कह सकते हैं। विदेश नीति और राजनय का सम्बन्ध इस रूप में भी घनिष्ठ है कि आज के युग में तकनीकी दृष्टि से भले अकेले विदेश विभाग को विदेश नीति का निर्माता माना जाए लेकिन व्यावहारिक रूप में राजदूत इसके निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। विभिन्न राज्यों में स्थित राजदूत अपने प्रतिवेदन विदेश विभाग को प्रस्तुत करते हैं जो उन राज्यों के सम्बन्ध में नीति के निर्धारण में अपना पूरा महत्व रखते हैं।

इस घनिष्ठता का अर्थ यह नहीं है कि राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पर्याय हैं। इसके स्थान पर यह कहना उपयुक्त होगा कि विदेश नीति और राजनीति में चोली दामन का साथ है और वे एक दूसरे के पूरक हैं। राजनय और विदेश नीति को एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ एम पी राय ने लिखा है कि—

'राजनय स्वयं में विदेश नीति नहीं है। वास्तव में राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया तथा विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है। इनके मध्य भेद करने वाली विभाजक रेखा खींचना अति कठिन है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि ये एक दूसरे की सहायता के बगैर चल नहीं सकते। राजनय विदेश नीति का वह

7

साधन है जिसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया चलती रहती है। दर
विदेश नीति और राजनय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर विक्टर वैलेजली का भी
विचार है कि राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के सहयोग
बिना दूसरे का कार्य नहीं चल सकता। राजनय का विदेश नीति से भिन्न कोई अस्ति
नहीं। ये दोनों मिलकर एक प्रशासनिक नीति का निर्माण करते हैं। नीति व्यूह रचना
निर्धारित करती है तथा राजनय चतुरता को। पैडलफोर्ड और लिंकन का यही मत
उनके शब्दों में 'राजनय और विदेश नीति अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनों के बीच स्पष्ट वि
करना उतना ही असम्भव है जितना नीति और कर्तव्य में।

मार्गेन्थो की भी यही मान्यता है क्योंकि आज विदेश मन्त्री प्रधान मन्त्री राष्ट्र
आदि व्यापक रूप से राजनय का उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार राजनय और विदेश
तथा राजदूत और विदेश मन्त्रियों के मध्य भेद कम होता चला जा रहा है। मार्गेन्थो
शब्दों में 'विदेश मन्त्रालय के साथ राजनयज्ञ अपने देश की विदेश नीति को निर्धा
करता है जिस प्रकार विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का तन्त्रिका केन्द्र है उसी प्र
राजनयिक प्रतिनिधि उसके दूरस्थ सूत्र हैं जो केन्द्र एव बाह्य जगत् में दोनों ओर
यातायात बनाए रखते हैं। सैटो भी विदेश नीति और राजनय में भेद नहीं करता है। इ
अनुसार 'डिप्लोमेटिस्ट' शब्द के अन्तर्गत सभी लोक सेवा अधिकारी आते हैं चाहे वे वि
विभाग के गृह क्षेत्र में कार्य करने वाले हों अथवा विदेश दूतावासों में। सैटो तो विदेश म
तक को भले ही वह राजनीतिज्ञ ही हो राजनय का एक अग मानता है क्योंकि उसे
विदेश मन्त्रियों प्रतिनिधियों राजदूतों आदि से समय समय पर वार्ता समझौते आदि क
पड़ते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों शिखर वार्ताओं आदि में
लेना पड़ता है। डा हैनरी कीसिंगर विदेश सचिव होते हुए भी एक सफल राजदूत
कार्य कर रहे थे। एक सफल राजदूत के रूप में इन्होंने अमेरिकी विदेश नीति के क्रियान्
में उल्लेखनीय योगदान दिया था। वियतनाम युद्ध की समाप्ति चीन व रूस के साथ
सम्बन्ध पश्चिमी एशिया में युद्ध का अन्त और मिस्र सीरिया जोर्डन के साथ नए सम्ब
का श्रीगणेश इन्हीं के कुशल राजनयिक प्रयत्नों का परिणाम था। हॉलैण्ड में तो
विभाग के किसी सदस्य अथवा राजदूत को ही विदेश मन्त्री बना दिया जाता है जो अ
कार्यकाल की समाप्ति पर वापस विदेश सेवा में आ जाता है। हीटल ने अपनी पुस
'डिप्लोमेसी' के एक फुटनोट में 1861 में प्रकाशित एक प्रतिवेदन का उल्लेख करते
उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। इस प्रकार जहाँ विदेश नीति राष्ट्रीय हित सम्वर्द्धन
नीतियों का निर्धारण व निर्माण करती है वहीं राजनय उसकी व्याख्या और समय परिस्थि
और आवश्यकतानुरूप उसके प्रयोग के सचालन की कार्यविधि है। वैसे तो विदेश नी
और राजनय एक दूसरे से जुड़े हुए हैं परन्तु राजदूत स्वय विदेश नीति के निर्माण में प्रत
रूप से कहीं भी सम्बन्धित नहीं होते। ये स्वय इसका निर्माण नहीं करते यद्यपि अप्रत
रूप से वे विदेश नीति के निर्माण अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में सहायक अवश्य
हैं क्योंकि कोई देश दूसरे देश के प्रति अपनी नीति का निर्माण उसके राजदूतों द्वारा वि
देशों की राजधानियों तथा सयुक्त राष्ट्रसघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के प्रमुख कार्या
से समय समय पर भेजे गए प्रतिवेदनों के आधार पर करता है। वाइल्डस के शब्दों

"यद्यपि राजनयिक अपनी अपनी सरकारों की विदेश नीति का आवश्यक रूप से निर्माण स्वय नहीं करते फिर भी समुद्र पार अपने अपने पदों से भेजे गए प्रतिवेदनों के माध्यम से वे ऐसी नीति के निर्माण में अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतिवेदन सदा ही विदेश नीति के निर्माण मे मूल्यवान कच्चे माल के रूप में माने जाते हैं।" के एम पनिक्कर का भी यही मत है।

राजनय के क्षेत्र में सफलता राजदूत के गुण और योग्यता के साथ साथ देश की विदेश नीति की बुद्धिमत्ता पर भी निर्भर करती है। प्रसिद्ध विद्वान् कैलियर्स भी दूत द्वारा भेजे गए प्रतिवेदनों के महत्व को स्वीकार करता है जिसके आधार पर विदेश नीति का निर्माण होता है क्योंकि विदेश नीति में निर्णय लेने का प्रगाढ़ सम्बन्ध राजनय के एक प्रधान कार्य प्रतिवेदन देने व वार्ता करने से है। कैलियर्स के शब्दों में यद्यपि सभी सफलताओं या विफलताओं का अन्तिम दायित्व देश मे स्थित सम्राट् एव उसके मन्त्रियों का है तथापि यह उतना ही सत्य है कि ये मन्त्री विदेशों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही कार्य करते हैं तथा देश की सरकार पर एक प्रबुद्ध राजनयज्ञ का सम्भावित प्रभाव बहुत विस्तृत हो सकता है। विदेश में कार्य करने वाले अयोग्य व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशों का कोई उपयोग नहीं कर पाते तथा योग्य व्यक्ति अपनी सूचनाओं एव सुझावों की यथार्थता एव तर्कसगतता द्वारा अत्यन्त साधारण निर्देशों का उत्कृष्टतर उपयोग कर सकते हैं। अत राजनियक कार्यों का दायित्व देश में स्थित सरकार और उसके विदेश में स्थित सेवकों द्वारा लगभग समान रूप से वहन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वाधिक सफल राजदूत के लिए भी अच्छी विदेश नीति का निर्माण आवश्यक है। क्या मेटरनिख तेलेराँ अथवा पानसोट अकेले ही अपने कार्यों में सफल रहे थे ? द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जर्मनी और इटली में फ्रास के राजदूत पानसोट ने अपनी सफलता को यह कह कर टाल दिया था कि वास्तव में तो मुख्य रूप से सूचना देने वाला अथवा सदेशवाहक था। यह तो पानसोट की विनम्रता थी कि उन्होंने अपने को तुच्छ प्रदर्शित किया किन्तु यह सत्य भी है कि उस समय के फ्रौस की शक्ति व सफल विदेश नीति उसकी कम सहायक नहीं रही थी। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है "किसी देश को दूसरे देश के साथ सम्बन्धों में विद्वतापूर्वक विदेश नीति तथा निपुण योग्य कुशल एव विद्वतापूर्ण राजनय के मध्य उचित सामजस्य बैठाना ही पड़ता है। एक के उचित स्वरूप के अभाव में दूसरे का स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जाएगा।" अत कुशल राजनय ही विदेश नीति के लक्ष्यों को सफल बना सकता है।

राजनय और विदेश नीति मे अन्तर

राजनय और विदेश नीति एक दूसरे के पूरक हैं तथापि इनमें विरोध भी है इनमें परस्पर महत्वपूर्ण अन्तर या भेद भी हैं। सर विक्टर वैलेजली के अनुसार "राजनय विदेश नीति नहीं है वरन् इसे क्रियान्वित करने वाला एक अभिकरण है।" राजनय और विदेश नीति के बीच साधन और साध्य का सम्बन्ध है। जे आर चाइल्ड्स के मतानुसार "विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्व है जबकि राजनय ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा इस नीति को सचालित किया जाता है। विदेश नीति की रचना अनेक व्यक्तियों और अभिकरणों द्वारा की जाती है जिनमें राजनय का भी योगदान होता है। राज्य अथवा सरकार

का रूप चाहे कुछ भी हो किन्तु विदेश नीति के मूल प्रश्नों का निर्णय उच्च स्तरीय अधिकार द्वारा किया जाता है और महत्वपूर्ण राजदूतों का उसमें बहुमूल्य योगदान होता है। राजनय द्वारा विदेश नीति को क्रियान्वित करने के लिए सर्वोत्तम यन्त्र सौंपा जाता है। विदेश नीति वैदेशिक सम्बन्धों की आत्मा है जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विदेश नीति को सञ्चालित किया जाता है। हैराल्ड निकल्सन ने राजनय और विदेश नीति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "राजनय और विदेश नीति दोनों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सामान्य धारणा पर आधारित होती है जबकि राजनय कोई लक्ष्य न होकर एक साधन [redacted]। यह उद्देश्य नहीं वरन् एक तरीका है। राजनय बुद्धि, समझौता एवं हितों के विनिमय द्वारा सम्प्रभु राज्यों के बीच प्रमुख संघर्षों पर रोक लगाता है। यह ऐसा अभिकरण है जिसके माध्यम से विदेश नीति युद्ध की अपेक्षा समझौते द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करती है।" हैराल्ड निकल्सन ने राजनय को केवल शान्तिकालीन उपाय माना है जिसके असफल होने पर युद्ध छिड़ जाता है। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार युद्धकाल में राजनय समाप्त नहीं हो जाता वरन् त्रिगुण रूप से कार्य करता रहता है। विदेश नीति का—राजनय का उद्देश्य यथासम्भव शान्तिपूर्ण साधनों से देश की रक्षा करना है। किन्तु यदि अपरिहार्य बन जाए तो राजनय सैनिक कार्यवाही को प्रत्येक सहायता देकर देश की सुरक्षा करने में योगदान करता है। युद्धकाल में राजनय के कार्य शान्तिकाल की अपेक्षा भिन्न होते हैं। यदि एक राज्य अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में सफलता प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए सक्षम राजनय और बुद्धिपूर्ण विदेश नीति का सामान्य वाँछनीय है।

जहाँ विदेश नीति तथा राजनय एक दूसरे के पूरक [redacted] वहाँ इनमें विरोध भी है। नार्मन हिल के अनुसार विदेश नीति प्रकृति से ही सत्ता सूचक है जबकि राजनय प्रधानतः क्रियाविधि है। विदेश नीति विदेशों के साथ सम्बन्धों का सार है जब कि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विदेश नीति क्रियान्वित की जाती है। पामर और परकिंस के शब्दों में एक सार है तो दूसरा उसकी प्रक्रिया। सर विक्टर वैलेज्ली भी दोनों के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हैं "राजनय स्वयं नीति नहीं है, अपितु यह इस नीति को क्रियान्वित करने का साधन है।" कनाडा के भूतपूर्व लेस्टर पियरसन ने भी एक बार कहा था कि "राजनय नीति निर्माण नहीं करती है यह तो उसका सम्प्रेषण तथा व्याख्या करती है।" हस जे मार्गेन्थो ने इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"विदेश मन्त्रालय नीति निर्माण करने वाला अभिकरण है। यह विदेश नीति का मस्तिष्क है जहाँ बाह्य संसार से अनुभव एकत्रित किए जाते हैं तथा इनका मूल्यांकन किया जाता है जहाँ विदेश नीति निर्धारित होती है तथा उन आदेशों का निस्सरण होता है जिनको राजनयिक प्रतिनिधि वास्तविक विदेश नीति में रूपान्तर करते हैं। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेश का मस्तिष्क है राजनयिक प्रतिनिधि इसकी आँखें, कान, मुख अंगुलियाँ तथा एक प्रकार से इसके भ्रमणशील अवतार हैं। मार्गेन्थो ने आगे लिखा है कि "राजनयिक प्रतिनिधि केवल आँखें और कान ही नहीं हैं जो विदेश नीति के तन्त्रिका केन्द्र को इसके निर्णयों के सम्पादन के लिए बाह्य संसार की घटनाओं की सूचना देते हैं। राजनयिक प्रतिनिधि मुख और हाथ भी हैं जिनके द्वारा तन्त्रिका केन्द्र से सतत्र आवेगों का शब्दों एवं कार्यों में रूपान्तरण होता है। निकल्सन भी राजनय

और विदेश नीति के मध्य भेद करता है। यदि कोई राजदूत यह समझता है कि वह विदेश नीति को प्रभावित कर सकता है तो वह गलती पर है। राष्ट्रीय सुरक्षा समिति मे अमेरिकी राष्ट्रपति के विशेष सचिव मैकजॉर्ज बन्डी (McGeorge Bundy) (1961-66) ने हावर्ड विश्वविद्यालय मे भाषण देते हुए कहा था कि "यह प्रदर्शित करना कि विदेश सेवा मे भर्ती होकर विदेश सम्बन्धों को प्रभावित किया जा सकता है गलत है।" प्रथम महायुद्ध के काल मे ब्रिटेन स्थित अमेरिकी राजदूत वाल्टर हाइन्स पेज ने अपने प्रतिवेदनों की उपेक्षा पर नाराजगी व्यक्त करते हुए लिखा है कि "वह इतना नाराज है कि वह अपने प्रतिवेदन में लिखेगा कि एक भूकम्प मे टेम्स नदी गायब हो गई है कि एक साधारण नागरिक ने राजा को चूम लिया है और क्रामवेल के बुत ने लॉर्ड सभा पर आक्रमण कर दिया है जिससे यह तो पता चले कि वाशिंगटन मे कोई इन बातों को नोट करते भी हैं अथवा नहीं परन्तु स्थिति इतनी गम्भीर नहीं है जितनी बताई गई है।"

सर चार्ल्स वेब्स्टर ने अपनी पुस्तक 'राजनय की कला तथा व्यवहार' (Art and Practice of Diplomacy) मे विदेश नीति और राजनय के मध्य अन्तर को स्वीकार किया है। वेब्स्टर के अनुसार राजनय 'युद्ध कौशल' है तो विदेश नीति 'व्यूह रचना'। युद्ध कौशल के अभाव में व्यूह रचना का कोई महत्व नहीं है इसी प्रकार राजनय के अभाव मे विदेश नीति भी व्यर्थ है। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक सफल एवं योग्य राजनय के अभाव मे एक उत्तम, उचित और यथार्थवादी विदेश नीति भी असफल सिद्ध होगी। प्राचीन भारतीय श्लोक भी इस भेद को स्पष्ट करता है—

> बुद्धि शस्त्र प्रकृत्यङगो धन सवृतिक क ।
> चार क्षणो दूत मुख पुरुष कोदपि पार्थिव ॥ माघ्य 1/82

अर्थात् राजा की बुद्धि उसका शस्त्र, मन्त्री अंग, नीति की गुप्तता कवच, गुप्तचर नेत्र एव दूत मुख है।

इस प्रकार राजदूत की योग्यता ही विदेश नीति को सफल बना सकती है। उसकी भूमिका सदेशवाहक से कहीं अधिक है। निर्मित विदेश नीति को वह दूसरों के समक्ष कैसे रखता है तथा उसका स्पष्टीकरण कैसे देता है इसी पर उसकी योग्यता और सफलता निर्भर करती है। इस प्रकार वह अच्छी विदेश नीति को सफल व असफल बनाने की क्षमता रखता है। साथ ही वह बुरी विदेश नीति के बुरे परिणामों को रोकने की भी क्षमता रखता है। एक योग्य और प्रतिभाशाली राजदूत अपने देश को सम्मान और प्रतिष्ठा दिला सकता है। विदेश नीति की सफलता राजनय के उत्तम प्रयोग पर ही निर्भर करती है। सारांश मे यह कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य को यदि अपने वैदेशिक सम्बन्धों मे सफलता प्राप्त करनी है तो बुद्धिमत्तापूर्ण निर्धारित विदेश नीति और योग्य, निपुण एवं कुशल राजनय का सम्मिश्रण आवश्यक है।

14

विदेश-सेवा एवं विदेश-कार्यालय
(Foreign Service & Foreign Office)

राजनय के सचालन के लिए उपयुक्त कार्यालय एव सेवीवर्ग अनिवार्य है। इसके कार्य की प्रकृति के आधार पर सेवा की शर्तें और परिस्थितियाँ अन्य सेवीवर्ग से भिन्न होती हैं। सामान्य धारणा के अनुसार विदेश-सेवा को अत्यन्त आकर्षक और सम्मानजनक व्यवसाय माना जाता है। इसके सदस्य चाय के घोर पियक्कड होते हैं और सामाजिक रीति-रिवाज मे व्यस्त होते है। यह धारणा इस गलत विश्वास पर आधारित है कि विदेश सेवा के सदस्य अधिकतर उच्च श्रेणी के वे लोग होते हैं जो अल्पाहार की गप्पों मे तथा सन्धि-वार्ताओं मे व्यस्त रहते हैं। इस मान्यता का कुछ ऐतिहासिक औचित्य है। प्रारम्भ मे विदेश-सेवा का व्यवहार इसी प्रकार का था। अभी भी कुछ लोग इन्हीं परम्पराओं को आदर्श मानकर चलते हैं। फिर भी वर्तमान में इस स्थिति मे काफी परिवर्तन आ गया है। आज विदेश-सेवा के सदस्य अभिजात्य अथवा धनिक वर्ग के प्रतिनिधि नहीं होते। वे विदेश सेवा के सदस्य होते हैं तथा परिश्रमी जीवन व्यतीत करते हुए अपने देश के लिए महत्वपूर्ण सेवाएँ प्रदान करते हैं। विदेश-सेवा और विदेश-कार्यालय के योगदान और महत्व का वर्णन केवल सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि मे नहीं किया जा सकता। हम सयुक्त राज्य अमेरिका के सन्दर्भ में विवेचन करेगे।

सयुक्त राज्य अमेरिका ने जब से अपने महाद्वीप और दूसरे द्वीपों के देशों से सम्पर्क स्थापित किया तभी से यहाँ विदेश-सेवा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनके कार्य एव सेवा की शर्तें समय-समय पर बदलती रही हैं। इन पर स्थान का भी प्रभाव पडता है। कुछ सेवाएँ शान्तिपूर्ण एव आकर्षक स्थानों पर कार्य करती हैं जबकि दूसरी सेवाओं को उपद्रवी क्षेत्रों मे कार्य करना पडता है। विदेश सेवा के सदस्यों को ऐसे स्थानों पर भी देखा जा सकता है जहाँ युद्ध और क्रान्तियाँ आम बातें हों। एल्मर प्लिस्के (Elmer Plischke) के कथनानुसार "विदेश सेवा का जीवन हमेशा आरामदायक नहीं होता। इसके दिन हमेशा शान्तिपूर्वक कागज भेजने और रातें पार्टी एव भोजों में व्यतीत नहीं होतीं।"[1] विदेश मन्त्री हाल के कथनानुसार "विदेश सेवा के सदस्यों को मलेरिया का अधिक अनुभव होता है।"

1 "Life in the foreign service is not always one of ease of peaceful pushing during the day and cock tail parties, dinners and dazzling social affairs at night." —*Elmer Plischke*

अमेरिकी विदेश सेवा का योगदान
(Role of the American Foreign Service)

संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश सेवा के सदस्यों की तुलना सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों से की जा सकती है जो अपना जीवन अपने देश की सेवा में लगा देते हैं। इस व्यवसाय को पर्याप्त सम्मान प्राप्त है। अनेक महत्वाकांक्षी युवक और युवतियाँ इस व्यवसाय की ओर ईर्ष्या और आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। विदेश सेवा के योगदान के सम्बन्ध में मुख्यत निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1 विदेश सेवा के सदस्य विदेशों में अमेरिकी जनता और सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनको विदेश विभाग की आँख कान और मुँह कहा जाता है। समुद्र पार के देशों में ये सरकार की भुजा का कार्य करते हैं और उन्हीं के माध्यम से अमेरिकी नीति और व्यवहार ज्ञात होते हैं।

2 विदेश सेवा सरकार की एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इसके आन्तरिक प्रशासन पर विदेश विभाग के उच्च अधिकारियों का निरीक्षण रहता है तथा इसके पत्र व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से विभाग के साथ होते हैं किन्तु कानूनी रूप से यह विदेश विभाग की उप इकाई मात्र नहीं है वरन् पृथक् विदेश सेवा है। कानून तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से विदेश सेवा को विशेषाधिकार की स्थिति प्राप्त है। यह बहुत कुछ आत्म प्रशासित है। कुछ सीमा तक इसे अपने सेवीवर्ग के कार्यों और अन्य विषयों में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है।

3 विदेश सेवा एक क्षेत्रीय अभिकरण (Field Agency) है। अमेरिकी व्यवस्था में विदेश सम्बन्धों का संचालन राष्ट्रपति का मौलिक उत्तरदायित्व और कार्य माना जाता है। विदेश मन्त्री या विदेश सचिव उसका मुख्य परामर्शदाता और प्रमुख एजेंट होता है। विदेश विभाग विदेश मन्त्री का कार्यालय होता है और विदेश सेवा उसका क्षेत्रीय अभिकरण है। वैदेशिक सम्बन्धों की सामान्य नीतियाँ विदेश सचिव और विदेश विभाग के परामर्श पर कॉंग्रेस तथा राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती हैं तथा विदेश सेवा इन नीतियों को कार्यान्वित करती है।

4 विदेश सेवा द्वारा विदेश नीति के स्वरूप पर अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव डाला जाता है। इसके सदस्यों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों का रूप निर्धारित करते हैं। इस दृष्टि से विदेश सेवा के उत्तरदायित्वों का महत्व बढ़ जाता है क्योंकि उसके सही और निश्चित प्रतिवेदनों के आधार पर न्यायपूर्ण नीतियाँ और लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं किन्तु लापरवाहीपूर्ण प्रतिवेदनों से अनेक राजनयिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

5 विदेश सेवा का स्थान एवं दायित्व मुख्यत सेवा का है कार्यान्विति का नहीं है। विदेश नीति की क्रियान्विति विदेश सेवा के सदस्यों के अतिरिक्त व्यक्तियों और अभिकरणों द्वारा भी की जाती है। राष्ट्रपति या विदेश मन्त्री स्वयं संधि वार्ताएँ सम्पादित करते हैं। अनेक बार राष्ट्रपति अपना विशेष प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं या विदेश मन्त्री दूसरे राज्यों के विदेश मन्त्रियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ उसके विशेष अभिकरण तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से विदेश सेवा का उल्लंघन किया जा सकता है। विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों की घोषणा प्रत्यक्ष रूप से

रेडियो अथवा समाचार पत्रों के माध्यम से की जा सकती है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशनीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने में विदेश सेवा का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

अमेरिकी विदेश-सेवा का विकास
(Development of the American Foreign Service)

संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश सेवा का सतत् विकास होता रहा है जिसे निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है

जन्म अमेरिका के प्रारम्भिक इतिहास में अनेक प्रभावशाली राजनयज्ञों का योगदान रहा है। उन्होंने अनेक विषम परिस्थितियों में जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए उल्लेखनीय कदम उठाए इसलिए इस काल को अमेरिकी राजनय का स्वर्णकाल कहा जाता है। इस समय के राजनयज्ञों में जॉन एडम्स जॉन जे थॉमस जैफरसन और सिलासडीने आदि उल्लेखनीय हैं। बेन्जामिन फ्रैंकलिन के दौत्य कार्यों की प्रशंसा विदेशों में आज भी की जाती है। राजनय की दृष्टि से प्रतिभापूर्ण प्रारम्भ के बाद भी अमेरिका में विदेश सेवा का विकास धीमी गति से हुआ। जुलाई 1790 में अमेरिकी कॉंग्रेस ने राष्ट्रपति को विदेश प्रतिनिधियों पर चालीस हजार डॉलर प्रतिवर्ष व्यय करने का अधिकार दिया। सन् 1818 में कॉंग्रेस ने विशेष श्रेणियों और वेतनों के विशेष राजनयिक पदों की स्थापना की। यह विदेश सेवा का प्रारम्भ था। इसी प्रकार वाणिज्य दूतावास सेवा भी एक पृथक् संस्था के रूप में प्रारम्भ की गई जो 1924 तक राजनयिक सेवा से भिन्न रही। प्रारम्भ में राजनयिक सेवा और वाणिज्य दूतावास सेवा के दायित्वों को एक ही अधिकारी पूरा करता था किन्तु 14 अप्रेल 1792 को एक पृथक् वाणिज्य दूतावास की व्यवस्था की गई। इस सेवा का तीव्र गति से विकास हुआ और 1830 के अन्त तक संयुक्तराज्य अमेरिका के 150 से भी अधिक वाणिज्य दूत दुनिया के व्यापारियों के व्यापारिक केन्द्रों में अमेरिका का प्रतिनिधित्व करने लगे जबकि राजनयिक प्रतिनिधियों की संख्या कुल 19 थी।

1850 के सुधार - सन् 1812 के युद्ध के बाद अमेरिका की रुचि मुख्यत- घरेलू मामलों में केन्द्रित हो गई। राजनयिक और वाणिज्य दूतावासों में की गई नियुक्तियाँ लूट व्यवस्था से प्रभावित हुई। फलत १८२२ में तत्कालीन विदेश मन्त्री लिविंग्स्टन ने जाँच के बाद राष्ट्रपति के सम्मुख एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उसमें यह सिफारिश की गई कि राजदूतों और वाणिज्यिक दूतों के वेतन तथा अन्य सुविधाओं में वृद्धि की जाए ताकि उन्हें व्यक्तिगत आय पर निर्भर न रहना पड़े। इन सुझावों पर कॉंग्रेस ने बीस वर्ष बाद विचार किया और 1 मार्च 1855 तथा 18 अगस्त 1856 के अधिनियमों द्वारा विशेष सेवाओं के पद, वेतन शृंखला वेतन एवं कर्तव्य आदि में सुधार किया।

गृहयुद्ध और उसके बाद - गृहयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य पुन- अपने आन्तरिक मामलों की ओर केन्द्रित हो गया और लगभग 50 वर्ष तक विदेश सेवा में सुधार के लिए कोई व्यवस्थापन नहीं हो सका। 1 मार्च 1893 के अधिनियम द्वारा कॉंग्रेस ने पहली बार सम्पूर्ण स्तरीय राजदूतों की नियुक्ति की अनुमति दी। इसे अमेरिकी राजनय के विकास का सीमा चिन्ह कहा जाता है। इससे पूर्व किसी भी अमेरिकी दूत को राजदूत नहीं कहा जाता

था। सन् 1894 में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने फ्रांस जर्मनी ग्रेट ब्रिटेन इटली और रूस के लिए पूर्ण स्तरीय राजदूत नियुक्त किए। इसी काल मे वाणिज्यिक दूतावास सेवा में भी सुधार का अभियान चला। 6 फरवरी 1895 को कार्यपालिका आदेश द्वारा वाणिज्य दूतों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्थाएँ की गईं किन्तु व्यवहार मे अभी भी लूट व्यवस्था जारी रही।

राष्ट्रपति टी रूजवेल्ट ने व्यापक पुनर्गठन और सुधारों की सिफारिश की। उसने राजनयिक सेवा मे योग्यता व्यवस्था को लागू किया। विदेश मन्त्री रूट ने उम्मीदवारों की परीक्षा के लिए एक परीक्षा बोर्ड की स्थापना की। बाद में काँग्रेस ने भी इसका समर्थन दिया। 5 अप्रेल 1906 को एक अधिनियम द्वारा वाणिज्यिक दूतावास सेवा की चयन व्यवस्था को पूर्णरूप से परिवर्तित कर दिया गया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 27 जून 1906 को कार्यपालिका आदेश द्वारा वाणिज्यिक दूतों की नियुक्ति और पदोन्नति को 1833 के नागरिक सेवा अधिनियम के अधीन रख दिया। सन् 1909 में राष्ट्रपति टाफ्ट ने सभी राजनयिक अधिकारियों को नागरिक सेवा का स्तर प्रदान किया। अब लूट व्यवस्था का अन्त हो गया और सेवीवर्ग का स्तर क्रमशः ऊँचा उठता गया। 5 फरवरी 1915 को काँग्रेस अधिनियम द्वारा इस व्यवस्था में और सुधार किया गया।

सन् 1924 का रोजर्स अधिनियम प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास के अधिकारियों के कार्य मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बढ गए। प्रारम्भ में अमेरिकी तटस्थ रहा किन्तु बाद में युद्ध में शामिल हो गया। तटस्थ काल में अमेरिका के दूतों ने विभिन्न युद्धरत राज्यों के दौत्य कार्य सम्पन्न किए। युद्ध में उलझने के बाद भी अमेरिकी दूत अनेक कार्य करते रहे। इसके लिए राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास में बिना परीक्षा के अस्थायी नियुक्तियाँ की गईं। सेवीवर्ग की सख्या बढ जाने से अनेक गम्भीर कमजोरियाँ पैदा हो गई थीं। रोजर्स ने इस विषय मे रुचि ली। उसके विदेश मन्त्री से विचार करने के बाद इन सेवाओं के पुनर्गठन हेतु काँग्रेस में विधेयक प्रस्तुत किया जिसने 24 मई 1924 को कानून का रूप लिया। इस रोजर्स अधिनियम के अनुसार राजनयिक और वाणिज्यिक दूतावास सेवाओं को विदेश सेवा मे एकीकृत कर दिया गया तथा आपस में पद बदलने की सुविधा दी गई। सभी नियुक्तियों और पदोन्नतियों को केवल योग्यता पर आधारित किया गया। सभी कर्मचारियों को किसी विशेष पद का नाम न देकर श्रेणी में वर्गीकृत कर दिया गया।

सन् 1931 का अधिनियम और द्वितीय विश्वयुद्ध विदेश सेवा में अनेक सुधारों के बाद भी कुछ दोष कायम रहे। सन् 1928 में विदेश सम्बन्धों पर सीनेट की एक समिति ने इन दोषों पर प्रकाश डाला। इसके निराकरण के लिए 23 फरवरी 1931 को मोसेस लिन्थिकम (Moses Linthicum) अधिनियम पारित किया गया। तदनुसार विदेश सेवा बोर्ड के सेवीवर्ग को पुनर्गठित किया गया और इसके सदस्य तीन वर्ष के लिए राजदूतों के पद पर नियुक्ति के लिए अयोग्य ठहरा दिए गए। वर्गीकरण व्यवस्था को बदला गया वेतन में वृद्धि की गई वार्षिक छुट्टियाँ और भत्ते तथा अग्रिम वेतन देने की व्यवस्था की गई।

सन् 1927 मे पृथक् विदेश सेवा का प्रयोग किया गया । इनमें वाणिज्य और कृषि विभागों को प्रतिनिधित्व दिया गया । 1 जुलाई 1939 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट की पुनर्गठन योजना में अभिकरणों को विदेश सेवा के साथ सयुक्त कर दिया गया । द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे सघीय प्रशासनिक इकाइयों की समुद्र पार शाखाएँ स्थापित की गईं तथा इन्हें भूमि पट्टे (लेण्डलीज) युद्ध कार्य निर्यात का नियन्त्रण समुद्र पार की जासूसी एव प्रचार और अमेरिकी साँस्कृतिक सम्बन्धी कार्यक्रमों का सचालन आदि कार्यों का दायित्व सौंपा गया । इन सभी कार्यों के लिए यह अनिवार्य था कि विदेशों में भारी सख्या में सेवीवर्ग रहे । साधारणत यह आशा की जा सकती थी कि विदेश-विभाग एव विदेश सेवा इन कार्यों का प्रबन्ध करेंगे किन्तु विदेश मन्त्री कोरडेल हल के प्रभाव से यह निर्णय लिया गया कि ये दोनों इन उत्तरदायित्वों को न सम्भालें । इसके लिए कुछ स्वतन्त्र एव पृथक् अभिकरणों की स्थापना की गई । उदाहरण के लिए, आर्थिक सुरक्षा बोर्ड लैण्ड लीज प्रशासन युद्ध सूचना कार्यालय ऋण नीति सेवा कार्यालय आदि । इस व्यवस्था के कारण क्षेत्राधिकार प्रशासनिक एकता और नीति सम्बन्धी समन्वय की समस्या उत्पन्न हुई ।

विदेश सेवा के बढते हुए दायित्व को पूरा करने के लिए अधिक सेवीवर्ग की नियुक्ति करना आवश्यक बन गया था । सन् 1941 के मध्य में यह निर्णय लिया गया कि सकटकाल के लिए अस्थायी नियुक्तियाँ की जाएं । ऐसी नियुक्तियों को सहायक (Auxiliary) कहा गया । इन विदेश सेवा सहायकों (Auxiliaries) का चयन सावधानीपूर्वक किया गया और योग्य अमेरिकियों को इसमें शामिल किया गया । इन सहायकों में दो प्रकार के व्यक्ति थे— विशेषज्ञ तथा कनिष्ठ अधिकारी । विदेशी विशेषज्ञों में वे पुराने व अनुभवी व्यक्ति थे जिनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त कृषि साँस्कृतिक सम्बन्ध आदि में विशेषज्ञता प्राप्त थी । इनको विशेष आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए नियुक्त किया गया । कनिष्ठ अधिकारियों को आवश्यकतानुसार उपवाणिज्य दूत के रूप में नियुक्त किया गया । युद्धकाल में नई नियुक्तियों के लिए परीक्षाएँ नहीं ली गई थीं इसलिए पदोन्नत अधिकारियों के स्थान की पूर्ति इन सहायकों द्वारा की गई ।

1945 में जर्मनी और जापान के आत्मसमर्पण के बाद युद्धकाल के सकटकालीन अभिकरण समाप्त कर दिए गए । इन अभिकरणों के कुछ कार्य और सेवीवर्ग विदेश विभाग को सौंप दिए गए । युद्ध के अन्तिम दिनों में जब सहायक सेवा (Auxiliary) को हटाना अनिवार्य हो गया तो विदेश सेवा में मानव शक्ति को खपाने की समस्या उत्पन्न हो गई ।

1945 और 1946 के अधिनियम 3 मार्च 1915 को अस्थाई कानून द्वारा विदेश सेवा में प्रशासनिक वित्तीय और लिपिक सेवीवर्ग की एक नई श्रेणी गठित की गई । योग्य सहायक सेवा के अधिकारियों को इस नई श्रेणी में रखकर स्थाई स्तर प्रदान किया गया । 3 जुलाई 1946 को विदेश सेवा मानव शक्ति विधेयक पारित हुआ । इसने अगले दो वर्षों में 250 विदेश सेवा अधिकारियों की नियुक्ति की शक्ति प्रदान की । वे नियुक्तियाँ किसी भी वर्गीकृत ग्रेड में उम्मीदवार की उम्र अनुभव व योग्यता के आधार पर हो सकती थीं । उम्मीदवार की उपयुक्तता का आधार 15 वर्ष की अमेरिकी नागरिकता उम्र पूर्व सैनिक सेवा का अनुभव तथा विदेश मन्त्री द्वारा निर्धारित परीक्षा उत्तीर्ण करना आदि थे । इनके बाद नियमित विदेश सेवा की परीक्षाएँ प्रारम्भ की गईं । प्रारम्भ में सेवाकालीन लिखित और मौखिक

परीक्षाएँ प्रारम्भ हुईं बाद में तीन एक जैसी परीक्षाएँ सशस्त्र सेनाओं एवं भूतपूर्व सैनिकों के लिए प्रारम्भ की गईं। सितम्बर 1947 में नियमित सामयिक व्यावसायिक परीक्षाएँ होने लगीं।

विदेश सेवा अधिनियम 1946 उपर्युक्त मानव शक्ति अधिनियम 1946 के अतिरिक्त 13 अगस्त 1946 को विदेश सेवा अधिनियम पारित किया गया जिससे विदेश सेवाओं का पूर्ण पुनर्गठन हो गया। यह अधिनियम सशोधित रूप में आज भी विदेश सेवा का आधार है। इस अधिनियम में पूर्वस्थिति व्यवस्थापनों को परिवर्तित और संहिताबद्ध कर दिया तथा सेवीवर्ग की सेवा की शर्तों एवं भर्ती वर्गीकरण प्रशिक्षण एवं प्रयोग के लिए महत्वपूर्ण तथा व्यापक व्यवस्थाएँ की गईं। युद्धकाल में सेवाओं के सगठन और प्रशासन की दृष्टि से अनेक दोष दृष्टिगोचर हुए थे जिनमें सुधार किया जाना अनिवार्य था। अधिनियम द्वारा विदेश सेवा के महा निदेशक विदेश सेवा बोर्ड विदेश सेवा परीक्षक बोर्ड और विदेश सेवा संस्थान की व्यवस्था की गई। इससे वेतन भत्ते और सेवा निवृत्ति के प्रावधानों में सुधार हुआ तथा सभी सेवीवर्ग को एक जैसे ढाँचे में वर्गीकृत किया जो कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी प्रचलित है। इस अधिनियम ने विदेश मन्त्री के निर्देशन के अधीन एक समन्वित सेवा की व्यवस्था की। अब सेवीवर्ग का प्रबन्ध पुन शक्तिकालीन व्यवस्था जैसा हो गया।

हूवर कमीशन की सिफारिशें 1949 1949 में प्रस्तुत हूवर कमीशन के प्रतिवेदन में सर्वाधिक विवादपूर्ण सिफारिश विदेश सेवा से सम्बन्धित थी। इसकी मुख्य सिफारिश यह थी कि कुछ स्तरों से ऊपर की विदेश सेवा और विदेश विभाग से सेवीवर्ग को कुछ वर्षों में एक विदेश कार्य सेवा (Foreign Affairs Service) के रूप में सयुक्त कर दिया जाए। यह समुद्र पार एवं देश में सेवाएँ प्रदान करे। प्रतिवेदन में यह कहा गया कि दोनों को पृथक् रखने से नागरिक सेवा और विदेश सेवा के बीच ईर्ष्या और असमानता की भावना उत्पन्न होती है तथा एक ही समस्या के लिए दो प्रशासनों की आवश्यकता होती है। इसमें कहा गया कि विदेश सेवा के अधिकारी दीर्घकाल तक विदेशों में रहने के कारण देश से अपना सम्बन्ध खो देते हैं। दूसरी ओर विभागीय अधिकारी अन्य राष्ट्रों से कम सम्बन्ध और उसकी कम जानकारी रखते हैं।

हूवर कमीशन के मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित थे—(i) नवीन विदेश कार्य के सभी सदस्य घर और बाहर सेवा करने के लिए बाध्य होने चाहिए। (ii) यद्यपि एकीकरण कानून द्वारा कर दिया जाए तथापि इसकी क्रियान्विति कई वर्षों में होनी चाहिए। (iii) कुछ श्रेणियों को छोड़कर अन्य सभी सेवीवर्ग को नई एकीकृत सेवा में सम्मिलित किया जाना चाहिए। (iv) जो अधिकारी विदेश विभाग से ऐसी सेवा में न आना चाहें उन्हें सरकार की दूसरी इकाइयों में परिवर्तित कर दिया जाए और जो आना चाहे वे प्रार्थना पत्र तथा मौखिक परीक्षा में शामिल हों। (v) एकीकृत सेवा निवृत्ति अधिकार सभी दृष्टियों से एक समान होंगे। (vi) युवक अधिकारियों पर सेवा के प्रथम 15 वर्षों में अधिक दायित्व डाले जाने चाहिए। (vii) एकीकृत सेवा स्वशासित नहीं होनी चाहिए वरन यह विदेश मन्त्री के निर्देशन और निरीक्षण के अधीन रहनी चाहिए।

ब्रिस्टन समिति का प्रतिवेदन हूवर कमीशन की सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका और इसलिए विदेश मन्त्री जॉन फॉस्टर डलेस ने 1954 में सेवीवर्ग के सम्बन्ध में एक सरकारी समिति नियुक्त की। इस समिति का अध्यक्ष हेनरी ब्रिस्टन को

नियुक्त किया गया। 18 मई 1954 को समिति ने एक सुदृढ़ विदेश सेवा की स्थापना की सिफारिश की गई को प्रस्तुत किया। इसकी मुख्य सिफारिश यह थी कि विदेश सेवा का एकीकरण दो वर्ष के अन्दर किया जाए। विदेश मन्त्री डलेस ने इसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें क्रियान्वित करने का निर्देश दे दिया। सन् 1954 से 56 तक एकीकरण के प्रयत्न किए गए। इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं किन्तु विदेश सेवा मे नए रक्त के आगमन से पर्याप्त लाभ भी हुआ। अमेरिकी कांग्रेस ने 1954-55, 1955 और 1960 के संशोधनों द्वारा 1946 के अधिनियम में आवश्यक और दीर्घकालीन परिवर्तन किए हैं और अमेरिकी विदेश सेवा का वर्तमान स्वरूप इसी संशोधित अधिनियम पर आधारित है।

अमेरिकी विदेश सेवा की वर्तमान स्थिति
(The American Foreign Service Today)

अमेरिकी विदेश सेवा के शीर्ष पर विदेश सचिव या विदेश मन्त्री और राजदूत होते हैं। इनके नीचे अमेरिकी विदेश सेवा की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ हैं—विदेश सेवा अधिकारी (F.S.O.) विदेश सेवा आरक्षित अधिकारी (F.S.R.) और विदेश सेवा स्टॉफ अधिकारी तथा कर्मचारी (F.S.S.O. तथा F.S.S.) विदेश सेवा स्थानीय कर्मचारियों (F.S.L.E.) के रूप में भी भारी संख्या में कर्मचारी कार्य करते हैं जो विदेशों में स्थित विदेश सेवा पदाधिकारियों की सहायता करते हैं।

राजदूत और मन्त्री (Ambassadors and Ministers)

राजदूत या मन्त्री परिग्रहण राज्य की राजधानी में मिशन के मुखिया का कार्य करते हैं। वे अपने स्टॉफ के सदस्यों को व्यक्तिगत निर्देश देने के लिए उत्तरदायी होते हैं। ये राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। लेकिन इनकी पुष्टि सीनेट द्वारा किया जाना आवश्यक है। इनका प्रशिक्षित राजनयज्ञ होना अनिवार्य नहीं है और इसलिए इनका चयन आवश्यक रूप से अधीन विदेश सेवा से नहीं किया जाता। इनकी नियुक्ति में राष्ट्रपति को पर्याप्त स्वेच्छा का अधिकार रहता है। आजकल प्रायः व्यावसायिक सेवा के व्यक्तियों को राजदूत या मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है। समय समय पर राजनीतिक नियुक्तियाँ भी होती हैं। आजकल विदेशों में प्रायः सभी अमेरिकी मिशन राजदूत स्तर के हैं।

विदेश सेवा अधिकारी (Foreign Service Officers)

यह विदेश सेवा का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। मुख्य रूप से मिशनों के अधिकांश महत्त्वपूर्ण कार्य इन अधिकारियों द्वारा सम्पादित होते हैं। ये एक समूह के रूप में मिशन के अध्यक्ष राजदूत या मन्त्री का स्टॉफ होते हैं। इनकी नियुक्ति सीनेट के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है किन्तु इसमें राष्ट्रपति को स्वेच्छा का अधिकार नहीं है क्योंकि इनकी नियुक्ति का आधार लिखित और मौखिक परीक्षाएँ होती हैं। इन अधिकारियों के पद का नाम राजदूतावास, लीगेशन, दूतावास और विदेश मिशन में भिन्न भिन्न हो जाता है। विदेश मिशन में नियुक्त अधिकारी 'विदेश सेवा अधिकारी' के नाम से जाना जाता है।

विदेश सेवा के स्थायी अधिकारी सम्भवतः राजनीतिक एवं आर्थिक दूतावास दोनों [illegible]

के प्रमुख के अधीन सर्वोच्च स्थान होता है तथा श्रेणी के अनुसार उनको प्रथम द्वितीय या तृतीय स्तर का सचिव कहा जाता है। कुछ बड़े राजदूतावासों में मिशन के प्रमुख की सहायतार्थ दूतावास का मंत्री एवं मन्त्री पार्षद होता है। वाणिज्य दूतावास कार्यालयों में अधिकारियों का पदसोपान इस प्रकार होता है महावाणिज्य दूत वाणिज्य दूत एवं उपवाणिज्य दूत। ये नाम पदाधिकारी के काम की अपेक्षा उसकी श्रेणी के सूचक अधिक हैं।

सन् 1946 के अधिनियम द्वारा विदेश सेवा के अधिकारियों को 7 श्रेणियों में रखा गया। बाद में इसमें तीन श्रेणियाँ और बढ़ा दी गईं। इन अधिकारियों के आठ वर्ग (Classes) हैं। पदोन्नतियाँ योग्यता के आधार पर की जाती हैं। यदि एक अधिकारी निश्चित काल में पदोन्नत नहीं हो पाता तो वह स्वतः ही सेवानिवृत्त हो जाता है। विदेश सेवा अधिकारी आवश्यकतानुसार जहाँ भेजे जाते हैं वहीं सेवा करते हैं। इसका वाणिज्य दूतावास राजनयिक मिशन तथा विदेश विभाग में अदल बदल कर उपयोग किया जाता है। कभी कभी उन्हें राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम कृषि विज्ञान या अन्य सम्मेलनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों या संयुक्तराज्य अभिकरणों का काम सौंपा जाता है। उन्हें विचार विमर्श या प्रशिक्षण के लिए किसी भी सरकारी अभिकरण में नियुक्त किया जा सकता है। वे साधारणतः कुछ वर्षों बाद एक पद से दूसरे पद पर स्थानान्तरित होते रहते हैं। कानून के अनुसार प्रत्येक विदेश सेवा अधिकारी को उसकी सेवा के प्रथम 15 वर्षों में कम से कम 4 वर्ष देश में कार्य करना होगा।

विदेश सेवा आरक्षित अधिकारी
(Foreign Service Reserve Officer)

इसकी स्थापना 1946 के अधिनियम द्वारा मुख्यतः आवश्यक योग्यतापूर्ण विशेषज्ञों की अस्थायी भर्ती के लिए की गई थी। अगस्त 1968 से आरक्षित अधिकारियों को 10 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाने लगा तथा इसके बाद कम से कम एक वर्ष के लिए सेवा से हटाकर उन्हें पुनः 10 वर्ष के लिए नियुक्त किया जा सकता था। इन अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा न होकर विदेश मन्त्री द्वारा की जाती है। इन्हें विभागीय अध्यक्ष की स्वीकृति के बाद किसी भी सरकारी अभिकरण अथवा गैर सरकारी क्षेत्र से लिया जा सकता है। यह आशा की जाती है कि इस तरह से केवल विशेष प्रकृति के और असाधारण योग्यता वाले लोग आरक्षी अधिकारी द्वितीय विश्वयुद्ध काल में नियुक्त किए जाने वाले विदेश सेवा सहयोगी (Auxiliary) की भाँति हैं।

विदेश सेवा आरक्षी अधिकारियों की नियुक्ति विदेश सेवा की एक मूल श्रेणी के लिए की जाती है। नियुक्ति के समय उनकी उम्र योग्यता और अनुभव का ध्यान रखा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार परिवर्तित परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए बाहर से विशेषज्ञों को लिया जा सकता है। ये अधिकारी विदेश सेवा में स्थायी स्तर प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु पद पर रहते हुए विदेश सेवा अधिकारियों के समान वेतन भत्ते विशेषाधिकार तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। यदि विदेश मन्त्री यह अनुभव करे कि एक आरक्षी अधिकारी को राजनयिक या वाणिज्य दूतावास के स्तर पर कार्य करना चाहिए तो वह इसके लिए राष्ट्रपति से प्रार्थना करेगा और राष्ट्रपति सीनेट की सहमति से ऐसी स्वीकृति प्रदान

कर सकेगा। इन आरक्षी अधिकारियों को उनकी विशेषीकृत तैयारी के कारण साधार
सहचारी के रूप में रखा जा सकता है और ये प्रायः राजनीतिक आर्थिक सांस्कृति
श्रमिक खनिज सूचना या अन्य ऐसे ही विषयों से सम्बन्धित रहते हैं।

विदेश सेवा स्टाफ तथा अन्य कर्मचारी
(Foreign Service Staff and Other Employees)

विदेश सेवा स्टाफ अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों में वे सभी अमेरिकी सेवी
सम्मिलित हैं जिनका ऊपर उल्लेख नहीं किया गया है। ये मुख्यतः प्रशासनिक वित्तीय
एवं लिपिक वर्ग के कर्मचारी होते हैं। इनकी नियुक्ति किसी विशेष परीक्षा के बिना वि
मन्त्री द्वारा की जाती है। इनकी नियुक्ति निष्पक्ष नागरिक सेवा की नियुक्तियों की भ
उम्र योग्यता और अनुभव के अनुसार की जाती है। इस स्टाफ में 22 से भी अधिक श्रेणि
के कर्मचारी होते हैं। इनका कार्य और पदोन्नति इसके अनुभव तथा योग्यता पर नि
होती है। विदेश सेवा कर्मचारियों के अतिरिक्त विदेश मन्त्री की स्वीकृति से समुद्र पार
देशों में कुछ विदेशी लिपिक तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त कर दिए जाते हैं। ये प्रायः लिपि
स्टेनोग्राफर, पत्रवाहक अनुवादक टंकणकर्ता टेलीफोन ऑपरेटर माली आदि होते

वाणिज्य दूतावास के अभिकर्ता (Consular Agents)

प्राचीनकाल में एक वाणिज्य दूतावास के अधीन अनेक बन्दरगाह रहते थे जहाँ अमेरि
जहाजों का आवागमन रहता था। ऐसी स्थिति में वाणिज्य दूत को दूसरे बन्दरगाहों के लि
अभिकर्ता नियुक्त करने पड़ते थे। नियुक्ति के समय अमेरिकियों को प्राथमिकता दी जा
थी। इनकी संख्या क्रमशः बढ़ती घटती रही है। सन् 1946 के अधिनियम में इन अभिकर्ता
की नियुक्ति का उल्लेख था किन्तु उनके कर्तव्यों का उल्लेख नहीं था। आजकल
अभिकर्ता एक अमेरिकी या विदेशी व्यापारी होता है जो प्रायः व्यस्त बन्दरगाह में रहता
जहाँ नियमित वाणिज्य दूत नियुक्त नहीं किए जा सकते। उसका प्रमुख कार्य निर्दे
वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों की सहायता और सहयोग करना है।

विदेश सेवा स्थानीय कर्मचारी
(Foreign Service Local Employees)

प्रारम्भ में यह परम्परा थी कि विदेशियों को प्रमुख वाणिज्य दूत अधिकारी द्वारा लिपि
के रूप में नियुक्त किया जा सकता था किन्तु कानूनी रूप से ऐसे कर्मचारी व्यवस्था त
अन्य छोटे मोटे कार्यों के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध तक इन
राजदूतावास और वाणिज्य दूतावास में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर लगाया गया था। स
1946 के अधिनियम में ऐसे विदेशियों की नियुक्ति की व्यवस्था थी। इस श्रेणी के कर्मच
स्थानीय कहलाते हैं। ये अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करते हैं। इन स्थानीय कर्मचारि
की उपयोगिता यह होती है कि ये स्थानीय रीति रिवाजों परिस्थितियों तथा जनता
परिचित रहते हैं। इनसे अमेरिकी राजनयज्ञों का कार्य सुविधाजनक बन जाता है। यह स
है कि कोई पदाधिकारी इन स्थानीयों की सहायता के बिना ठीक प्रकार से कार्य नहीं क
सकता किन्तु इनको ऐसे कार्यों में नहीं लगाया जाता जिनसे अमेरिका की सुरक्षा खतरे
पड़ सके। उनको महत्वपूर्ण कागजात नहीं सौंपे जाते। इन कर्मचारियों का वेतन सम्बन्धि

श के जीवन स्तर के अनुसार निर्धारित किया जाता है। सामान्यतः इनको वहाँ के मापदण्ड
से अधिक ही वेतन दिया जाता है। उनको पेंशन दी जाती है तथा अनेक देशों में उनको
चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ दी जाती हैं।

अमेरिकी विदेश सेवा का मूल्यांकन
(An Evaluation of the American Foreign Service)

संयुक्तराज्य की विदेश सेवा दूसरे राज्यों के साथ उसके मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के निर्वाह में योगदान करती है। यद्यपि अमेरिकी नीतियों और उद्देश्यों का महत्व है तथापि इस देश के प्रतिनिधियों के चरित्र का भी उल्लेखनीय प्रभाव होता है। विदेश सेवा के महत्व को देखते हुए समय समय पर इसका अध्ययन करना अनिवार्य है ताकि इसके दोषों का निराकरण किया जा सके। सन् 1946 के विदेश सेवा अधिनियम द्वारा अनेक प्रकार से विदेश सेवा का पुनर्गठन हुआ। इसके अनुभव पर आधारित नवीनताओं को लागू किया गया किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अब विदेश सेवा पूर्णतः दोषमुक्त हो चुकी है। आज भी इसमें अनेक दोष हैं जिनमें से कुछ का दायित्व विदेश सेवा पर है। उदाहरण के लिए कुछ राजदूतों का गलत आचरण विदेश सेवा का दोष नहीं कहा जा सकता जबकि ये आजीवन राजनयज्ञ नहीं है। राजदूत पदों पर राजनीतिक नियुक्तियों की यही कीमत चुकानी पड़ती है। देश की विदेश नीति को क्रियान्वित करने का दायित्व कांग्रेस, राष्ट्रपति और जनता पर ही डाला जा सकता है जिसके विनियोग के अभाव मे ऐसा हुआ। विदेश विभाग भी आरोप मुक्त नहीं रह सकता क्योंकि यह आन्तरिक विभागीय मामलों में उलझा रहता है। स्वयं विदेश सेवा भी दोषमुक्त नहीं है क्योंकि इसने हमेशा अवसरों का पूरा लाभ नहीं उठाया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में विदेश सेवा अपने कार्य के लिए अपर्याप्त पाई गई। इसने अपनी समस्याओं का मुकाबला करने के लिए कोई तैयारी नहीं की। वर्तमान मे परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं तथा इस परिवर्तित विश्व के दायित्वों को पूरा करने के लिए विदेश सेवा की सामाजिक पुनरीक्षा अनिवार्य है। हूवर कमीशन, बिस्टन समिति एवं सीनेट की विदेश सम्बन्धों की समिति के सुझावों के आधार पर इसे सुधारा जा सकता है। स्वयं विदेश सेवा को भी समय समय पर अपना आत्म निरीक्षण एवं मूल्यांकन करते रहना चाहिए।

विदेश सेवा की मन स्थिति विदेश सेवा के विरुद्ध एक मुख्य आलोचना यह की जाती है इसकी मन स्थिति रूढ़िवादी एवं परम्परावादी होती है। नवागन्तुक अधिकारी को शीघ्र ही यह ज्ञात हो जाता है कि सेवा में उसका प्रवेश कोई साहसिक या रोमान्टिक कार्य के लिए नहीं हुआ। उसका अधिकांश समय औपचारिकतापूर्ण कार्यों मे ही व्यतीत हो जाता है। छोटे स्थानों पर अधिकांश कागजी कार्यवाहियाँ आजीवन अधिकारी द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। बड़े मिशनों मे कागजी कार्य युवा सदस्यों द्वारा किये जाते हैं। बड़े अधिकारियों का अधिकाँश समय स्वयं को घटनाओं से सूचित रखने मे ही व्यतीत हो जाता है। इन कार्यों मे उसकी कल्पनात्मक शक्ति एवं पहल की प्रतिभा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अपने सीमित और कृत्रिम वातावरण मे कार्य करता हुआ वह शीघ्र ही एक विशेष मन स्थिति का बन जाता है। उस पर सेवा का मनोविज्ञान छा जाता है।

पदोन्नति की दृष्टि से विदेश सेवा के सदस्य को एक विशेष मनःस्थिति अपनानी पड़ती है। पदोन्नति तभी होती है जबकि कोई कर्मचारी लम्बे समय तक सेवा में रहे और कठिनाई से बचता रहे। विदेश सेवा में कठिनाई से बचने का अर्थ यह है कि कोई कर्मचारी किसी प्रश्न पर ऐसा दृष्टिकोण न अपनाए कि उसे वरिष्ठ अधिकारी द्वारा निरस्त कर दिया जाए। क्षेत्र में कनिष्ठ अधिकारियों की कार्यकुशलता प्रतिवेदन पर वरिष्ठ अधिकारी के हस्ताक्षर होते हैं। ये प्रतिवेदन व्यावसायिक सुरक्षा और पदोन्नति की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। अतः युवक अधिकारी शीघ्र ही यह जान जाता है कि उसे या तो अपनी सेवा स्थायी करानी चाहिए या छोड़ देनी चाहिए। समय गुजरने के साथ कर्मचारी पूरी तरह से सिद्धान्तवादी बन जाता है और अपनी पहल तथा कार्य करने की शक्ति को खो देता है।

स्पष्ट है कि विदेश सेवा आवश्यक रूप से व्यावसायिक प्रतिभा को प्रोत्साहित करती है। इसका स्तर और मूल्य बनाए रखने के लिए कुछ मापदण्ड स्थापित किए जाते हैं। इनमें अनुशासन, एकरूपता और पूर्ण निष्ठा के सिद्धांत शामिल हैं। दीर्घकाल में या तो व्यक्तिगत अधिकारी को उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा वह सक्रिय और प्रगतिशील सदस्य नहीं रह जायेगा। ऐसे मापदण्डों के बिना विदेश सेवा बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं रह सकेगी। इस प्रकार एक प्रभावशाली विदेश सेवा की रचना करना, जो सर्वोत्तम व्यावसायिक सेवा के गुणों से युक्त हो, एक गम्भीर समस्या है। वरिष्ठ पदों के कर्मचारी कुछ समय तक पुराने आजीवन अधिकारियों के अधीन रहते हैं फलतः वे विदेश सेवा के भावी रूप को प्रभावित करते हैं।

सेवीवर्ग का द्वैतवाद या एकीकरण : द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अनेक सरकारी अभिकरणों ने अपने प्रतिनिधि समुद्र पार के देशों में भेजे और उनमें से अधिकांश ने अपना कार्य अत्यन्त कुशलता के साथ निर्वाह किया है। इससे यह प्रश्न उठा कि विदेश-सेवा जैसी आजीवन की आज क्या आवश्यकता है? कुछ आलोचकों ने यह मत प्रकट किया कि विदेश सेवा को विदेश-मन्त्रालय से संयुक्त कर देना चाहिए तथा वाशिंगटन और समुद्र पार के कार्यालयों के कर्मचारियों के बीच पूर्ण अदला बदली की व्यवस्था होनी चाहिए तथा समस्त सेवीवर्ग पर एक जैसे नागरिक सेवा नियम लागू होने चाहिए। दूसरी ओर एक अन्य विचार यह व्यक्त किया गया कि आजीवन सेवा (Career Service) पूरी तरह से समृद्ध तथा प्रतिभाशाली है उसे छोड़ना नहीं चाहिए। जब हूवर आयोग तथा विस्टन समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तो इस प्रश्न पर भी विचार हुआ। उनका मत था कि एक मिली जुली सेवा प्राप्त करने के लिए दोनों सेवीवर्ग सेवाओं का एकीकरण कर देना चाहिए।

सेवीवर्ग के एकीकरण के सम्बन्ध में अलग अलग विचार व्यक्त किए जाते हैं। इसके विरुद्ध एक मुख्य आलोचना यह की जाती है कि जिन विदेश सेवा अधिकारियों को विदेश सेवा में लिया जाएगा वे पुनः क्षेत्र में भेजे जाने तक के समय को जैसे तैसे निकालने का प्रयास करेंगे। उनका ध्यान हमेशा इस बात पर रहेगा कि उन्हें अगले कार्य के लिए कहाँ भेजा जाएगा। दूसरी ओर विदेश विभाग अनेक योग्य विशेषज्ञों से वंचित हो जाएगा। इनमें से कुछ लोग विदेश जाने की अपेक्षा त्यागपत्र दे देंगे और जो विदेश चले भी जायेंगे वे विदेशी भाषा एवं अन्य योग्यताओं के अभाव में कठिनाई अनुभव करेंगे। दूसरी ओर विदेशों में रहने का अनुभव प्राप्त करने वाले अधिकारी देश में रहकर कार्य करने में कठिनाई अनुभव

करेंगे क्योंकि उन्हें यहाँ के उत्तरदायित्वों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होगा। एक अन्य शिकायत यह की जाती है कि इन दोनों प्रकार की सेवाओं के एकीकरण से दोनों ही हतोत्साहित हो जाती हैं। सुप्रशिक्षित विदेश सेवा अधिकारियों को विदेश विभाग में अपना नया दायित्व अरुचिकर प्रतीत होता है। दूसरी ओर विदेश विभाग के स्टाफ विशेषज्ञ अधिकारियों को पदोन्नति के लिए ऐसे अधिकारियों से स्पर्द्धा करनी होती है जो भाषाओं और राजनयिक कार्यों में पूर्ण रूप से प्रशिक्षित होते हैं। ऐसी स्थिति में सेवाओं के एकीकरण का कार्य समस्यापूर्ण बन जाता है। यह क्रमशः धीरे धीरे किया जाना चाहिए।

अधिकारियों का विशेषीकरण विदेशी सेवा की एक अन्य मुख्य समस्या सेवीवर्ग का विशेषीकरण है। युवा अधिकारियों को राजनयिक तथा वाणिज्य दूतावास के कार्यों में लगाने से तथा स्थानान्तरण होते रहने से उन्हें अधिक भौगोलिक विशेषीकरण प्राप्त नहीं हो पाता। यह सच है कि कुछ क्षेत्रों में भेजे गए उच्चस्तरीय अधिकारियों को उस क्षेत्र का पूर्व अनुभव होता है किन्तु समस्त सेवा में यह बात दिखाई नहीं देती। एक अधिकारी प्रारम्भ में यदि चीन भेजा जाता है फिर उसे लेटिन अमेरिका जर्मनी और अफ्रीका भेज दिया जाता है तो उसे किसी भी क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त नहीं हो पाती। वह कहीं की भी परिस्थितियों के साथ उचित सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमेरिकी विदेश सेवा के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हैं।

भारतीय विदेश सेवा और विदेश कार्यालय
(Indian Foreign Service and Foreign Office)

भारतीय विदेश सेवा और भारतीय राजनय

भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नया राष्ट्र नहीं था। जैसा कि डॉ. पुष्पेश पन्त ने लिखा है अनेक देशों के साथ भारत सांस्कृतिक व्यापारिक सम्बन्धों का इतिहास सैकड़ों वर्ष पुराना है। औपनिवेशिक दासता के काल में इस परम्परा में व्यवधान पड़ गया था पर ब्रिटानिया शासनाधीन भारत में भी औपनिवेशिक भारतीय राजनय स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न हो रहा था। कुछ चुने हुए देशों उपनिवेशों के साथ भारत के राजनयिक सम्बन्ध थे तथा भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेता रहा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने इन औपनिवेशिक नातों को तोड़ा नहीं बल्कि यह कोशिश की कि उन्हें नए साँचे में ढाला जाए। सन् 1946 में अन्तरिम सरकार के शासनकाल में केवल 7 भारतीय राजनयिक विदेशों में थे जबकि आज इनकी संख्या सैकड़ों में है। भारतीय सरकार को यह पता लगने लगा था कि राजनयिक दायित्व अत्यन्त जटिल है। सभी जगह राजदूतों की नियुक्ति सम्भव नहीं थी। फिर राजनयिक कर्म अनेक स्तर पर सम्पन्न होता है जिसके लिए विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। भारतीय विदेश नीति को कर्म में कार्यान्वित करने के लिए एक पेशेवर भारतीय विदेश सेवा का संगठन जरूरी हो गया था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय विदेश सेवा का गठन कैसे किया जाए यह एक विकट समस्या थी पर शीघ्र ही इस समस्या को हल कर लिया गया। यह निश्चय किया गया कि विदेश सेवा में प्रवेश परीक्षा द्वारा ही नियुक्ति की जाए लेकिन प्रारम्भ में बड़ी उम्र के कुछ अभ्यार्थी भी लिए जाएँ। इनमें से कुछ सैनिक सेवाओं से और कुछ अन्य व्यवसायों से लिए

गए और भारतीय विदेश सेवा के गठन और विस्तार का सिलसिला चल पडा। भारतीय विदेश सेवा के लिए सेना से लिए गए अधिकारी बहुमूल्य साबित हुए और कुछ अन्य अधिकारियो ने भी अपने चयन की उपयोगिता सिद्ध की। राजदूतों को उचित दिशा निर्देश देने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अत जब मेनन (के पी एस) और आसफअली को क्रमश चीन और अमेरिका मे स्वतन्त्र भारत का पहला राजदूत नियुक्त किया गया तो प्रधानमन्त्री नेहरू ने उनके मार्ग दर्शन के लिए एक लम्बी टिप्पणी लिख भेजी। इसकी कुछ महत्वपूर्ण हिदायते जैसा डॉ पुष्पेश पन्त ने लिखा है इस तरह थी —

"हमारे राजदूत एक महान् देश का प्रतिनिधित्व करेगे और यह सही भी है कि वे और लोगो को इस बात का अहसास कराएँ पर उन्हे यह भी नही भूलना चाहिए कि वे एक गरीब देश का प्रतिनिधित्व करते है जहाँ करोडो लोग भुखमरी के कगार पर खडे रहते है। उन्हे कोई भी काम ऐसा नही करना चाहिए जो इसके विपरीत हो।" उन्होंने भारतीय राजनयिको को यह सलाह भी दी कि वे सर्वथा ही भारतीयो की तरह रहे अंग्रेजों के नकलची न बने।

भारतीय विदेश सेवा के प्रारम्भिक वर्षों मे गरिमा और कौशल की कमी खटकती रही और अनेक राजनयिकों ने अपना गृह कार्य करने के स्थान पर ऐश्वर्य और बेफिक्री का बाना पहन कर अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करनी चाही। समय के साथ विदेश सेवा मे निखार आता गया और अनेक भारतीय राजनयिकों ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। आज विश्व के अधिकाँश देशों मे भारतीय राजदूत नियुक्त है। राष्ट्रमडलीय देशों मे भारतीय उच्चायुक्त नियुक्त हैं। बहुत से देशों मे भारतीय महावाणिज्य दूत और वाणिज्य दूत नियुक्त है। सयुक्त राष्ट्रसघ मे भारत का विशेष प्रतिनिधि नियुक्त है। इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय विदेश सेवा और भारतीय राजनय उस स्तर से भी दूर है जो ब्रिटिश और अमेरिकी विदेश सेवा तथा राजनय का है। भारतीय राजनयिकों की नियुक्ति करते समय सार्वजनिक जीवन के विशिष्ट व्यक्तियों के साथ साथ भारतीय विदेश सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों को इस पद पर नियुक्त किया जाता है। वर्तमान मे विदेश सेवा को सक्षम और गतिशील बनाने के प्रयत्न किये जा रहे है।

भारतीय विदेश मन्त्रालय

भारत की भौगोलिक स्थिति एव विदश नीति के सिद्धात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नियमन और सचालन मे एक विशेष प्रकार की भूमिका निभाते है। भारत का विदेश मन्त्रालय अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्धों का नियमन करने वाली विदेश नीति के निर्माण एव क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है।

विदेश मन्त्रालय का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में 1783 मे विदेश विभाग की स्थापना [redacted] हुआ था। स्वतन्त्रता से पूर्व इसके दो विभाग थे विदेश विभाग और राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध का विभाग। 1947 मे इनको मिलाकर एक मन्त्रालय बना दिया गया। सन् 1948 मे इस मन्त्रालय को सूचना एव प्रसारण मत्रालय से बाह्य प्रचार विषय का हस्तान्तरण भी कर दिया गया। मार्च 1949 में इसके नामकरण में से 'राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध' शब्द निकाल दिया गया और इसका नाम केवल विदेश मन्त्रालय रखा गया।

विदेश मन्त्रालय का सगठन

विदेश मन्त्रालय भारत सरकार का एक विशाल मन्त्रालय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यह मन्त्रालय सदैव ही गवर्नर जनरल की देखरेख मे रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जब तक पण्डित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधानमन्त्री रहे तब तक विदेश मन्त्रालय उन्होंने अपने पास रखा। उसके बाद भी इस मन्त्रालय के प्रधान सदैव कैबिनेट के महत्वपूर्ण सदस्यों मे से रहे। वर्तमान में माधवसिंह सौलकी विदेशमन्त्री हैं। श्री जे एन दीक्षित विदेश सचिव है।

इस मन्त्रालय का प्रधान भारत सरकार की कैबिनेट के स्तर का एक मन्त्री होता है और उसकी सहायता हेतु प्रशासकीय स्तर पर तीन सचिव होते हैं। पहले इन तीनों सचिवों के कार्यों मे समन्वय स्थापित करने के लिए एक महासचिव (सेक्रेटरी जनरल) भी हुआ करता था। यह पद कुछ समय पूर्व मे समाप्त किया गया है। अब तीनों सचिव अपने अपने क्षेत्रों मे सीधे मन्त्री महोदय के पास अपनी अपनी फाइलें सम्प्रेषित करते हैं। विदेश सचिव निम्न सम्भागों (Divisions) के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है (1) अमेरिकन सम्भाग (2) यूरोप सम्भाग (3) चीन सम्भाग (4) पाकिस्तान सम्भाग (5) सयुक्त राष्ट्र तथा सम्मेलन सम्भाग (6) सकटकालीन मामलों का सम्भाग (7) अफ्रेशियन सम्मेलन तथा चालू अनुसन्धान सम्भाग (8) नयाचार सम्भाग (Protocol Division) (9) विदेशी प्रचार सम्भाग।

विदेशी मामलों का प्रथम सचिव (1) दक्षिण सम्भाग (2) उत्तरी सम्भाग (3) परिपत्र तथा वीसा सम्भाग के कार्य की देखभाल करता है।

विदेशी मामलों का द्वितीय सचिव (1) अफ्रीका सम्भाग (2) पश्चिमी अफ्रीका और उत्तरी अफ्रीका सम्भाग (3) प्रशासन सम्भाग (4) आर्थिक सम्भाग (5) ऐतिहासिक सम्भाग और (6) कानूनी एव सधि सभाग के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है।[1]

सचिवों के अलावा अपर सचिव सयुक्त सचिव आदि भी है। विदेश मन्त्रालय का अपना सचिवालय है।

विदेश मन्त्रालय ससार भर में राजनयिक (Diplomatic) तथा कौंसली कार्यालयों (Consular Offices) को कायम रखता है मन्त्रालय मे 85 अनुभाग (Sections) हैं जिनमे 38 तो प्रशासनिक (Administrative) है और 47 प्रादेशिक (Territorial) तथा तकनीकी (Technical) हैं। ये अनुभाग निम्नलिखित 12 सम्भागों मे वर्गीकृत किए गए हैं[2]—

(1) अमेरिकन सम्भाग (American Division) उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के देश और विदेशी सहायता।

(2) यूरोप सम्भाग।

(3) चीन सम्भाग।

(4) दक्षिणी सम्भाग पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण पूर्वी एशिया उत्तरी अफ्रीका सूडान अफगानिस्तान ईरान ब्रह्मा श्रीलका पारपत्र (Ceylon Passport) और दृष्टाक एशियन अफ्रीकन तथा कोलम्बो शक्ति सम्मेलन (Visual Asian African and Columbo Powers Conference)।

1 2 डॉ सी पी भाम्भरी वही पृष्ठ 125

(5) अफ्रीका सम्भाग ब्रिटेन तथा उपनिवेश (Colonies) (उत्तरी तथा दक्षिणी सूडान के अलावा अफ्रीका)।
(6) पाकिस्तान सम्भाग (Pakistan Division)।
(7) नयाचार सम्भाग (Protocol Division) नयाचार कौसली कार्य (Consular Work) तथा देशान्तरवास (Emigration)।
(8) प्रशासन सम्भाग (Administration Division) विदेश स्थित भारतीय मिशनों तथा प्रधान कार्यालयों (Headquarters) के प्रशासन (अर्थात् कर्मचारी वर्ग तथा गृह सम्बन्ध) स्थापना सम्बन्धी मामले (Establishment Matters) बजट तथा लेखे सामान्य प्रशासकीय मामले संसद कार्य।
(9) विदेशी प्रचार सम्भाग।
(10) विदेशी सेवा निरीक्षक वर्ग (Foreign Service Inspectorate) तथा अपहृत व्यक्ति (Abducted Person)।
(11) ऐतिहासिक सम्भाग।
(12) उत्तरी सम्भाग यह सम्भाग उत्तरी सीमा तथा चीन के साथ सम्बन्धों के बारे में व्यवहार करता है।

विदेश मन्त्रालय के अधीनस्थ कार्यालय निम्न प्रकार हैं—
(क) देशान्तरवास संस्थान (Emigration Establishment)।
(ख) उत्तरी पूर्वी सीमान्त एजेन्सी।
(ग) नागा पहाड़ी तुएनसाँग क्षेत्र।
(घ) महानिरीक्षक का कार्यालय (Office of the Inspector General) असम राइफल्स।

विदेश मन्त्रालय का वेलफेयर यूनिट मुख्यालय तथा विदेश स्थित मिशनों में काम करने वाले सभी कर्मचारियों के सामान्य हित कल्याण की देखभाल करता है।

विदेश मन्त्रालय के कार्य[1]

विदेश मन्त्रालय के कार्यों को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—
(1) वैदेशिक मामले।
(2) विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों से सम्बन्ध।
(3) भारत में विदेशी राजनयिक वाणिज्य अधिकारियों एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसकी विशिष्ट संस्थाओं के अधिकारियों से सम्बन्धित मामले।
(4) पासपोर्ट एवं वीसा।
(5) भारत से विदेशों एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों को तथा वहाँ से भारत को अपराधियों का प्रत्यर्पण।
(6) वैदेशिक एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों से राज्य विषयक निवारक निरोध सम्बन्धी मामले।
(7) भारत में विदेशी एवं राष्ट्रमण्डलीय देशों के निवासियों का स्वदेश को पुनरागमन तथा इन देशों से भारतीय नागरिकों के आगमन सम्बन्धी मामले।

1 डॉ अवस्थी एवं महेश्वरी वही पृष्ठ 124 25

(8) भारतीय उत्प्रवासन अधिनियम 1922 के अधीन भारत से समुद्र पारीय देशों को एव वहाँ से भारत को समस्त उत्प्रवासियों का उत्प्रवासन।

(9) सभी वाणिज्य दूतों विषयक कार्य।

(10) शिक्षा मन्त्रालय की सास्कृतिक छात्रवृत्तियों सम्बन्धी योजनाओं के कार्यों एव विदेशों में भारतीय मूल के निवास करने वाले वैयक्तिक छात्रों के लिए भारत मे मेडिकल एव इन्जीनियरिंग महाविद्यालयों मे आरक्षित स्थानों का प्रवेश सम्बन्धी समन्वय कार्य।

(11) विदेशी एव राष्ट्रमण्डलीय देशों के आगन्तुकों एव राजनयिक तथा वाणिज्य दूतों तथा प्रतिनिधियों सम्बन्धी समारोहात्मक कार्य।

(12) पाण्डिचेरी गोआ दमण एव दीव विषयक फ्रास एव पुर्तगाल सम्बन्धी मामले।

(13) हिमालय पर पर्वतारोहण।

(14) सीमा क्षेत्रों मे समन्वय एव विकास कार्य।

(15) सयुक्त राष्ट्रसघ उसके अन्य अग एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन।

(16) भारतीय विदेशी सेवा।

(17) भारतीय विदेशी सेवा शाखा।

(18) बाह्य प्रचार।

(19) राजनीतिक सन्धियाँ।

(20) युद्ध की घोषणा एव समाप्ति विषयक विज्ञप्तियाँ।

(21) विदेशी क्षेत्राधिकार।

(22) खुले समुद्र एव आकाश में किए गए अपराध एव डकैतियाँ। भूमि समुद्र या आकाश में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध किए गए अपराध।

(23) भारत की भूमि सीमा का सीमाँकन।

(24) भारत द्वारा नेपाल सरकार को कोलम्बो योजना के सहयोगी आर्थिक विकास के अधीन प्रदत्त आर्थिक एव प्राविधिक सहायता।

विदेश मन्त्रालय के सगठन एव कार्य का अध्ययन यह बतलाता है कि विदेशों से सम्बन्धित भारत सरकार के जितने भी विषय अथवा कार्य है उन सबका नियमित निर्वाह इसी मन्त्रालय के द्वारा किया जाता है। अन्य देशों से शत्रुता मित्रता अथवा तटस्थता के सम्बन्ध स्थापित करने के निर्णय भी इसी मन्त्रालय मे लिए जाते हैं। इसके दूतावासों को विदेशों मे भारत की ऐसी आखों एव कानों की सज्ञा दी जा सकती है जो दूसरे देशों के सम्बन्ध मे भारत सरकार को समय समय पर आवश्यक सूचनाएँ देते रहते हैं। इसी सूचना के आधार पर भारत सरकार उन देशों से अपने सम्बन्धों में आवश्यक परिवर्तन करती रहती है।[1]

भारतीय राजनय को कुशल और प्रभावी बनाने का मुख्य उत्तरदायित्व भारतीय विदेश मन्त्रालय पर है और यह उचित है कि विदेश मन्त्रालय समय समय पर भारतीय राजदूतों और राजनयिकों का सम्मेलन आयोजित कर उनका मार्गदर्शन करे। भारतीय राजदूतों की

1 पी डी शर्मा बी एम शर्मा एव नीलम ग्रोवर वही पृष्ठ 146

कार्य पद्धति आज भी बहुत-कुछ पुराने ढर्रे पर है। भारतीय राजदूतों का यह कर्तव्य है कि वे विभिन्न देशों की अर्थ-स्थिति का अध्ययन करें और भारत के साथ अपना वाणिज्य बढ़ाने की दिशा में हर जरूरी प्रयत्न करें। भारत को आत्म-निर्भरता दिलाने में भारतीय राजनय एक महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। वह सम्बन्धित देशों के साथ भारत के व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ा सकता है बशर्ते हमारे राजदूत इस दिशा में सक्रिय हों। पिल्लई समिति ने सिफारिश की थी—"भारत के दूसरे देशों में भेजे जाने वाले राजदूतों के चयन एव नियुक्ति के लिए विदेश मन्त्रालय में वर्तमान में कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। प्रशासकीय दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी होगा यदि विदेश मन्त्रालय किसी ऐसे प्रकोष्ठ अथवा शाखा का गठन करे जो राजदूतों के चयन एव उनकी योग्यताओं आदि के विषय में समुचित सूचना आदि एकत्रित कर सकें।"

विदेश प्रचार

विदेश मन्त्रालय का एक मुख्य कार्य 'विदेश प्रचार' है। विदेश प्रचार जितना व्यापक और प्रभावपूर्ण होगा भारतीय राजनयिकों का कार्य भी उतना ही सरल बन सकेगा। विदेश प्रचार राजनय का एक अनिवार्य अग है और इसका मुख्य दायित्व भारतीय विदेश सेवा के प्रतिनिधियों राजनयिकों आदि पर है।

"मन्त्रालय का विदेश प्रचार प्रभाग भारत के विदेश सम्बन्धों से सम्बद्ध समग्र प्रचार कार्य के लिए उत्तरदायी है। यह प्रभाग विदेश स्थित भारतीय मिशनों द्वारा किए जाने वाले प्रेस सास्कृतिक सम्बन्ध प्रचार तथा सास्कृतिक कार्य की देखरेख करने और उसमें ताल-मेल बिठाने के लिए भी जिम्मेदार है। यह प्रभाग विदेश स्थित मिशनों को अपने-अपने प्रत्यायन के देशों में वहाँ की जनता और वहाँ के प्रचार तन्त्र के समक्ष भारत की विदेश नीति के सभी पक्षों को उचित रूप से प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में सहायता देता है और इसके बारे में उन्हें समुचित प्रसार भी उपलब्ध कराता है। उन्हें भारत की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक और सास्कृतिक घटनाओं से भी इस तरह अवगत रखा जाता है जिससे कि विदेशी सरकारों और वहाँ के लोगों की भारत के साथ सम्बन्ध विकसित और विस्तृत करने में दिलचस्पी पैदा हो।"

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदेशिक सम्बन्धों के सचालन में विदेश मत्रालय की अहम् भूमिका है।